संस्कृतविश्वविद्यालय-ग्रन्थमालायाः 120 पुष्पम्

अनुसन्धानसम्पादनप्रविधिः

प्रधानसम्पादकः
प्रो० मुरलीमनोहरपाठकः
कुलपतिः

प्रणेता
महामहोपाध्यायः आचार्यरहसबिहारीद्विवेदी
राष्ट्रपतिसम्मानितः

सम्पादकः
प्रो० रमेशकुमारपाण्डेयः

सहसम्पादकः
प्रो० शिवशङ्करमिश्रः

शोध-प्रकाशनविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली-110016

संस्कृतविश्वविद्यालयग्रन्थमालायाः 120 पुष्पम्

अनुसन्धानसम्पादनप्रविधिः

प्रधानसम्पादकः
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
कुलपतिः

प्रणेता
महामहोपाध्यायः आचार्यरहसबिहारीद्विवेदी
राष्ट्रपतिसम्मानितः

सम्पादकः
प्रो. रमेशकुमारपाण्डेयः

सहसम्पादकः
प्रो. शिवशङ्करमिश्रः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली

प्रकाशकः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
बी-4, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, शहीद जीत सिंह मार्ग,
कटवारिया सराय, नवदेहली-110016

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित

प्रथमं संस्करणम् : 2023

ISBN : 81-87987-96-0

मूल्यम् : ₹ 500.00

मुद्रकः
डी.वी. प्रिन्टर्स
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007

प्ररोचना

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय अपने स्थापना-काल से ही संस्कृत विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए ग्रन्थों के प्रकाशन में संलग्न है। इस प्रकाशन शृंखला के अन्तर्गत मौलिक ग्रन्थों के प्रकाशन के साथ-साथ अनेक नवीन व्याख्या ग्रन्थों एवं शोधात्मक ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया गया है, जो विद्वत्समाज में अत्यन्त समादृत हैं। इसी क्रम में विश्वविद्यालय के विद्यावारिधि पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अनुसन्धान कार्य में संलग्न शोधछात्रों के मार्गदर्शन हेतु **'अनुसन्धान-सम्पादन-प्रविधिः'** नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। यह ग्रन्थ जैसा कि शीर्षक से प्रतीत हो रहा है- अनुसन्धान और सम्पादन की पद्धति पर प्रकाश डालने वाला है। जहाँ अनुसन्धान नवीन ज्ञान का उन्मेष करता है या पुरातन ज्ञान की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करता है वहीं सम्पादन सदैव पाण्डुग्रन्थों या पुरातन ग्रन्थों को संस्कारित करने का कार्य करता है। अतः उक्त कार्यों की सफलता हेतु इनकी मानक पद्धतियों का ज्ञान अपेक्षित होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।

श्रीमद्भगवद्गीता-१६/२३

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक राष्ट्रपति सम्मानित, प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी जी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जो कारयित्री एवं भावयित्री उभयविध प्रतिभा के धनी आचार्य होने के साथ-साथ अनुसन्धान एवं सम्पादन की सर्वग्राह्य विधाओं में पूर्ण निष्णात हैं। उन्होंने अनेक

छात्र-छात्राओं के मार्गदर्शन के साथ-साथ अनेक ग्रन्थों का प्रणयन एवं प्रकाशन किया है। उनके अनुभवजन्य ज्ञान से परिपूर्ण यह ग्रन्थ सभी जिज्ञासु छात्रों एवं अध्यापकों के लिए परम उपादेय होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन में शोध एवं प्रकाशन विभाग का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अतः शोधप्रकाशन विभाग के सभी अधिकारी एवं कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-११००१६

सम्पादकीय

भारतीय ज्ञान परम्परा अपनी विशेषताओं के कारण सम्पूर्ण विश्व में समादृत है। मानव जीवन के पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि का मार्ग ज्ञान के सोपान से ही आगे बढ़ता है। ज्ञान के महत्त्व को **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'** जैसे वाक्य से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। मानव अपने जीवन के चरम लक्ष्य को ज्ञान के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अतः इसे सर्वोत्कृष्ट स्थान पर रखा गया है। ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा परब्रह्म कहा गया है। गुरु की कृपा से ही **'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय'** जैसी औपनिषिदिक प्रार्थनाओं की सिद्धि होती है।

प्राचीन काल में गुरुकुलों में अध्ययन, अध्यापन एवं शोधकार्यों की जो पद्धति थी वह प्रमाणपत्राधारित नहीं थी, अपितु ज्ञानार्जन ही मुख्य लक्ष्य था। किन्तु आजकल विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा प्रमाणपत्राधारित होने के साथ-साथ निर्धारित पाठ्यक्रम एवं अध्ययन पद्धतियों के माध्यम से छात्रों को प्रदान की जाती है। इसी क्रम में संस्कृत विश्वविद्यालयों में शोधोपाधि हेतु विद्यावारिधि-पाठ्यक्रम में प्रवेश लेने वाले छात्रों के लिए उपकारी मार्गदर्शन को ध्यान में रखते हुए शोधपद्धति के प्रमुख विषयों को स्पष्ट करने वाले इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तीन अधिकरण हैं, प्रथम अधिकरण में अनुसन्धान सम्बद्ध विषय, द्वितीय अधिकरण में संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन को सुगम बनाने वाले विभिन्न विषय तथा तृतीय अधिकरण में पाण्डुलिपि विज्ञान से सम्बद्ध विषय निरूपित हैं। इसके अतिरिक्त शोधच्छात्रों के अध्ययन को परिपुष्ट करने के अन्य आवश्यक विषयों को विभिन्न

परिशिष्टों के माध्यम से निबद्ध किया गया है। मेरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ सभी शोधार्थियों के लिए परम उपादेय है।

ग्रन्थकर्ता राष्ट्रपति-सम्मानप्राप्त महामहोपाध्याय प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी अनेक मौलिक ग्रन्थों के कुशल प्रणेता, विदग्ध समीक्षक एवं यशस्वी आचार्य हैं, जिन्होंने अनेक विद्यावारिधि के छात्रों का मार्गदर्शन किया है। मैं आचार्य द्विवेदी को अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और परमपिता परमेश्वर के चरणों में उनके उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना करता हूँ।

प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय

आमुख

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय का शोध विभाग जहाँ एक ओर उत्कृष्ट मौलिक ग्रन्थों, शोधात्मक प्रबन्धों एवं पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन पर बल देता है वहीं दूसरी ओर विश्वविद्यालय के विद्यावारिधि पाठ्यक्रम में प्रविष्ट शोधच्छात्रों को भी गुणवत्तापूर्ण शोधकार्य सम्पन्न करने हेतु प्रशिक्षित करता है। परम्परागत महाविद्यालयों से अधीती छात्र विषयगत पाण्डित्य से परिपूर्ण होते हुए भी शोध-पद्धति के आधुनिक स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं तथा पाण्डुलिपियों के सम्पादन की कला से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों के अभाव के कारण उस ज्ञान से भी वंचित रह जाते हैं। ऐसे छात्रों की शोधात्मक दृष्टि के विकास हेतु अनेक कार्य शोधविभाग द्वारा अनुष्ठित होते हैं। ऐसे अनुष्ठानों के कुशल सम्पादन के लिए अनुसन्धान-सम्पादनप्रविधिः नामक यह ग्रन्थरत्न आप सभी सुधीजनों के कर कमलों में प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

अपनी विषयगत विविधता एवं सर्वमान्य अद्यतन शोधपद्धति-निरूपण-कुशलता के कारण यह ग्रन्थ अद्वितीय है। सर्वविदित तथ्य है कि संस्कृत के छात्रों को अपना शोधप्रबन्ध प्रायः संस्कृत भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करना होता है। अतः यह ग्रन्थ भी ललित संस्कृत भाषा में संदृब्ध है। हिन्दी माध्यम के छात्र इस ग्रन्थ के विषयगत वैशिष्ट्य से वंचित न रह जाएँ इसलिए प्रतिपाद्य विषय को संस्कृत में निरूपित करने के पश्चात् हिन्दी भाषा में भी समझाया गया है। सौभाग्य से यह कार्य भी ग्रन्थ के प्रणेता द्वारा ही सम्पन्न किया गया है, जिससे किसी भी प्रकार के तात्पर्य परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है। अपने प्रतिपादन में विद्वान् लेखक ने अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्दर्भो का भी

उद्धरण प्रस्तुत किया है तथा पूर्ववर्त्ती आचार्यों के साथ-साथ स्वयं के ग्रन्थों से भी उद्धरण दिया है। परिणामतः यह ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए जितना उपयोगी है उतना ही शोध मार्गनिर्देशकों के लिए भी है।

माननीय कुलपति प्रो. मुरली मनोहर पाठक जी के प्रति शोधविभागाध्यक्ष एवं सह-सम्पादक के रूप में मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ और अपनी अधमर्णता व्यक्त करता हूँ, क्योंकि कार्यालयीय कार्य विपुलता में व्यस्त होते हुए भी कुलपति जी ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ा और इस ग्रन्थ की प्ररोचना लिखी।

माननीय पूर्वकुलपति और इस ग्रन्थ के सम्पादक प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी के प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार निवेदित करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के सम्पादन में रुचि दिखायी और अपने अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधनों से इस ग्रन्थ के गौरव वृद्धि में योगदान दिया।

ग्रन्थ के प्रणेता प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी जी विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न आचार्य हैं, जो पारम्परिक पद्धति एवं आधुनिक पद्धति के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। स्वास्थ्य प्रतिकूल होने पर भी छात्रों के उपकारार्थ इस ग्रन्थ के प्रणयन का कार्य सम्पन्न किया। मैं उनके इस प्रयत्न के लिए नतमस्तक हूँ। ग्रन्थ के मुद्रक डी.वी. प्रिन्टर्स, दिल्ली को इस मनोरम मुद्रण के लिए धन्यवाद देता हूँ।

पूर्ण प्रयत्न करने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह सकती हैं। अतः पाठकों से निवेदन है कि यथावश्यक संशोधन करने का कष्ट करेंगे।

प्रो. शिवशङ्कर मिश्र

शोधविभागाध्यक्ष

प्राक्कथनम्

भारतीया ऋर्षिचर्या

भारतीयेन ऋषिचर्याज्योतिषा साक्षात्कृतं परिवर्धितं परिरक्षितं परमं ज्ञानदं संस्कृतवाङ्मयं स्वकीयया कल्पान्तरस्थायिन्याऽर्थवत्तयाऽद्यापि विश्वस्मिन् चकास्ति।

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।

एतानि विद्यास्थानानि तपःपूतैर्महर्षिभिः परिवर्द्धितान्यद्यापि प्रासंगिकानि सन्ति। प्राक्तनानां मुनीनां मनीषिणां स्वल्पाक्षरैरसन्दिग्धं सारवत्कृतमनुसन्धानमखण्डनीयं परिवर्द्धनीयं विचारणीयं जगतः कल्याणकारि च वरीवर्ति। क्वचित् शिवस्य ढक्कानादाद्-अच्-हल्-इति प्रत्याहाररूपाण्यक्षराणि, क्वचिद्देहाध्यासगते तपस्विनि वल्मीक्याच्छादिते वपुषि सरस्वत्याशिषा शास्त्राचारसंवलितकाव्यसंचारः, क्वचिदिन्द्रेणनाट्यमंचनसंरक्षणम् एवं रूपेणान्वेषणमकारि। परायां शक्तौ विश्वासः, तस्याः शक्तेः कृपयाऽद्भुतं लोकोपकार्यनुसन्धानं तस्य च स्वान्तः सुखाय सर्वजनहिताय प्रकटीकरणं भारतीयानामृषीणां मुनीनां मनीषिणाञ्च परमं लक्ष्यमासीत्। कस्मिंश्चित्प्रविधौ तथाकथिताद् शासनायोगादिविधानादनियन्त्रिताःसर्वतन्त्रस्वतन्त्रा एते स्वशास्त्रग्रन्थानकार्षुः। एतेषां कर्तृत्वविषये आचार्यो राजशेखरः कथयति-तान्येतानि (शास्त्राणि) कृत्स्नामपि भूर्भुवस्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्तन्ते तदाहुः-

विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्तो
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्त्रम्।
तस्मात्संक्षेपादर्थसन्दोह उक्तो
व्यासः सन्त्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम्।। २.४

यथा हिमालये गंगायास्तनुकप्रवाहश्चरमे भागे विपुलत्वं याति तथैव प्राक्तनर्षिचर्यासृष्टो ज्ञानप्रवाहः प्रसृतः सन् सम्प्रति विपुलतां प्राप्तः। यथोक्तम्-

सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः।।

काव्यमीमांसा २.५

अनुसन्धाने कवेः (विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविरित्यमरकोषवचनात्कविरपि विदुषः पर्यायवाची)

शास्त्रकवेः स्थितिं वर्णयन् राजशेखरः कथयति-

भवति प्रथन्नर्थं लीनं समभिलुप्तं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पञ्च शास्त्रकविः।।९.६

एषा प्राक्तनी किन्त्वद्यापि यथार्था शोधग्रन्थस्य शास्त्रस्य वा प्रणयन-पद्धतिः।

अद्य शोधप्रबन्धाः प्रायशः पाश्चात्यपद्धत्या लिख्यन्ते। ग्रन्थेऽस्मिन् यथामति प्रयासः कृतो यद् भारतीयग्रन्थलेखनपद्धतिरपि संस्कृतभाषायाः ग्रन्थानामनुसन्धाने प्रयुक्ता स्यात्। संस्कृतभाषयैकमपि वाक्यं वक्तुमसमर्था अपि विद्यावारिधिविद्यावाचस्पतीत्युपाधिधारिणो बहवो विद्यन्ते। मैकालेशिक्षा-पद्धत्याऽन्याङ्ग्लादिभाषामाध्यमेनाध्ययनाध्यापनमत्रमहत्कारणम्। संस्कृत-भाषायाः ज्ञानाभावे संस्कृतविद्याशास्त्रमर्मणि निवेशः कथमपि न सम्भाव्यते। राष्ट्रे स्वतन्त्रे सत्यपि विश्वस्य केवलैका भाषा संस्कृतभाषाऽस्ति यस्या अध्ययनाध्यापनमनुसन्धानमन्यभाषामाध्यमेन भवति। अन्यभाषाज्ञानं भवतु-नामानिवार्यं किन्तु संस्कृतभाषायाः पाठ्यक्रमाणां परीक्षणमध्यापनं शोधपत्र-शोधप्रबन्धलेखनं चेत्संस्कृतभाषया स्यादितिराष्ट्रगौरवाय संस्कृतसंवर्द्धनाय च भविष्यति। अन्यभाषया तदनुवादो नासाधु।

संस्कृतस्य महत्त्वपूर्णकृतीनामन्यभाषयाऽनुवादो भवेदित्यावश्यकम्। अनुसन्धानप्रविधिस्तथैव विद्यते यथा काव्यप्रणयनमधिकृत्य काव्यशास्त्रग्रन्था विद्यन्ते। व्याकरणशास्त्रोक्तज्ञानायापि भगवता भर्तृहरिणा वाक्यपदीयग्रन्थः कारिकामाध्यमेन व्यधायि। साङ्ख्यकारिका तथा च काव्यशास्त्रस्याप्यनेके

गन्थाः कारिकामाध्यमेन प्रणीताः। पद्येषु लयात्मकता भवति येन कण्ठस्थीकरणे सौविध्यं भवति। अतो मया विशिष्टावबोधप्रकरणेषु श्लोकेषु तद्विषयाणां प्रतिपादनमकारि। यथासम्भवं सरलभाषायाः प्रयोगोऽपि मया विहितः। विश्वसिमि यत् सामान्यसंस्कृतभाषाज्ञातारोऽपि कुत्रापि काठिन्यं नानुभविष्यन्ति।

भवतुनाम-'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्' इत्यभ्युक्तिः, किन्तु प्रवृत्तिनिमित्तरूपा अल्पीयांस एव शब्दा विद्यन्ते। प्रायो व्यावहारिकाः पारिभाषिकाश्च शब्दा व्युत्पत्तिदृष्ट्याऽन्वर्थका भवन्ति। यथा कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्, प्रीणातीति पत्नीत्यादि। अतो ग्रन्थेऽस्मिन् पारिभाषिकशब्दानां यथासम्भवं व्युत्पत्तिरपि प्रदर्शिता विद्यते। व्युत्पत्तौ प्रायः शब्दस्यानुरूपा परिभाषाऽपि ध्वन्यते। यथा पुन्नामनरकात्त्रायत इति पुत्रः, भर्तुं योग्या भार्या प्रभृतिशब्देषु कर्तव्यबोधोऽपि निहितोऽस्ति।

आङ्लभाषायाः केवलम् 'Research' (रिसर्चेति) शब्दः किन्तु संस्कृते पद्धतिभिन्नत्वं सूचयन्तोऽपि रिसर्चेत्यस्यार्थबोधकाः शब्दाः सङ्गताः। पद्यादिनिर्मितौ लघुगुरुदिशैतेषामुपयोगो यथायथं भवति। यथा-शोधः, अनुसन्धानम्, ऋषिचर्या, गवेषणा, अन्वेषः, अन्वेषणा प्रभृतिशब्देषु, धातुप्रत्ययपरिवर्तनेन काचिद्विशिष्टार्थच्छविः संस्कृतशब्देषु भवति। तथापि शोधशब्देनैतेषां पदानां नैकट्यं विद्यते। शोधः (शुद्धीकरणं/परिष्कारः) अनुसन्धानम् (लक्ष्यं निश्चित्याग्रेसरणम्) गवेषणा (वनेऽदृश्या गाव इव कस्यचिद् वस्तुनः प्राप्तेरेषणा/समीहा) ऋषिचर्या (ऋषेरिव नवतत्त्वान्वेषण-प्रवृत्तिः) अन्वेषणा (नवाविष्कारैषणा/नवोन्मेषः/ कस्यचिन्नूतनवस्तुनो निर्मितिरा-विष्कारो वा) इनोवेशनेत्याङ्ग्ल्यभाषायां कथ्यते, पाश्चात्यपद्धत्या संस्कृतवाङ्मयाध्ययनानुसन्धानं तथैव विद्यते यथा क्वचिद् विष्णोः प्रतिमायाः टाईसूटेत्यादिना मण्डनीकरणम्। अतो भगवतो भर्तृहरेः प्रथमा कारिका कदापि न विस्मरतव्या-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

शब्दार्थविषये ढक्कानादतोऽक्षरप्रदातुः शिवस्य (अर्थरूपस्य) वाग्रूपायाश्च तच्छक्तेः पार्वत्या वर्णनं महाकविना कालिदासेनापि व्यधायि

रघुवंशादिपद्ये-

वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।[१]

लौकिकसंस्कृतसाहित्यसर्जनेऽपि शास्त्रकाराःकवयश्च स्वां भारतीयामास्थां परम्परां न विस्मरन्ति। तेनैव ते बहुसमादृता अपि विद्यन्ते। काव्येष्वपि सम्प्रत्युदात्तचरितं विहाय दुराचरणवर्णनं प्रायशः कुर्वन्तः कवय आत्मनः श्रेष्ठान् मन्वते, चतुर्विंशतिसाहस्रीसंहितापद्धतिं त्यक्त्वा ते 'हाईकू' इति विधां श्रेष्ठां मन्वते। लोकव्यवहारेऽपि 'नमस्ते'-इति विहाय 'डिवाइड-एण्ड रूलैति विभाजनपद्धतिं प्रायशः स्वीकृत्य गुडमार्निंग, गुड नून, गुड इवनिंग, गुड नाइटेति अथवा सुप्रभातमिति वदन्ति। 'तत्त्वमसि' वाक्ये युष्मच्छब्दः (त्वमिति) ब्रह्मणो बोधकस्तथा 'ते'- इति न केवलं तुभ्यमित्यर्थदं पदमपितु तवेत्यस्यापि बोधकमिति। हन्त! त्वमिति शब्दस्य व्याप्तिं संस्कृतज्ञा अपि विस्मरन्तो दृश्यन्तेऽतः सुप्रभातम् इत्येवं वदन्ति। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकमिति सूत्रे शास्त्रार्थं कुर्वतां पण्डितानां लोकव्यवहारप्रवृतौ संशोधनमपेक्ष्यते।

ग्रन्थेऽस्मिन् त्रीणि-अधिकरणानि विद्यन्ते। प्रथमेऽधिकरणेऽनु-सन्धानप्रविधिनिरूपणम्, द्वितीयेऽधिकरणेऽवबोधप्रविधिनिरूपणम्, तृतीये चाधिकरणे पाण्डुलिपि-सम्पादनानुसन्धानसंरक्षणलिपिविकासादिवर्णनं कृतमस्ति। ग्रन्थान्ते शोधपत्रिकाणां पाण्डुलिपिसङ्ग्रहालयानां यथाज्ञातं सूची परिशिष्टरूपेण प्रदत्ता। पूर्वमपि मदीयः 'साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिग्रन्थः प्रकाशितः। तस्य द्वितीयं संस्करणमपि प्रकाशितं विद्यते। तस्य ग्रन्थस्य कारिकाणां यथास्थलं प्राय उपयोगोऽस्मिन् ग्रन्थेऽपि विद्यते। लिपिविकासनिरूपणे

---

१. कालिदासोऽध्यात्मिकरूपेण तथ्यमिदं पुष्णाति-'अथाहवर्णी विदितो महेश्वरस्त-दर्थिनीत्वं पुनरेव वर्तसे।' अथ अह-अकारतो हकारं यावद्यो वर्णान् धारयति वर्णाः सन्ति यस्मिन्निति वर्णी, अर्थिनी (पार्वती-अर्थयाच्ञायामर्थादर्थस्य याचिका (अर्थरूपशिवस्य) प्राप्तये तपोरता। महेश्वरशब्दस्य प्रयोगोऽपि-इति माहेश्वराणि सूत्राणि-इत्यस्य स्मारकः, एवं पार्वती वर्णरूपा वाक् शिवश्चार्थरूपः। (द्र. कुमार-५.६५)

"भाषाविज्ञान की भूमिकेति"-आचार्य देवेन्द्रनाथशर्मणो ग्रन्थस्य सहायता गृहीताऽतस्तं प्रतिकृतज्ञोऽहम्। हिन्दीभाषया बहवः शोधप्रविधिग्रन्था हिन्दीविद्भिः प्रणीता विद्यन्ते ते प्रायो हिन्दीसाहित्यदिशा प्रणीताः सन्ति। संस्कृतसाहित्य-दिशाऽपि- प्रो० अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य, पो० प्रभुनाथद्विवेदिनश्च ग्रन्थौ हिन्दीभाषया प्रकाशिताविति श्रूयते। एतयोर्ग्रन्थयोः सम्भवतः संस्कृतसाहित्यदिशा विचारः कृतो विद्यते। मम ज्ञानानुसारेण संस्कृतभाषामाध्यमेन न कश्चिच्छोध-प्रविधिग्रन्थः प्रकाशितो विद्यते, ममैव कारिकाग्रन्थः 'साहित्यानुसन्धानव-बोधप्रविधिरिति ग्रन्थो विद्यते। तस्मिन् पाण्डुलिपिविषयकं विवेचनं नास्ति। अस्मिन् ग्रन्थे पाण्डुलिपिविषयेऽपि विचारः कृतो विद्यते।

अनेन ग्रन्थेन संस्कृतभाषामाध्यमेनाध्येतारश्छात्रा लाभान्विता भविष्यन्तीति विश्वसिमि। अस्य ग्रन्थस्य सम्पादकस्याचार्यरमेशकुमारपाण्डेयस्याग्रह-मनुसृत्य हिन्दीभाषयाप्यनुवादो मया व्यधायि। एतेन हिन्दी भाषामाध्यमेन शोधकार्ये संलग्नानां छात्राणां कृतेऽपि सौकर्यं भविष्यति॥ इति शम्।

समहन, मेजारोड
प्रयागराजः (उ.प्र.)
२१२३०३

-रहसबिहारीद्विवेदी
चलन्तीवाक् ०९४२५३८३९६२

प्राक्कथन

चिरनूतन और अद्भुत भारतीय ऋषिचर्या की ज्योति से समग्र विश्व का ज्ञानमार्ग आलोकित होता रहा है। त्याग, तपस्या और तपोवन की त्रिवेणी के अवगाहन से परिपूत दिव्य मनीषियों द्वारा साक्षात्कृत विद्यास्थान–

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥'

विषयक ग्रन्थ आज भी अपनी कल्पान्तरस्थायिनी प्रशस्त अर्थवत्ता के कारण प्रासंगिक हैं और रहेंगे। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि इन दिव्य ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की गई है जो पाणिनि आदि द्वारा आविष्कृत कर अमर कर दी गई है। एक रूप, परिवर्तनरहित होने से आसृष्टि इसे बोला, लिखा पढ़ा और समझा जा सकेगा। एक समय ऐसा आएगा जब संस्कृतवाङ्मय और संस्कृत भाषा को वैश्विक सम्पर्क और सद्भाव के लिए मानना, स्वीकार करना विश्व की विवशता होगी क्योंकि **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना से अनुस्यूत इसका ही वाङ्मय है। परिप्रश्न, विचारविमर्श, मार्गदर्शन और अन्वेषण की प्रवृत्ति भारत में आदिकाल से रही है। शास्त्र और शस्त्र में शिष्यों को प्रवीण बनाने की अद्भुत शक्ति रखने वाले ऋषि सत्तम भी मार्गदर्शन की अभीप्सा रखते थे। आदिकाव्य का प्रथम श्लोक ही इसका प्रमाण है–

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदांवरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥

इस प्रकार किसी नवोन्मेष या सर्जन के लिए उस विषय के विशिष्ट ज्ञाता का मार्गदर्शन प्राप्त करना उचित होता है। पूर्वसृष्ट

रचनाओं को देखकर उसकी प्रविधि का आकलन किया जाता है। उसका एक आदर्शरूप निर्धारित कर तदनुसार भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन किया जाता है। तथापि प्रातिभ नूतन उद्भावनाओं की स्थिति में नूतन प्रविधियाँ भी विकसित होती रहती हैं। जैसा मैंने साहित्यानुसन्धानाव-बोधप्रविधि में लिखा है- **'सुपुत्रकविसिंहानां नानुगत्वं प्रशस्यते।'**

संस्कृतभाषा का वर्णसमाम्नाय शिव के ढक्कानाद से समुद्भूत है- **'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्'** यह श्लोक प्रसिद्ध है। जिससे **अइउण् ऋलृक्**-आदि चौदह सूत्रों की उत्पत्ति हुई है, प्रसिद्धतम सूत्रकार पाणिनि ने इन सूत्रों में यथाक्रम उपलब्ध प्रत्याहार और 'क' से 'म' तक स्पर्श व्यंजनों तथा अन्तस्थ वर्णों 'यरलव' आदि का विलक्षण संयोजन कर **अष्टाध्यायी** की रचना की है। जिससे संस्कृत भाषा विकाररहित और अमर हो गई है। संस्कृत के प्राक्तन कवियों और शास्त्रकारों का सम्पर्क देवों तक व्याप्त रहा है। महर्षि वाल्मीकि देहाध्यासरहित होके भीतर दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सरस्वती से भी कवि होने का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं तो भरतमुनि अपने नाट्य प्रयोग के लिए इन्द्र और विश्वकर्मा का सहयोग प्राप्त करते हैं। प्राक्तन मनीषियों की ऋषिचर्या (रिसर्च) किसी शासनादेश तथा आयोग आदि से नियन्त्रित और नियमों-परिनियमों से प्रतिबन्धित नहीं थी। उनकी अनुसन्धान प्रविधि पर भी किसी का नियन्त्रण नहीं था तथापि अत्यन्त व्यवस्थित क्रम से उन्होंने ज्ञानवर्धक लोकोपकारी तथ्यों का मौलिक उन्मीलन किया है। प्राक्तन मनिषियों ने अल्पाक्षरों में सन्देह रहित सारयुक्त विश्वतोमुख तथ्यों का उन्मीलन किया है। आचार्य राजशेखर कहते हैं कि विद्यास्थानों के पूर्णज्ञान के लिए हजार वर्ष का समय भी कम है। अतः वे ग्रन्थ-भीरुओं के लिए संक्षेप में कुछ प्रतिपादन कर रहे हैं-

विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्यो
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहर्षम्।
तस्मात् सङ्क्षेपपादर्थसन्दोहयुक्तो
व्यासः सन्त्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम्॥

यथा हिमालय में गङ्गा का तनुक प्रवाह प्रसृत होकर विशाल आकार का होकर समुद्र में पहुँचता है उसी प्रकार प्राक्तन ऋषिचर्या से उपलब्ध ज्ञान सम्प्रति विपुलता को प्राप्त हो गया है–

'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः॥'

काव्यमीमांसा २.५

अमरकोषकार ने– **'विद्वान् विपश्चित् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः॥ श्रीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः। दूरदर्शी दीर्घदर्शी॥'** इन पर्यायवाची शब्दों में मनीषी को भी कवि का पर्यायवाची माना है। आचार्य राजशेखर ने शास्त्र कवि के गुणों का निरूपण करते हुए अनुसन्धान की स्थिति का भी प्रतिपादन किया है–

'भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिलुप्तं स्फुटी कुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः॥'

अर्थात् शास्त्रकवि (शास्त्रज्ञ) छिपे अर्थ को विस्तृत करता है। बहुधा लुप्त अर्थ स्फुटित कर खोल देता है, संक्षेप में कहे गए को विस्तीर्ण कर देता है, बहुत विस्तृत रूप में कहे गए को संक्षिप्त कर देता है। यह सारे गुण शोधकर्ता के भी होते हैं। या यों कहें कि ऋषिचर्या की स्थिति को यहाँ राजशेखर आरेखित करते हैं।

यह भारत राष्ट्र का दुर्भाग्य था कि ऋषि आश्रम से प्रवर्तित उद्भट विद्वानों द्वारा शास्त्रों का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान कराने वाली शिक्षा पद्धति को बड़ी चतुराई से आङ्ल शिक्षा पद्धति में उसके पुरोधा मैकाले ने बदल दिया। पढ़ने पढ़ाने का माध्यम अंग्रेजी भाषा को कर दिया, जिससे बावन अक्षरों वाली भाषा छब्बीस अक्षरों में सिमट गई। निषेध और ज्ञान नो (No) नो (know) का उच्चारण एक हो गया। अंग्रेजी और हिन्दी में ऋषिचर्या (रिसर्च) होने लगी, संस्कृत भाषा समाप्त कर दी गई 'कोल आर्थ' के ग्रन्थ 'मैनुवल आफ थिसिस राइटिंग' को संस्कृत वाङ्मय के अनुसन्धान में भी सर्वोत्तम माना गया। अंग्रेजी में बोलने और ग्रन्थ

लिखने और टाईसूट धारण को सभ्य जेंटिलमैन और हिन्दी बोलने और लिखने तथा कुर्ता धोती चौबन्दी पहनने वाले को असभ्य और गँवार माना जाने लगा। इतना ही नहीं प्राथमिक विद्यालय में 'J' (जे) की पहचान (जेन्टिलमैन के उदाहरण) में टाईसूट पहने हुए मनुष्य का चित्र छपने लगा। बच्चे कुर्ता धोती वाले अपने पिता और पितामह को गँवार और असभ्य समझने लगे। ऋषिचर्या जैसे महनीय शब्द के स्थान पर रिसर्च शब्द का प्रयोग होने लगा। जिसका अर्थ पूर्वसाक्षात्कृत तथ्य का पुनरुन्मीलन (नकल) होता है। भारतीय प्राकृतिक परिवेश के अनुरूप गुरु के पास पहुँचकर उसके पूजन और अध्ययन हेतु राष्ट्रव्यापिनी आषाढ पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा) जो ब्रह्मसूत्र, महाभारत और पुराणों के रचयिता थे उनकी जन्मतिथि थी, उसके स्थान पर शिक्षकदिवस को बड़ी चतुराई से विनियोजित किया गया परिणामतः अपने गुरुओं (शिक्षकों) के स्थान पर व्यक्तिविशेष का परिचय दिया जाने लगा। इसी प्रकार हलषष्ठी और सन्तानसप्तमी के स्थान पर बालदिवस मनाना प्रारंभ हुआ नाम बालदिवस किन्तु पूजा दिवंगत वृद्ध की होने लगी। विजयदशमी जिसमें भारत राष्ट्र में आतंकवादी राक्षसों को प्रेषित करने वाले के देश में समुद्र में सेतु बनाकर वहाँ जाकर उसको समूल समाप्त करने की प्रेरणा निहित थी, उसे स्वतन्त्रतादिवस के रूप में प्रोन्नत कर नवीन विजयपर्व मनाया जाने लगा। दीपावली जो राष्ट्र की अस्मिता के रूप में राष्ट्र की धरती से उद्गत तथा अपहृत सीता के आगमन की तिथि थी, रामराज्य के शुभारम्भ की तिथि थी, गणतन्त्रदिवस के रूप में प्रोन्नत कर स्वतन्त्रता दिलाने वाले प्रमुख वीर सुभाष चन्द्र बोस को भौतिक शरीर से अदृश्य तथा व्यावहारिक स्मरण में समाप्त कर दिया गया। अंग्रेजों की फूट डालो और राज्य करो (डिवाइड एण्ड रूल) की प्रवृत्ति ने भारतीय 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की प्रवृत्ति को नकार कर लोक व्यवहार के 'नमस्ते' और 'जय श्रीराम' को परिवर्तित कर गुडमार्निंग गुडनून आदि कालविभाजक वाक्यों का प्रयोग प्रचलन में आ गया। जबकि 'नमस्ते रुद्रमन्वये' वैदिक ऋचा का अंश था। 'तत्त्वमसि' में जीवात्मा का बोधक 'त्वम्' (युष्मत्) शब्द के चतुर्थी और षष्ठी के एकवचन तुभ्यं और तव

का वैकल्पिक रूप 'ते' था। जिसके कहने से तुम्हें और तुमसे जुड़े राष्ट्र माता-पिता को भी प्रणाम करने का यह बोधक था क्योंकि (ते) कहने से तुम्हारे और तुम्हारे लिए दोनों अर्थ वाक्य में अन्वित रहते थे, इसका बड़ों द्वारा 'आयुष्मान् भव' या 'चिरं जीव' यह उत्तर दिया जाता था, और समान स्तर का व्यक्ति वही वाक्य 'नमस्ते' दुहराता था। अब तो इससे प्रभावित कुछ विद्वान् भी 'सुप्रभातम्' कहकर अपने अनवबोध का परिचय देते हैं। इसी प्रकार पिताजी जिसमें 'पातीति पिता' तथा माताजी कहने पर जिसमें 'मान्यत इति माता' अन्वित था उसके स्थान पर पापा, मम्मी, डेडी, डेड आदि शब्दों का प्रयोग होता है, ऐसा न कहने वाले बच्चे असभ्य और गँवार की श्रेणी में गिने जाने लगे। किसी भी अनुसन्धान में इतिहास और संस्कृति समाहित रहती है। अतः संस्कृत का माध्यम समाप्त होने से उक्त कुछ उदाहरण मैंने दिए हैं। संस्कृत वाङ्मय में **'स्वतन्त्र'** तो मानव के लक्षण में ही प्रतिपादित है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु. ६.९२

जो राष्ट्रपति से सामान्य जन तक के लिए अनिवार्य कर्तव्य हैं। विश्व का कोई न्यायाधिपति इसे किसी राष्ट्र, पन्थ, समाज और जाति के लिए ही है, ऐसा नहीं निर्णय दे सकता। महान् नीतिशास्त्री कवि भर्तृहरि इन दश घटकों (धृति क्षमा आदि) धर्मों (कर्तव्यों) से रहित को पशु कहते हैं–

"आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।"

पाश्चात्यों ने विभाजन (टुकड़े-करने) की प्रवृत्ति शास्त्रों में भी समाविष्ट की। उदाहरण के लिए उन्होंने काव्यशास्त्र का (स्कूल्स) सम्प्रदायों में विभाजन कर दिया, उनके अंग्रेजी में लिखित ग्रन्थों में प्रदत्त विभाजन का खण्डन न कर काव्यशास्त्र की हिन्दी और संस्कृत में लिखित पुस्तकों में अलंकार, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य सम्प्रदायों में विभाजन प्रस्तुत कर दिया गया। भरत मुनि ने रस के साथ गुण और अलंकारों का भी विवेचन किया था, यहाँ तक कि उन्हीं के

द्वारा प्रतिपादित गुणों के नाम भी यथावत् वामन ने अपने ग्रन्थ में रखे। क्योंकि श्रव्य काव्यों-मुक्तक आदि में अनेकत्र विभावानुभाव संचारी और व्यभिचारी भाव की परिकल्पना के विना भी रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य से समन्वित वर्णनों में सहृदय आनन्द और प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इसलिए बाद के आचार्यों ने नये काव्याह्लादकतत्त्वों की खोज की और रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि की प्रतिष्ठा करनी चाही। वस्तुतः काव्य के अधिकरण वाक् के मध्यमा-वैखरी (अर्थ और शब्द) की चारुता और काव्यलेखन के शिल्प रीति (स्टाइल) पर वामन ने विचार किया और बताया कि **'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते'**। अपने ग्रन्थ का विभाजन भी अधिकरणों में किया। आनन्दवर्धन ने नाट्यरसों, काव्यशिल्प और अलङ्कारों का विवेचन देखकर बहुधा व्याकृत का विवेचन नहीं किया। उन्होंने सहृदय की दृष्टि से अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक का प्रणयन किया और सहृदय में उद्योतित (अनुगुंजित/ध्वनित) होने वाले ध्वनि तत्त्व की पहचान की और काव्य-शास्त्रचिन्तन में एक नये काव्यतत्त्व 'ध्वनि' की स्थापना की और अपने ग्रन्थ का विभाजन 'उद्योत' नाम से किया। अधिकरण और अनुभूति (ध्वनितत्त्व) का निरूपण हो जाने पर कुन्तक ने काव्य सर्जन (काव्योन्मेष) पर विचार किया और अपने ग्रन्थ का विभाजन भी उन्मेष के नाम से किया। इस प्रकार इन सभी प्रशस्त आचार्यों ने अनुक्त काव्यतत्त्व पर विचार कर काव्यशास्त्र की पूर्णता के लिए प्रयत्न किया, अतः काव्यशास्त्र में सम्प्रदाय (स्कूल) शब्द सर्वथा अनुपयुक्त है। रस की चर्चा दण्डी और वामन भी करते हैं। आनन्दवर्धन रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि का निरूपण करते हैं, आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ भले ध्वनि और रस की विवेचना करते हों किन्तु किसी तथाकथित अलंकार सम्प्रदाय में परिगणित आचार्यों से अधिक अलङ्कारों का विस्तृत वर्णन करते हैं। अतः काव्यशास्त्र अखण्ड और एक दूसरे का पूरक है, इसे सम्प्रदाय कहना सर्वथा उचित नहीं है।

इस प्रकार पाश्चात्यों का अन्धानुकरण उचित नहीं है। प्राक्तन काल में प्रबन्ध रचनाएँ की जाती थीं, वे रचनाएँ किसी उपाधि के लिए

नहीं थीं स्वान्तः सुखाय और शास्त्रों में नवीन तथ्यों के आधान के लिए की जाती थीं, यह सत्य है कि पाश्चात्य शिक्षापद्धति के कारण स्नातकोत्तर कक्षा के बाद शोधप्रबन्ध लिखने की परम्परा प्रारंभ हुई। अब उच्चशिक्षा के पद की प्राप्ति के लिए शोधोपाधि अनिवार्य हो जाने से स्नातकोत्तर उत्तीर्ण छात्र किसी प्रकार उपाधि प्राप्त कर लेना चाहता है। अतः शोधप्रबन्धों और शोधपत्रों के स्तर में भी गिरावट आ गई है। इस तथ्य का सत्यापन लब्धोपाधि शोधप्रबन्धों के अवलोकन से किया जा सकता है। इसमें भ्रष्टाचार ने भी स्थान ग्रहण कर लिया है।

यह 'अनुसन्धानसम्पादनप्रविधि' ग्रन्थ मूलतः संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध है। प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय पूर्व कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, जो इस ग्रन्थ के सम्पादक भी हैं, के आग्रह के कारण इसका हिन्दी अनुवाद भी ग्रन्थ में दिया जा रहा है। आशा है हिन्दी भाषी छात्र भी लाभान्वित होंगे। उचित भी है, संस्कृत में प्रणीत ग्रन्थों का हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद होना भी चाहिये।

यह अनुसन्धानसम्पादनप्रविधि मेरी पूर्वकृति 'साहित्यानुसन्धानाव-बोधप्रविधि' का विस्तृत रूप है। इसमें इस ग्रन्थ की प्रायः सभी कारिकाएँ पुनः नवीन व्याख्या के साथ प्रस्तुत की गई हैं, बहुत सी नवीन कारिकाएँ भी इसमें सम्मिलित की गई हैं। विशेष रूप से व्याख्यापद्धति और सम्पादनप्रविधि में नई कारिकाएँ जोड़ी गई हैं। कारिकाओं के छन्दोबद्ध होने से विशेष लय का आधान होने से स्मरण करने में सुविधा होगी। व्याकरण जैसे जटिल विषय का दार्शनिक विवेचन भगवान् भर्तृहरि ने कारिकाओं में ही किया है। काव्यशास्त्र आदि के अनेक ग्रन्थ प्रायः कारिकाओं में ही प्रणीत हैं। यथासम्भव हमने कारिकाओं की भाषा सरलतम रखने का प्रयास किया है, अतः कारिकाएँ व्याख्यासापेक्ष्य नहीं हैं। तथापि हिन्दी में उनका अनुवाद आवश्यक पूर्वाचार्यों के सन्दर्भों की टिप्पणियों के साथ किया गया है।

'अन्यद्धि शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तमन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम्' यह सिद्धान्त प्रतिपादित है इसमें भी अधिकांश शब्द व्यत्पुत्तिलब्ध अर्थ वाले होते हैं। प्रायः व्यावहारिक और पारिभाषिक शब्द व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ से

अन्वित रहते हैं। यथा-कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्, प्रीणातीति पत्नी, भर्तुं योग्या भार्या आदि। अतः इस ग्रन्थ में परिभाषिक शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी प्रायः दी गई हैं। व्यत्पुत्ति में परिभाषा स्वयं अभिव्यंजित होती रहती है। धातुओं में उपसर्ग और प्रत्ययों से कोई विशिष्ट अर्थ उद्भूत होता है। कई व्युत्पत्तियों में कर्तव्य की प्रेरणा भी निहित है यथा– **पुन्नामनरकात्त्रायत इति पुत्रः**, भर्तुं योग्या भार्या आदि।

आङ्ल भाषा में शोध के लिए एक शब्द Research (रिचर्स) शब्द है किन्तु संस्कृत में अनेक शब्द हैं जो अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों के कारण प्रबन्धलेखन स्थिति की किसी विशेषता के आधान के नियामक होते हैं। यथा शोध- (विजातीय को हटाकर सार का ग्रहण) अनुसन्धान- (कोई लक्ष्य निश्चित कर उसकी ओर अग्रेसर होना और उसे प्राप्त करना) ऋषिचर्या- (अध्ययन, अवबोध, आचरण और प्रचार द्वारा किसी उपयोगी तथ्य का औचित्य निश्चित करना) गवेषणा (अत्यन्त उपयोगी तथ्य जो तिरोहित हो गया है उसको खोजना) अन्वेष/अन्वेषणा– किसी वस्तु का नूतन आविष्कार करना (इनोवेशन) अवेक्षण (पदों के आधान पर विचार) समीक्षा/समीक्षण (सम्यक् निरीक्षण/अवलोकन कर किसी कृति पर विचार अथवा किसी निर्धारित मत या तथ्य पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना) अनुशीलन (शीलन को अभ्यास कहा जाता है, किसी रचना का सम्यक् अध्ययन कर उस पर अपने अनुभूत को व्यक्त करना) परिशीलन (परितः शीलनं परिशीलनम्) किसी ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों के प्रभाव या अन्विति पर विचार करना) इस ग्रन्थ के अवबोध प्रविधि प्रकरण में इन सभी पर तथा व्याख्या टीका भाष्य आदि के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत किया गया है। अतः उनका विशेष ज्ञान उसको पढ़कर किया जा सकता है।

पाश्चात्य शिक्षा पद्धति से शोधप्रबन्ध लेखन की परम्परा प्रारंभ हुई, अतः साहित्य की शोधप्रविधि और उसकी रूपरेखा में एकरूपता रूपजड़ता समाहित हो गई है। जैसे उपसर्ग की पूर्व सर्ग और प्रत्यय के लिए पर सर्ग कहने की प्रथा हिन्दी में यत्र-तत्र दिखाई देती है, संस्कृत संश्लिष्ट भाषा है अतः शब्दों में विभक्ति (स्वादिप्रत्यय) लगाकर वाक्य

में उसे प्रयोग योग्य बनाया जाता है। किन्तु हिन्दी में ने, को, से, के लिए, में, पर, आदि का प्रयोग किया जाता है अंग्रेजी में आन, आफ, इन आदि का प्रयोग किया जाता है इन्हें शब्दों का सम्बन्धतत्त्व कहा जाता है। यदि किसी हिन्दी के ग्रन्थ को भाषावैज्ञानिक अध्ययन का आदर्श मानकर संस्कृत भाषा की कृति का अध्ययन किया जायेगा वहां विभक्ति और प्रकृति, प्रत्यय आदि की दृष्टि से विमर्श किया जायेगा। संस्कृत वाङ्मय में चतुर्दश विद्याएँ हैं उनसे सम्बद्ध ग्रन्थों का शास्त्रानुसारी विवेचन ही किया जा सकता है, अतः प्रत्येक शोधप्रबन्ध की पृथक्-पृथक् रूपरेखा होगी। संस्कृतसाहित्य के समीक्षात्मक अध्ययन में विधा का स्वरूप, रस, अलंकार, रीति ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को बताने की अपेक्षा कथावस्तु के विन्यास और पात्रों की अवस्थिति पर अधिक ध्यान देना होगा, राष्ट्रिय भावना कृतिकार का प्रयोजन उसके शिल्प, वाद आदि पर भी विमर्श आवश्यक होगा। इस प्रकार अन्य भाषाओं की अध्ययन और अनुसन्धान पद्धति को संस्कृत के विशाल वाङ्मय के अनुसन्धान में पूर्णतः प्रयुक्त करना उचित नहीं है।

इस ग्रन्थ के प्रमुख तीन भाग हैं–

१. साहित्यानुसन्धानप्रविधि, २. साहित्यावबोधप्रविधि, ३. साहित्य (विशेषरूप से पाण्डुलिपि) सम्पादनप्रविधि।

इस ग्रन्थ के पूर्वमुद्रित मेरे ग्रन्थ 'साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि' की प्रायः सभी कारिकाओं का उपयोग यथास्थल किया गया है। पाण्डुलिपि सम्पादन प्रविधि में आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा की पुस्तक 'भाषा विज्ञान की भूमिका' का सहयोग लिया गया है। अतः मैं उनके प्रति श्रद्धाभरित कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। ग्रन्थ में संस्कृत के प्राक्तन ग्रन्थों की सहायता ली गई है उनके सन्दर्भ दिए गए हैं। इसके प्रकाशन और सम्पादन का दायित्व स्वीकार करने वाले आचार्य रमेशकुमार पाण्डेय, डॉ. शिवशङ्करमिश्र तथा ग्रन्थ के प्रकाशक को हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ।

सौभाग्यतः मेरे पूर्व ग्रन्थ के संशोधक वेद-वाग्विद् विद्वान्-आचार्य मुरली मनोहर पाठक इस विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर अब

नियुक्त हो गये हैं। अतः इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक के दायित्व का निर्वाह इनके द्वारा किया गया, इसलिए इनके प्रति अपना हार्दिक कार्त्तज्ञ्य ज्ञापित करता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में डॉ. अखिलेश मिश्र ने मेरा प्रभूत सहयोग किया है, अतः इनके लिए मङ्गल कामना करता हूँ।

-रहसबिहारी द्विवेदी

अस्थायी निवास-
६१५ ग्रीन सिटी
मो. ९४२५३८३९६२

स्थायी निवास-
समहन (मेजारोड),
प्रयागराज २१२३०३ (उ.प्र.)

विषयानुक्रमणिका

प्ररोचना	– प्रो. मुरलीमनोहर पाठक	iii
सम्पादकीय	– प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय	v
आमुख	– प्रो. शिवशङ्कर मिश्र	vii

प्रथमाधिकरणम्

अध्यायाः	विषयाः	पृष्ठसङ्ख्याः
१.	मङ्गलाचरणं प्राग्वाचिकञ्च	१–६
२.	अनुसन्धानशब्दार्थविमर्शः– अनुसन्धानम्, अन्वेषणम्, गवेषणा, शोधः, ऋषिचर्या, शास्त्रकविः	७–१९
३.	अनुसन्धानप्रविधिविमर्शः – प्रविधिशब्दार्थः प्रविधिस्वरूपम्	२०–२५
४.	शोधनिर्देशकार्हताविमर्शः	२६–३८
५.	शोधच्छात्रार्हताविमर्शः	३९–४३
६.	प्रबन्धालेखनिबन्धशोधपत्रस्वरूपम्	४४–५१
७.	शोधप्रबन्धविषयनिर्धारणं शोधप्रकाराश्च– शोधविषयक्षेत्राणि, साहित्यिकानुसन्धानम्, शास्त्रीयानुसन्धानम्, नवसाहित्याऽनुसन्धानम्, दर्शनशास्त्रेऽनुसन्धानम्, क्षेत्रीयानुसन्धानम्, साहित्यदिशाक्षेत्रीयमनुसन्धानम्–, ऐतिहासिकानुसन्धानम्, सांस्कृतिकानुसन्धानम्, प्रायोगिकानुसन्धानम्–सर्वेक्षणानुसन्धानम्, वैवरणिकानुसन्धानम्, उत्सात्मिकानुसन्धानम्, भाषावैज्ञानिकमनुसन्धानम्–उत्तराधुनिकता–	५२–८३
८.	अनुसन्धानपद्धतिसारः	८४–८७

९.	शोधप्रबन्धरूपरेखा	८८–१०२
१०.	अनुसन्धातुरवधानताविमर्शः	१०३–११२
११.	अनुसन्धानसामग्रीसंग्रहविमर्शः	११३–११५
१२.	प्रबन्धप्रणयनक्रमविमर्शः	११६–१२२
१३.	लेखकदोषविमर्शः	१२३–१२६
१४.	सम्बद्धसाहित्यसर्वेक्षणम्	१२७–१२९
१५.	शोधप्रशिक्षणाधाराः	१३०–१३४
१६.	नव्यसाहित्यानुसन्धानविमर्शः	१३५–१३७

द्वितीयाधिकरणम्

२.	**साहित्याध्ययनावबोधप्रविधयः**	१३८
१.	अनुवादः,	१३९
२.	टीका,	१४०
३.	व्याख्या, व्याकरणं, न्यायशास्त्रम्, वेदान्तशास्त्रम्, काव्यशास्त्रम्, आगमः, निरुक्तम्, मीमांसा, साङ्ख्यम्, छन्दःशास्त्रम्, शिक्षाशास्त्रम्, ज्योतिर्विज्ञानम्, शैवदर्शनम्, काव्यम्, पुराणम्, धर्मशास्त्रम्, योगः, वैशेषिकम्	१४१–१५०
४.	भाष्यम्	१५१
५.	वेदसंहिताभाष्यम्	१५२
६.	समीक्षा	१५३
७.	आलोचना	१५४
८.	आलोचनादिशा समीक्षादिशा च शोधस्थितिः	१५५
९.	वृत्तिर्वार्त्तिकञ्च	१५६
१०.	छाया–मीमांसा	१५७

११.	परिभाषा	१५८
१२.	अनुशीलनं परिशीलनञ्च	१५९
१३.	विवृतिः	१६०
१४.	अवेक्षणम्	१६१
१५.	तात्पर्यम्	१६१
१६.	विमर्शः	१६३
१७.	टिप्पणी	१६३
१८.	पदकृत्यम्	१६३
१९.	अर्थः	१६४
२०.	दीपिका	१६६
२१.	फक्किका	१६७
२२.	पञ्चिका	१६७
२२.	चूर्णिः	१६८
२३.	राजशेखरीयः शास्त्रनिर्देशः	१८८

तृतीयाधिकरणम्

३.	**पाण्डुलिपेरनुसन्धानम्**	२२३
१.	पाण्डुलिपेः प्रकाराः १. आकृतिः, २. लेखनशिल्पम्, ३. पृष्ठरूपाङ्कनम्	२२६–२२७
२.	पाण्डुलिपेः सम्पादनम्	२२८
३.	शोधोपाधिकृते पाण्डुलिपिसम्पादनम्– १. प्रस्तावना, २. प्रयोजनम्, औचित्यम्, प्राक्कल्पना, भूमिका, सर्वेक्षणम्, शोधप्रकृतिः, ग्रन्थपरिचयः, अध्यायविभाजनम्	२२९–२३३

४.	पाठालोचनम्– त्रिधा पद्धत्तयः–शास्त्रीया, स्वैच्छिकी, तुलनात्मिका	२३४–२३६
५.	साहित्यालोचने पाठालोचने च भेदः	२३८
६.	पाण्डुलिपिसम्पादकार्हता	२३९
७.	पाण्डुलिपिसम्पादने सामान्यधर्मस्थितिः	२४१
८.	टङ्कितसंशोधनसङ्केतचिह्नानि	२४३
९.	पाण्डुलिपिसंरक्षणम्	२४४
१०.	भारतीयाः पाण्डुलिपयो लिपिविज्ञानञ्च	२९०–३१३
	उपसंहारः	३१४
	परिशिष्टम्–१ : संस्कृता भारती तल्लिपिर्नागरी	३२२
	परिशिष्टम्–२ : भाषाविज्ञानम्	३३६
	–भाषाविज्ञान की शाखाओं का परिचय	३४५
	परिशिष्टम्–३ : संस्कृत–पत्र–पत्रिका	३९३
	परिशिष्टम्–४ : उद्धृत आचार्य/लेखक	४०६
	परिशिष्टम्–५ : विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत संस्कृतशोधपत्रियों की सूची	४०९

प्रथमाधिकरणे प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरणं प्राग्वाचिकञ्च

भद्रङ्कराणि तत्त्वानि प्राग्यैः साक्षात्कृतानि तान्।
वैदिकर्षीन् नुमः सर्वानृषिचर्यार्थसिद्धये।।१।।

शब्दशास्त्रानुसन्धाने पाणिनिं वाग्विदांवरम्।
नाट्यशास्त्रानुसन्धाने विख्यातं भरतं नुमः।।२।।

यास्कं निर्वचने विज्ञं मीमांसायां च जैमिनिम्।
कपिलं साङ्ख्यवेत्तारमद्वैते शङ्करं नुमः।।३।।

देवमुत्पलमर्काभं प्रत्यभिज्ञाप्रवर्तकम्।
प्रत्यभिज्ञानुसन्धानेऽभिनवं गुप्तपादकम्।।४।।

गौतममक्षपादञ्च न्यायान्वेषणकारिणम्।
वैशेषिकानुसन्धाने कणादं सादरं नुमः।।५।।

सङ्ख्यानामक्षरव्यक्तौ चार्यभट्टं महाबुधम्।
ज्योतिषाङ्कलिपेर्विज्ञं वाराहमिहिरं नुमः।।६।।

ब्रह्मस्फुटादिसिद्धान्तेऽरबादिषु प्रसिद्धिगम्।
ब्रह्मगुप्तञ्च शुल्वज्ञं बौधायनबुधं नुमः।।७।।

पाटीगणितविज्ञं तं भास्कराचार्यमाश्रुतम्।
आयुज्ञौ संहिताकारौ चरकसुश्रुतौ नुमः।।८।।

शल्यक्रियाऽनुसन्धाने शालक्यञ्च विचक्षणम्।
वागायुर्वेदवेत्तारं नुमो मुनिपतञ्जलिम्[१]।।९।।

ऋषिचर्यासु संलग्नान् नवोन्मेषे हि विश्रुतान्।
अस्मद्गुरुवरान् सर्वानादरेण वयं नुमः।।१०।।

मधुमद्वचसो[२] विज्ञान् दृश्ये श्रव्ये च विश्रुतान्।
कवींश्च काव्यशास्त्रज्ञान् साहित्यसुधियो नुमः।।११।।

भरतादिसमारम्भामाचार्यानन्दमध्यमाम्।
रेवाप्रसादपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।।१२।।

श्रीवाल्मीकिसमारम्भां कालिदासादिमध्यमाम्।
अभिराजादिपर्यन्तां वन्दे कविपरम्पराम्।।१३।।

वेदव्याससमारम्भां तुलसीदासमध्यमाम्।
मञ्जुनाथादिपर्यन्तां वन्दे गेयपरम्पराम्।।१४।।

पाणिन्यादिसमारम्भां श्रीभर्तृहरिमध्यमाम्।
रामयत्नादिपर्यन्तां वन्दे वाग्वित्परम्पराम्।।१५।।

अनेकशास्त्रविद्वांसं गणिते लोकविश्रुतम्।
विज्ञं रामाभिलाषं तं पितरं प्रणमाम्यहम्।।१६।।

ऋषिचर्या पुराराष्ट्रे तत्त्वसाक्षात्कृतौ श्रुता।
मन्ये रिसर्च[३] -शब्दोऽयमृषिचर्योद्भवः समः।।१७।।

प्राक्तनानामनेकेषामृषीणाञ्च मनीषिणाम्।
आर्यावर्ते कृतैः शोधैः समृद्धं वाङ्मयं महत्।।१८।।

तेषां शोधांशमाश्रित्य शोधस्योपाधयेऽधुना।
विश्वविद्यालयेष्वद्य शोधकार्यं विधीयते।।१९।।

---

१. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

२. वत्सो वां मधुमद्वचोऽशंसीत् काव्यः कविः। ऋग्वेदे-८/८/११
इत्येवं काव्यलक्षणं प्राप्यते। अतो वागेवकाव्यमिति।

३. मया पुष्टीकृतं काव्याधिकरणानुभूतिरिति ग्रन्थे।

कोल-आर्था[१]दिपाश्चात्यविधिं श्रित्वा हि प्रायशः।
शोधबन्धा निबद्ध्यन्ते भारतेऽप्यद्य नूतनाः।।२०।।

भारतीयं च पाश्चात्यं विधिं श्रित्वा यथामति।
छात्राणामुपकाराय शोधप्रविधिरुच्यते।।२१।।

मङ्गलाचरण–

सबसे पहले जिन वैदिक ऋषियों ने कल्याणकारी तत्त्वों का साक्षात्कार किया उन ऋषियों को ऋषिचर्या के प्रयोजन की सिद्धि के लिए हम प्रणाम करते हैं॥१॥

शब्दशास्त्र के अनुसन्धान में वाग्विदों श्रेष्ठ महर्षि पाणिनि और नाट्यशास्त्र के शोध में विख्यात भरतमुनि को हम प्रणाम करते हैं॥२॥

निर्वचन शास्त्र के परमविज्ञ निरुक्त के प्रणेता यास्क, मीमांसाशास्त्र के प्रवर्तक जैमिनि, सांख्य के उपदेष्टा भगवान् कपिल और अद्वैत वेदान्त के पुरोधा भगवान् शंकराचार्य को हम प्रणाम करते हैं॥३॥

सूर्यसदृश तेजस्वी उत्पलदेव जो प्रत्यभिज्ञा (शैव) दर्शन के प्रवर्तक हैं और इसी प्रत्यभिज्ञादर्शन के श्रेष्ठ अनुसन्धाता हैं श्रीमद्अभिनव-गुप्तपादाचार्य, उनको हम प्रणाम करते हैं॥४॥

न्यायशास्त्र का अन्वेषण करने वाले अक्षपाद गौतम और वैशेषिक दर्शन के अनुसन्धाता महर्षि कणाद को सादर हम प्रणाम करते हैं॥५॥

संख्याओं के अक्षरों को अभिव्यक्त करने वाले महान् पण्डित आर्यभट्ट और ज्योतिष के अंकलिपि के परम ज्ञाता वाराहमिहिर को हम प्रणाम करते हैं॥६॥

ब्रह्मस्फुट आदि सिद्धान्त में जिनकी अरब आदि देशों तक प्रसिद्धि थी उन ब्रह्मगुप्त और शुल्वशास्त्र के परमज्ञाता विद्वान् बौधायन को हम प्रणाम करते हैं॥७॥

---

१. Research- "A Manual of Thesis writing" इति तस्य ग्रन्थः।

... गणित के क्षेत्र में चारों तरफ विख्यात भास्काराचार्य और आयुर्वेद के ग्रन्थ चरकसंहिता के रचयिता चरक तथा सुश्रुत को हम प्रणाम करते हैं॥८॥

शल्यक्रिया के अनुसन्धान में विख्यात विलक्षण प्रतिभा वाले शालक्य और आयुर्वेद के साथ व्याकरण महाभाष्य के प्रणेता तथा योगसूत्र के लेखक महामुनि पतंजलि को हम प्रणाम करते हैं। इनके बारे में एक पद्य प्रसिद्ध है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

ऋषिचर्या (रिसर्च) में संलग्न और नवोन्मेष के लिए विश्रुत अपने सभी पूज्य गुरुजनों को हम सादर प्रणाम करते हैं॥९-१०॥

'वत्सो वां मधुमद् वचोऽशंसीत् काव्यः कविः।'

–ऋग्वेद ८.८.११

इस मन्त्र में मधुरवाणी को काव्य कहा गया है। अतः काव्य का अधिकरण (आधार) मैने वाक् को ही माना है। क्योंकि काव्य के उन्मेष और अनुभूति में परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी चारों का योगदान रहता है। इसलिए इस कारिका में **'मधुमद्वचसोविज्ञान्'** लिखा गया है। वस्तुतः मधुमती वाक् की विज्ञता कवि में भी होती है जो दृश्य और श्रव्य काव्यों की रचना करते हैं और उसके (काव्यादि के) विचारक काव्य- शास्त्री कहे जाते हैं। इसलिए कवि और काव्यशास्त्रियों को हम प्रणाम करते हैं॥११॥

भरत आदि से काव्यशास्त्रियों की परम्परा का आरम्भ होता है और मध्य में माला में सुमेरु की तरह है आचार्य आनन्दवर्धन तथा वर्तमान में काशीधाम के आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी जो मेरे गुरु हैं इनकी मैं वन्दना करता हूँ॥१२॥

महर्षि वाल्मीकि से प्रारम्भ जिसके मध्य के प्रशस्त महाकवि कालिदास हैं तथा वर्तमान में राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ कवि अभिराज राजेन्द्र मिश्र की काव्यपरम्परा को मैं प्रणाम करता हूँ॥१३॥

महर्षि वेदव्यास से प्रारम्भ जिसके मध्य में गोस्वामी तुलसीदास (रामचरितमानस के रचयिता) हैं तथा वर्तमान काल में भट्टमथुरानाथ शास्त्री 'मञ्जुनाथ' रहे हैं उस गेय परम्परा को मैं प्रणाम करता हूँ॥१४॥

महर्षि पाणिनि आदि से प्रारम्भ और जिसके मध्य में वाक्यपदीय के प्रणेता भगवान् भर्तृहरि रहे हैं तथा वर्तमान में काशी के व्याकरण शास्त्र के महान् विद्वान् आचार्य रामयत्न शुक्ल हैं, उस वाग्विदों की परम्परा को प्रणाम करता हूँ॥१५॥

अनेक शास्त्रों के विद्वान् विशेष रूप से पुराण और ज्योतिष के लिए विश्रुत थे उन महान् विद्वान् अपने पिता पण्डित रामाभिलाष द्विवेदी को प्रणम करता हूँ॥१६॥

प्राग्वाचिक–

ऋषिचर्या पहले तत्त्वसाक्षात्कार करने वालों के कार्यव्यापार को कहा जाता था मुझे लगता है इसी से उद्भूत रिसर्च शब्द है यदि नहीं उद्भूत है तथापि उच्चारण साम्य से भारतीय सन्दर्भ में निश्चित रूप से ऋषियों के अन्वेषण की वाक्चर्या जो अकाट्य लोकोपकारी तथ्यों पर आधारित रही है उसकी अर्थच्छवि इसमें समाहित है जो गम्भीर चिन्तन और विशिष्ट नवोन्मेष की प्रेरिका है। अतः रिचर्स के लिए ऋषिचर्या शब्द संस्कृत और हिन्दी में प्रयुक्त हो यह उचित है॥१७॥

अनेक प्राक्तन ऋषियों और मनीषियों ने भारत में जो ऋषिचर्या की है इससे भारतीय संस्कृत वाङ्मय प्रकार और परिमाण में सारे विश्व से अधिक समृद्ध है॥१८॥

इन प्राक्तन महामनीषियों के विस्तृत अनुसन्धान के किसी एक अंश को लेकर शोध की उपाधि के लिए विश्वविद्यालयों में वर्तमान में शोधकार्य कराया जाता है॥१९॥

'कोल आर्थ' आदि पाश्चात्य विद्वानों के 'मैनुवल आफ थिसिस राइटिंग' प्रभृति ग्रन्थों के आधार पर आज विश्वविद्यालयों में प्रायः शोध कार्य कराये जाते हैं॥२०॥

भारतीय और पाश्चात्य दोनों विधियों का यथोचित आश्रय लेकर छात्रों के उपकार के लिए इस शोध प्रविधि की रचना की जा रही है॥२१॥

प्रथमाधिकरणे द्वितीयोऽध्यायः

१. अनुसन्धानशब्दार्थविमर्शः-

सम्प्रति- अनुसन्धानम्, अन्वेषणम्, शोधः, गवेषणा च शब्दाः आङ्ग्लभाषायाः 'रिसर्च' शब्दस्यार्थे प्रयुज्यमाना दृश्यन्ते। मया स्वकीये साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिग्रन्थे संस्कृतभाषादिशाऽनुसन्धानकृते-'ऋषिचर्या' शब्दः प्रयुक्तः-

'ऋषिचर्या पुराराष्ट्रे तत्त्वसाक्षात्कृतौ श्रुता।
मन्ये'रिसर्च' शब्दोऽयमृषिचर्योद्भवः समः॥'

तथा च-

'ऋषिचर्या रिसर्चाङ्ग्लशब्दभावावबोधिका।
तत्त्वसाक्षात्कृतिर्नूनमुभयत्र समप्रथा॥'

वेदादिग्रन्थाः परमतत्त्वसाक्षात्कारस्यैवोदाहरणानि। मन्त्रदृष्टत्वं मुनित्वञ्च भारतराष्ट्रस्यानुत्तम उदाहरणे विद्येते। चतुर्दशविद्याग्रन्था भारतीयानुसन्धान-परम्परां दृढं पुष्णन्ति। एतादृशं गभीरमनुसन्धानं कस्मिन्नपि देशे न प्राप्यते। प्राक्तनभारतीयविद्यास्रोतसः प्रवाहस्तनुकः किन्तु यथोत्तरं विपुलो यथोक्तम्-

'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति ते वन्द्याः॥'-काव्यमीमांसा २.५

चतुर्दशविद्याग्रन्थाः (अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥) एता विद्याः स्वकल्पान्तरस्थायि-न्याऽर्थवत्तयाऽद्यापि प्रासङ्गिकाः एतासां ग्रन्था लोकोपकारिणश्च विद्यन्ते। आङ्ग्लादिभाषाया द्विगुणा ध्वनिलिपिसङ्केताः संस्कृतभाषायां प्राप्यन्ते। एते यथा लिख्यन्ते तथा पठ्यन्ते। 'नो' 'बट' 'पुट' प्रभृति शब्दानामुच्चारणं श्रुत्वा यथावत् टङ्कणे यन्त्रं न समर्थं किन्तु संस्कृतशब्दोच्चारणे नास्त्येषा समस्या। संस्कृतविद्यासूच्चारणस्यापि शास्त्रं विद्यते।

यच्छिक्षाशास्त्रं कथ्यते। संस्कृतव्याकरणशास्त्रे प्रथमं विविधानां ध्वनीनामुच्चारणमेव शिक्ष्यते। अतः संस्कृतज्ञा उदात्तानुदात्तस्वरितलघुदीर्घादि-समुच्चारणे सावधाना भवन्ति। अन्यभाषामाध्यमेन संस्कृतस्याध्यापनेऽध्ययने शोधे विकृतयः सम्भाव्यन्ते। उक्तेन संक्षिप्तनिर्देशेन सुस्पष्टं विद्यते यत् संस्कृते भाषादिशा विषयदिशा च गहनमनुसन्धानं प्राक्तनैः कृतं विद्यते।

अनुसन्धानम्-अनुसमुपसर्गपूर्वक-'धा' धातौ ल्युट् प्रत्यये कृतेऽनु-सन्धानशब्दो निर्मीयते। संस्कृतभाषायाः प्राक्तने वाङ्मये प्रायशः चित्तैकाग्र्येण स्वामीष्टप्राप्तिसन्दर्भेऽनुसन्धानशब्दः प्रयुक्तो विद्यते, लक्ष्यसाधनमेवानुसन्धानम् वैदिके लौकिके च संस्कृतसाहित्ये शब्दोऽयं क्रियारूपेण कृदन्तरूपेण वा प्राप्यते। यथा 'परं ब्रह्मानुसंदध्यात्'[१]। अनुसन्दधाति[२], अकारेणात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणानुसन्दध्यात्[३], तत्साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्[४]। प्रसवयोग्यं स्थानमनुसंधीयताम्[५] सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम्[६]। सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः। नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते[७]। सन्धानं स्याद-भिषवः।[८] समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्। अनुसन्धानराहित्य-मालस्यं भोगलालसम्[९]। एवं रूपेण बहुधाऽनुसन्धानशब्दप्रयोगाः संस्कृतवाङ्मये प्रयुक्ताः प्राप्यन्ते।

अन्वेषणम्- अन्वेषणशब्दोऽपि कुत्रचित्प्रयुक्तो दृश्यते। अस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिरेवं वरीवर्ति-अनु+इष्+ल्युट् अथवा अनु+एषणम्। अयं शब्दस्त्रिधा प्रयुज्यते अन्वेषः, अन्वेषणा, अन्वेषणम्। काचित्पत्रिकाऽपि अन्वेषणा

---

१. नृसिंहोत्तापिन्युपनिषदि १०६
२. ताण्ड्यब्राह्मणे २.९.४
३. नृसिंहोत्ता० ७१८
४. कालिदासस्याभिज्ञानशाकुन्तले १.११
५. मनुस्मृतौ १२.१०६
६. कालिदासस्य कुमारसम्भवे ५.२७
७. नादविन्दुः ४१
८. अमरकोषे
९. तेजोविन्दूपनिष० १.४१

नाम्नी दृष्टचरा। यस्यां शोधपत्राणि प्रकाशितानि दृश्यन्ते। एवमयं शब्दोऽपि शोधार्थे प्रयुक्तः प्राप्यते। संस्कृतवाङ्मये प्राक्तनैरपि प्रयुक्तोऽयं शब्दः- अकारेणात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणानुसन्दध्यात्[१]। वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलुकृती[२]। रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ[३]। यथा-ऋषिचर्या शब्दः Research (रिसर्चेति) आङ्ग्लशब्दसम्बद्धस्तथैव अन्वेषणशब्दः- Invention (इनवेंशनेति) शब्देन साम्यं बिभर्ति। एतेन शब्देन कस्यचिन्नूतनस्य वस्तुनो निर्मितिर्द्योत्यते। अतोऽनुसन्धानार्थेऽस्य शब्दस्य प्रयोगोनाऽनुचितः।

गवेषणा- गवेष् धातौ ल्युट् प्रत्ययसंयोगाद् गवेषणं गवेषणा वा शब्दौ व्युत्पद्येते। काश्चन गावोऽरण्ये चरन्त्यो दूरं गत्वाऽदृश्या भवन्ति, अतस्तासां प्राप्तये गोपालकैःखुरचिह्नादिमाध्यमेन ता अन्वेष्टुं यतन्तेऽतो गवेषणा शब्दोऽनुसन्धानार्थे प्रयुक्तोऽभूदित्यनुमीयते। एतेन प्रतीयते यज्ज्ञातं वस्तु कुत्रचिन्निलीनं किन्तु तदस्ति, अतस्तस्य प्राप्तेरुपायो गवेषणा। अतः शोधार्थे शब्दोऽयं प्रचलितोऽभवत्।

शोधः- शुध् धातौ घञ् प्रत्यये कृतेऽयं शब्दो व्युत्पद्यते। एतेन विजातीयानि द्रव्याण्यपसार्य स्वाभीष्टस्य वस्तुनोऽवाप्तिः शोधशब्दस्यार्थो भवति। सम्प्रति शोधशब्दः सर्वाधिकः प्रचलितः।

हिन्दीभाषया प्रणीतेषु-आवेदनपत्रेषु प्रदत्तेषु विज्ञापनेषु च प्रायः शोधच्छात्रः शोधच्छात्रवृत्तिरितिरूपेण प्रयोगो दृश्यते। भवन्तुनाम छात्राणां कृते समानार्थबोधकाः पर्यायवाचिनः शब्दाः किन्तु संस्कृतवाग्विदांवराणां कृते धातुप्रत्ययसंयोगेन काचित्पृथगर्थान्विति: प्रत्येकं शब्दे भवति। सामान्यो-दाहरणरूपेण यथा पातीति पिता, जनयतीति जनकः, प्रीणातीति पत्नी, भर्तुं योग्या भार्या, सन्ततिजनयित्री जाया। एवं शुध्धातुना शोधनं शुद्धीकरणम्, स्वाभीष्टतथ्यनिःसारणमित्याद्यर्थवाचकः शोधशब्दः। शब्दकल्पद्रुमे शोधशब्दार्थ-विवेचनमेवं कृतम्-लेख्यशोधनमाह कात्यायनः-

---

१. नृसिंहोत्तत्तापि. उप.-७.१८
२. शाकु०-१.२४
३. रघुवंश-१२.११

स्वहस्तलेखसन्देहे जिवितस्य मृतस्य वा।
तत्स्वहस्तकृतैरन्यैः पत्रैस्तल्लेखनिर्णयः।।

विरुद्धलिखितस्य शुद्धीकरणं यथा तच्छोधनमाह बृहस्पतिः-

न्यूनाधिकं पूर्वपक्षं तावद्वादी विशोधयेत्।
न दद्यादुत्तरं यावत् प्रत्यर्थी सभ्यसन्निधौ।।

कात्यायनः-**शोधयेत्पूर्वपक्षन्तु यावन्नोत्तरदर्शनम्।**
उत्तरेणावरुद्धस्य निवृत्तं शोधनं भवेत्।। -इति व्यवहारतत्त्वम्।

नूनमेव प्राक्तनेषु शोधशब्दप्रयोगेषु शुद्धीकरणं संशोधनं वास्यार्थो गृहीतः। अर्थविस्तरत्वाच्छोधशब्दः सम्प्रति शोधप्रबन्धे, तथा च शोधगोष्ठी-शोधपत्रलघुशोधप्रबन्धशोधपरियोजनेत्यादिषु प्रयुज्यमानो बहुधा प्राप्यते। औषधसन्दर्भे धातुशुद्धिकरणे वह्नितापेन वस्तुनः शुद्धिप्रमाणीकरणे शुद्धातोः प्रयोगो निभाल्यते। वह्नौ विशुद्धामपि तत्समक्षमिति रघुवंशे कालिदासेन शुद्धातुनिष्पन्नः शब्दो व्यलेखि। अस्मिन्नेव महाकाव्ये स्वकाव्यविषये कालिदासो वक्ति-

'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपिवा।।'

-रघु०-१.१०

अतो वस्तुतत्त्वपरीक्षणेऽपि विशुद्धिशब्दः प्राप्यते।
भवतुनाम सम्प्रति शोधशब्दोऽनुसन्धानस्यैव वाचकः।

ऋषिचर्या- आङ्ग्लभाषायाः 'Research' शब्दोच्चारणनैकट्यान्मया-साहित्यानुसन्धानावबोध-प्रविधिरितिग्रन्थे 'ऋषिचर्या' शब्दोऽनुशंसितः। यतोहि ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति ते स्वचर्यया कस्यचित्तत्त्वस्यानुसन्धानं कुर्वन्ति। अनुसन्धानशब्दस्फुटीकरणे पूर्वमुपनिषदादिग्रन्था अपि मया समुद्धृता येन तथ्यमिदमारेखितमिव विद्यते। प्राक्तनकाले शोधप्रबन्धलेखनसदृशी काचित् प्रवृत्तिर्नासीत्। पाश्चात्यप्रभावेण सम्प्रति प्रायश उपाधिकृते शोधप्रबन्धाः लिख्यन्ते। प्राक्तनकाले भारते भाष्यं (चूर्णिः) व्याख्या, समालोचनम्,

विमर्शः, टिप्पणी, टीका प्रभृतिपद्धतयः शब्दाः प्रचलिता आसन्। पाणिनि-यास्क-कपिल-कणाद-गौतम-भरतमुनिप्रभृतीनामनुसन्धानं नूतनशास्त्र-प्रवर्तनरूपं विद्यते। एतेषां कर्तृत्वमन्वेषणम् (इनोवेशनरूपं) वरीवर्ति।

एभिराचार्यैः ऋषिभिर्वा शोधोपाधिकृतेऽनुसन्धानं नाकारि। एतेषामनुसन्धानं तपःपूतसाधनया कृतमद्भुतमीश्वरकृपासंवलितं वरीवर्ति। यद्यपि-ऋषिचर्या-शब्दतो यादृशी साधना ध्वन्यते तादृशी शक्तिः रिसर्चशब्दे नास्ति तथापि-उच्चारणकर्तृत्वसाम्यादयं शब्दो मयानुशंसितः। ऋषिचर्याशब्दः केवलं नवतत्त्वान्वेषणस्यैवावबोधकोऽतोऽत्र ह्यतिव्यात्यादिदोषा न सन्ति। यथा कश्चिदृषिः सर्वं सांसारिकं प्रपञ्चं विहाय-एकाग्रचित्तः सन् सत्तत्त्वान्वेषणे संलग्नो भवति तथैव शोधकर्तुरपि जीवनचर्या भवति।

वस्तुत एतादृशा एव शोधकर्त्तारः श्रेष्ठं शोधप्रबन्धं निबध्नन्ति। आचार्यराजशेखरेण काव्यमीमांसायां प्रतिपादिते शास्त्रकविलक्षणे शोधकर्तुरपि लक्षणं प्रतिपादितमिव प्राप्यते-

'भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिलुप्तं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पञ्च शास्त्रकविः॥'

—काव्यमी २.७

पद्येनैतेन शोधकर्तुः करणीयं प्रतिपादितमस्ति-

शास्त्रकविः (विद्वान्) लीनमर्थं प्रथयन् (विस्तृतं कुर्वन्) समभिलुप्तं (अदृश्यं/अज्ञातमर्थं) स्फुटीकुर्वन् (प्रकटीकुर्वन्) अल्पं (संक्षिप्तं) अनल्पं (विस्तृतं) रचयन् (कुर्वन्) अनल्पं (विस्तृतं) अल्पं (संक्षिप्तेन) विस्तरेण प्रतिपादयन् भवति।

सामान्यतया सर्वे शास्त्रकारा एवमेव कुर्वन्तो दृश्यन्ते। व्याकरण-शास्त्रमस्य सर्वोत्तममुदाहरणम्। तत्रापि संज्ञाप्रकरणं संज्ञासूत्राणि वा राजशेखरकथनमन्वर्थी कुर्वन्ति। **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** इति सूत्रमल्प-स्योदाहरणं तस्य वृत्तिः तदुपरि स्पष्टीकरणञ्च विस्तरस्योदाहरणम्। सूत्राणि कारिकाश्च चेदल्पस्य तर्हि तद्व्याख्या भाष्यादिकमनल्पस्योदाहरणानि सन्ति। एषा पद्धतिः क्रमबद्धता च शोधप्रबन्धेऽपि स्यादित्युचितम्।

अनुसन्धानसम्पादनप्रविधि

१. अनुसन्धान शब्दार्थ विमर्श–

इस समय अनुसन्धान, शोध, गवेषणा, और अन्वेषणा शब्द अंग्रेजी के (Research) रिसर्च शब्द के अर्थ के रूप में प्रयुक्त दिखाई देते हैं। मैंने अपने पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि में संस्कृत भाषा की दृष्टि से 'ऋषिचर्या' शब्द का प्रयोग किया है–

ऋषिचर्या पुराराष्ट्रे तत्त्व साक्षात्कृतौ श्रुता।
मन्ये रिसर्चशब्दोऽयं ऋषिचर्योद्भवः समः॥

– प्राग्वाचिक का. १७

अन्यत्र भी–

ऋषिचर्या रिसर्चाङ्ग्लशब्दभावावबोधिका।
तत्त्वसाक्षात्कृतिर्नूनमुभयत्र समप्रथा॥

ऋषिचर्या शब्द रिसर्च शब्द से अधिक संस्कृत में व्यापक है क्योंकि उसमें ऋषि का स्वयं का अपना साक्षात्कृत अधीति, अवबोध आचरण और प्रचार का भाव और स्वयं के अनुभव की मौलिकता समाहित है किन्तु री+सर्च (पुनः शोध) खोजे गए पर पुनर्विचार करना इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होगा किन्तु ऋषिचर्या में नवनवोन्मेष अन्तर्गर्भित है।

वैदिक संहिताएँ अपौरुषेय कही जाती हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने इनका साक्षात्कार किया है। भारतीय ऋषियों और मननशील मुनियों का कर्तृत्व विश्व में सर्वोत्तम है। इस प्रकार का गम्भीर अनुसन्धान विश्व में कहीं नहीं प्राप्त होता।

चौदह विद्यास्थान भारतीय अनुसन्धान के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। ये भारत की प्राक्तन अनुसन्धान परम्परा की दृढ़ पुष्टि करते हैं। इस प्रकार का गम्भीर अनुसन्धान किसी देश में नहीं प्राप्त होता है। प्राक्तन भारतीय विद्याओं का प्रवाह छोटे आकार में था धीरे-धीरे विस्तार प्राप्त करता गया

जैसा कि कहा गया है– 'जिस प्रकार उद्गम स्थल में नदी का जल प्रवाह पतला रहता है फिर आगे बढ़ता जाता है उसी प्रकार शास्त्रों का प्रवाह पहले संक्षिप्त रूप में रहता है किन्तु बाद में विस्तृत रूप में हो जाता है।'

चतुर्दश विद्याएँ इस प्रकार हैं– चार वेद (ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व) छह अङ्ग- निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष, कल्प, छन्द और शिक्षा मीमांसा और न्याय जो दो हैं, (किन्तु विस्तृत होकर वेदान्त, वैशेषिक, साङ्ख्य, योग, प्रत्यभिज्ञा आदि के रूप में विस्तार को प्राप्त हो गए हैं अवैदिक दर्शन भी भारत में ही विकसित हैं- बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, चार्वाक् दर्शन आदि) धर्मशास्त्र और पुराण। आचार्य राजशेखर पञ्चदशी विद्या साहित्य को मानते हैं।

ये विद्याएँ अपनी कल्पान्तर स्थायिनी अर्थवत्ता के कारण आज भी प्रासङ्गिक हैं भविष्य में भी रहेंगी क्योंकि ये सभी परमलोकोपकारिणी हैं। आङ्ग्लादि भाषा की तुलना में दोगुने से अधिक वर्ण (अक्षर) इस भाषा में हैं जैसे यदि अंग्रेजी में छब्बीस अक्षर हैं तो इसमें बावन। संस्कृत भाषा की विशेषता है कि इसमें जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है अग्रेंजी में But और Put दोनों में मध्य में 'U' है किन्तु उसे 'बट' और 'पुट' पढ़ा जाता है– No (नो) know (नो) इस प्रकार दोनों का एक उच्चारण है किन्तु अर्थ विपरीत हैं। संस्कृत भाषा के उच्चारण में ऐसी समस्या नहीं है। संस्कृत भाषा का उच्चारण का शास्त्र भी है जिसे शिक्षा कहते हैं। लघुसिद्धान्तकौमुदी के संज्ञा प्रकरण में भी उच्चारण- स्थान, प्रयत्न आदि का निरूपण है। संस्कृत वेदादि के उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित (उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः समाहारः स्वरितः) का तथा छन्दः शास्त्र के अनुसार लघु और गुरु का उच्चारण करते हैं। पदों में यदि पूर्व अक्षर लघु है किन्तु उसके ठीक आगे का संयुक्त अक्षर है तो वह भी गुरु हो जाता है जैसे 'राम प्रसाद' शब्द में 'म' गुरु पढ़ा जाएगा क्योंकि आगे का अक्षर 'प' 'र' से संयुक्त है। संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन और शोध में अन्य भाषा का उपयोग

करने से विकृति आने की संभावना बनी रहती है। उक्त संक्षिप्त निर्देश से यह बात सुस्पष्ट है कि संस्कृत के प्राक्तन मनीषियों ने भाषा और विषय की दृष्टि से गहन चिन्तन और अनुसन्धान किया है जिससे संस्कृत भाषा चिरनूतन और अमर है।

अनुसन्धान– अनु-उपसर्गपूर्वक धा धातु में ल्युट् प्रत्यय करने पर अनुसन्धान शब्द बनता है। संस्कृत के प्राचीन वाङ्मय में प्रायः अनुसन्धान शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता अपने अभीष्ट की प्राप्ति के सन्दर्भ में दिखाई देता है। वैदिक तथा लौकिक वाङ्मय में यह कभी क्रिया के रूप में तथा कभी कृदन्त के रूप में प्राप्त होता है। यथा–परं ब्रह्मानुसन्दध्यात् (नृसिंहोत्तापिनी-उपनिषद् १०६) अनुसन्दधाति ताण्ड्य ब्राह्मण २.९.४, अकारेणात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणानुसन्दध्यात्- नृसिंहोत्तापिनी-उपनिषद्- ७१८) तत्साधुकृत्सन्धानं प्रतिसंहरसायकम्- (अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.११ प्रसवयोग्यं स्थानमनुसन्धीयताम्- (मनुस्मृति १२.१०६) सरोजसन्धानमिवाऽकरोदपाम्-(कुमारसम्भव ५/२७), सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः। नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते॥ (नादविंदु ४)। सन्धानं स्यादभिषवः। (अमरकोष), समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्। अनुसन्धानसाहित्यमालस्यं भोगलालसम्॥ (तेजोविन्दूपनिषत् १.४)। इस प्रकार लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न अनुसन्धान कहा जाता है॥

अन्वेषण– अन्वेषण शब्द शोध के लिए यत्र-तत्र प्रयुक्त दिखाई देता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- अनु+इष्+ल्युट् अथवा अनु+एषणम्। इसका तीन प्रकार से प्रयोग होता है-अन्वेषः, अन्वेषणा, अन्वेषणम्। 'अन्वेषणा' नामक एक पत्रिका भी दिल्ली से प्रकाशित होती थी। संस्कृत वाङ्मय में इस शब्द का प्रयोग मिलता है–'अकारेणात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणानुसन्दध्यात्।' नृसिंहता. उपनिषद्, 'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर। हतास्त्वं खलु कृती।' अभिज्ञानशाकु. १.१४। रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामाभिषतां ययौ॥ (रघुवंश. १२)॥ जैसे ऋचिचर्या का Research (रिसर्च) से ध्वनिसाम्य है, उसी प्रकार अन्वेषण शब्द का Invenation (इनवेंशन)

शब्द का अधिक ध्वनिसाम्य है। इसका तात्पर्य कोई मौलिक खोज या आविष्कार है। अतः यह शब्द भी शोध के लिए प्रयुक्त है। संस्कृत के प्रकृति प्रत्यय से निर्मित कोई शब्द धातु और प्रत्यय के कारण भिन्नार्थक होता है। उचित पर्याय का प्रयोग कथ्य को स्फुटित करने में सहयोगी होता है। अत एव महर्षि वाल्मीकि के मार्गदर्शक को वाग्विदांवर मुनिपुंगव और तपःस्वाध्याय निरत कहा गया। कालजयी प्रबन्ध या काव्य रचना में भाषा में प्रयुक्त शब्दों का बहुत बड़ा योगदान होता है।

गवेषणा– गवेष् धातु में ल्युट् प्रत्यय करने पर 'गवेषणम्' शब्द बना किन्तु व्यावहारिक रूप में प्रायः गवेषणा का ही प्रयोग होता है। जंगल में चरती हुई गाय जब ओझल हो जाती थी तब उसके खुरों के चिह्नों और वनस्पतियों की स्थिति से अनुमान लगाकर तथा उसके रंग उम्र आदि को बताकर उसे खोजा जाता था। इसलिए खोजने की स्थिति के कारण यह शब्द शोध या अनुसन्धान के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

शोधः- शुध् धातु में घञ् प्रत्यय करने पर 'शोधः' शब्द बनता है शोधन शब्द भी इसी धातु से बना है किन्तु व्यवहार में लेखादि का संशोधन करना, कभी किसी विजातीय द्रव्यों की किसी वस्तु से अलग कर उसे स्वच्छ करना आदि इसका अर्थ होता है, औषध आदि के लिए भी शोधन क्रिया से उसे उपयोगी बनाया जाता है।

सम्प्रति हिन्दी और संस्कृत में सर्वाधिक इसी शब्द का प्रयोग किया जाता है। आवेदन पत्रों और विज्ञापनों में शोधच्छात्रवृत्ति और शोधच्छात्र शब्द का ही प्रयोग दिखाई देता है। प्रायः यह शब्द अंग्रेजी के 'रिसर्च' शब्द के अर्ध में अधिकतम प्रयुक्त होने से इसी अर्थ में रूढ़ हो गया है।

वस्तुतः संस्कृत के व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ अपनी परिभाषा स्वयं बताते हैं। अतः ऋषिचर्या में शोधप्रबन्ध का नाम अर्थात् शीर्षक तथा उसके अध्यायादि के विभाजन में उसके कथ्य और तथ्य को स्फुटित करने वाले उचित शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए। अतः किसी श्रेष्ठ वाग्विद् और विषय के तलस्पर्शी ज्ञाता के मार्गदर्शन में शीर्षक और

अध्याय विभाजन में उचित पदों का प्रयोग करते हुए रूपरेखा आदि का निर्माण करना चाहिए। शब्दकल्पद्रुम में शोध शब्द को स्पष्ट करने लिए कुछ आचार्यों के मत दिए गए हैं–

लेख शोधन के विषय में कात्यायन का मत–

अपने स्वयं लिखे हुए पर सन्देह होने अथवा अन्य किसी जीवित या मृत के लेख पर सन्देह हो तब अपने द्वारा स्वयं पन्नों पर शुद्ध रूप में लिखकर उसमें सुधार कर लिखकर उसका निर्णय (निश्चित और उचित) करना शोध कहा जाता है।

विरुद्ध लिखित को शुद्धीकरण के बारे में बृहस्पति ने कहा है–

'किसी विरुद्ध (जो शास्त्र सम्मत नहीं है) उसका वादी शास्त्रार्थी विद्वान् न्यून या अधिक पूर्वपक्ष का तब तक शोधन करता रहे जब तक विद्वानों के सामने अपने शास्त्र विरुद्ध मत का प्रतिवादी उत्तर देना बन्द न करदे, अर्थात् वह मान ले कि वादी ठीक कह रहा है।' व्यवहार तत्त्व में कात्यायन का मत इस प्रकार है– पूर्वपक्ष का तब तक वादी को शोधन करना चाहिए जब तक सही उत्तर नहीं दिया जाता, यदि उत्तर से शोधन अवरुद्ध हो जाता है अर्थात् प्रतिवादी अपने मत को सही सिद्ध कर देता है तब शोधन से निवृत्त हो जाना चाहिए, जो उचित सिद्ध होता है उसे मान लेना चाहिए।

आज भी शोधपत्रों और प्रत्यक्ष रूप से आमने-सामने बैठकर शास्त्रीय तथ्यों के औचित्य पर गोष्ठियों में विचार करने की परम्परा है। कुछ वर्षों पूर्व आचार्य चण्डिका प्रसाद शुक्ल (प्रयागराज निवासी) ध्वन्यालोक की दीपशिखा टीका में अभिनव गुप्त की टीका का खण्डन कर रहे थे तब आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी 'सनातन' (वाराणसी निवासी) से विशालकाय पत्रों का आदान प्रदान हुआ था और आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल की दीपशिखा टीका के औचित्य को स्वीकार कर लिया था। संगोष्ठियों में भी शोधपत्रवाचन के समय तथ्यों की निश्चिति पर गम्भीर परामर्श कर शास्त्रीय मतों पर विचार-विमर्श होता है।

निश्चित रूप से प्राक्तन शोधशब्द के प्रयोग में शुद्धीकरण या संशोधन अर्थ गृहीत है। किन्तु वर्तमान में इसका अर्थविस्तार हो गया है अतः शोधप्रबन्ध, शोधगोष्ठी, लघुशोधप्रबन्ध, शोधपरियोजना आदि में पूर्वपद के रूप में इसका प्रयोग चल पड़ा है जो अनुसन्धान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। औषध के सन्दर्भ में धातु शुद्धि आदि में अग्नितप से वस्तु की शुद्धि का प्रमाणीकरण करने में भी इस शब्द का प्रयोग प्रचलित रहा है। मानवीय शुद्धि के प्रमाण में वह्निशुद्धि का प्रयोग प्राप्त है। धातु और मनुष्य दोनों की वह्निशुद्धि का उल्लेख महाकवि कालिदास करते हैं–

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा-
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥ - रघु. १४/६१

सीता कहती हैं अग्नि ने मेरी शुद्धता प्रमाणित कर दी है तब भी मुझे राजा ने छोड़ दिया। इस प्रकार प्रथम सर्ग में कालिदास अपनी रचना की शुद्धि के विषय में कहते है जिसमें धातुशुद्धि का उपमान प्रस्तुत करते हैं–

तं सन्तं श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा॥ १.१०

इस प्रकार शोध का तात्पर्य विजातीय वस्तुओं को अलग कर उपयोगी तत्त्व या तथ्य को ग्रहण करना है।

ऋषिचर्या– पाश्चात्यों के अन्धानुकरण के कारण संस्कृत के शब्दों और प्रकृति प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों के प्रयोग करने से ध्यान हट जाने के कारण हिन्दी बोलते और लिखते समय रिसर्च शब्द का प्रयोग करने का अभ्यास हो गया है अतः अधिकतम ध्वनिसाम्य वाले शब्द ऋषिचर्या को रिसर्च के स्थान पर मैंने उचित माना है। **'नानृषिः कविरित्युक्तः, ऋषिश्च किल दर्शनात्'** (जो ऋषि नहीं वह कवि नहीं कहा गया है और जो ऋषि है वह तत्त्वों का साक्षात्कार करता है।)

तथा **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'** (ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं) चर्या का अर्थ है कार्यव्यापार निरन्तर चिन्तन द्वारा नवोन्मेष (नए लोकोपकारी तत्त्वों की खोज करना) इसलिए 'ऋषिचर्या' शब्द रिसर्च के लिए मैंने उपयुक्त माना है। गवेषणा, अनुसन्धान, अन्वेषण और शोध आदि की अपेक्षा इसके अर्थ में विचलन नहीं है। अतः 'ऋषिचर्या' शब्द ही भारतीय सन्दर्भ में व्यापक अर्थों का बोधक और उचित है। इसमें पूर्वपद में प्रयुक्त ऋषि शब्द भी भारतीय संस्कृति में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य और श्रेष्ठ परमार्थज्ञानी का बोधक है, जिसमें सच्चारित्र्य और सत्प्रेरणा निहित है। मेरी दृष्टि से हिन्दी और संस्कृत भाषा में रिसर्च के स्थान पर ऋषिचर्या शब्द का प्रयोग किया जाय यह मेरी दृढ़ अनुशंसा भी है और श्रेष्ठ विद्वानों से प्रणतिपूर्वक निवेदन भी है। ऋषिचर्या शब्द में तपस्या, स्वाध्याय, ध्येय प्राप्ति की निष्ठा, आचार की उच्चता ये सभी समाहित हैं। अतः शोधच्छात्रों को यह शब्द भी भारतीयता सत्कार्य निष्ठा की ओर अग्रेसर करेगा।

पूर्व में अनुसन्धान शब्द को समझाने में उपनिषदों और काव्यों से अनुसन्धान या सन्धान शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास मैंने किया है। प्राक्तन काल में आज की तरह कोई विषय या शीर्षक निश्चित कर प्रबन्ध लेखन की प्रथा नहीं थी। पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के प्रभाव से उच्चोपाधि की प्राप्ति के लिए शोधप्रबन्ध लिखे जाते हैं। पहले भाष्य (चूर्णि) व्याख्या, विमर्श, समालोचना, टिप्पणी, टीका, अवेक्षण और वृत्ति आदि शास्त्र काव्यावबोध की पद्धतियाँ थी। पाणिनि, यास्क, कपिल, गौतम, और भरतमुनि आदि का अनुसन्धान नवीनशास्त्र के प्रवर्तन के रूप में था। इन आचार्यों और ऋषियों ने शोधोपाधि के लिए ग्रन्थ नहीं लिखे। इनका अन्वेषण तपःपूतसाधना से उद्भावित और ईश्वर कृपा से संवलित रहा है।

यद्यपि ऋषिचर्या शब्द से जिस प्रकार की साधना अभिव्यंजित होती है रिसर्च शब्द से उस प्रकार का अर्थावबोध नहीं होता तथापि अधिकतम ध्वनिसाम्य के कारण इसे मैनें रखना चाहा है। ऋषिचर्या शब्द

केवल नूतन तत्त्वान्वेषण से ही सम्बद्ध है अतः इसमें अतिव्याप्ति आदि दोष नहीं हैं। जैसे ऋषि सांसारिक अन्य प्रपञ्च को छोड़कर एकाग्रचित्त होकर सत्तत्त्व के अन्वेषण में संलग्न रहता है उसी प्रकार शोधकर्ता की भी जीवनचर्या होती है तभी श्रेष्ठ शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करता है।

आचार्य राजशेखर ने शास्त्रकवि के स्वरूप प्रतिपादन में शोधकर्त्ता की प्रवृत्ति भी आरेखित की है- शास्त्रकवि (विद्वान्) लीनमर्थं प्रययन् (छिपे अर्थ को विस्तारित करता है।) समभिलुप्तम् (अदृश्य अज्ञात अर्थ को) स्फुटीकुर्वन् (स्फुरित करता है।) अल्पम् (थोड़े को) अनल्पम् (विस्तृत ...) करता है, विस्तृत रूप में प्रतिपादित करता है।

इस पद्य में शोधकर्त्ता का करणीय प्रतिपादित है। सभी शास्त्रकार सूत्ररूप में कथित का विस्तार करते हैं। उदाहरण के लिए संज्ञाप्रकरण का सूत्र सवर्ण संज्ञा करता है- **तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्** जिन वर्णों का वागिन्द्रिय (मुख के उच्चारण स्थान) समान तथा उनका प्रयत्न भी समान होता है उनकी सवर्ण संज्ञा होती है। इसी प्रकार तर्कभाषाकार प्रारंभ में न्याय के सूत्र **'प्रमाणप्रमेयादि'** को प्रथमतः उद्धृत कर सभी तत्त्वों का विस्तृत निरूपण करते हैं तर्कसंग्रह में प्रथमतः सात पदार्थों का उल्लेख कर उनके भेदों और स्वरूपों का प्रतिपादन करते हैं। साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों प्रायः काव्यस्वरूप का प्रतिपादन कर उसी के प्रत्येक घटक का निरूपण किया जाता है जैसे 'साहित्यदर्पण' में आचार्य विश्वनाथ ने–

वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः॥ सा. द.

इन्हीं का पूरे ग्रन्थ में पहले वाक्य में उपलब्ध शब्द, अर्थ, शक्ति आदि का निरूपण कर फिर रसादि का निरूपण करते हैं। यदि गम्भीरता से ध्यान दिया जाय तो शास्त्रकारों के प्रारंभिक कथन उनके ग्रन्थ की रूपरेखा ही होते हैं। आधुनिक शोधप्रबन्धलेखन में इसी प्रकार विषय निर्धारित कर उसकी रूपरेखा तैयार की जाती है। यह प्रबन्ध लेखन की पद्धति प्राक्तन है, जिसकी ओर शोधप्रविधि लेखकों ने भी ध्यान नहीं दिया है।

प्रथमाधिकरणे तृतीयोऽध्यायः

३.१ अनुसन्धानप्रविधिविमर्शः

३.१ विधीयत इति विधिः (विधानम्) प्रकृष्टो विधिःप्रविधिः। विधिशब्दः ब्रह्मणो वाचकः यथोक्तममरकोषे-**'स्रष्टाप्रजापतिः वेधा विधातात्रिश्वसृड्विधिः।'** सम्प्रति प्रविधिराङ्ग्लभाषायाम्-टेकनीक (Technique) इति कथ्यते। सृष्टौ काचित्प्रक्रिया पद्धतिर्वा भवति। पद्धतेः कृते-आङ्ग्लभाषायां मेथोडोलाजी (Methodology) कथ्यते। प्रक्रिया, पद्धतिः प्रविधिश्च समार्थिनः शब्दा दृश्यन्ते किन्तु संस्कृतभाषाशब्दकोशो महान् पर्यायवाचिनः शब्दा अपि धातुप्रत्ययोगेन किञ्चिद्भिन्नार्थका भवन्ति। यथा प्रक्रियाशब्दोऽधिकारवाचको नियतविधिवाचकश्च, सन्नपि प्रकृष्टकार्य-वाचकोऽपि विद्यते प्रोपसर्गयोगात्।

पद्भ्यां हन्ति गच्छतीति पद्धतिः। वस्तुतः परम्परागतस्योचितस्य मार्गस्य वाचकोऽयं शब्दः यथोक्तं कालिदासेन रघुवंशे (३.४६) 'पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वराः मलीमसामाददते न पद्धतिम्' जगतः सृष्टिकर्ता विधिः। शोधकार्येऽपि काचिन्नवा सृष्टिरेव क्रियतेऽतः प्रोपसर्गेण समुचितं प्रकृष्टं वा सर्जनं ध्वन्यते। अत एव मया साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिग्रन्थे प्रोक्तम्-

शोधप्रबन्धविन्यासप्रक्रिया प्रविधिर्मतः।
जगत्सृष्टिकरो ब्रह्मा विधाता विधिरुच्यते[१]॥१॥

---

१. तं वेधाविदधे नूनं महाभूतसमाधि ना।
तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः॥ रघु०-१/२६
एवमेव शोधप्रबन्धसर्जनस्य प्रविधिरेतादृशः स्याद् येन तस्य सृष्टेः परिणामाः परार्थैकफला गुणा भवन्तु। अर्थाल्लोकशास्त्रोपकारिणी सा रचना (शोधप्रबन्धः) भवतु। काव्यप्रबन्धो भवतु वा शोधप्रबन्धस्तत्र लोकस्य शास्त्रस्य च कल्याणं निहितं स्यात्।

सर्जनप्रक्रियार्थेऽतःप्रपूर्वो विधिरुच्यते।
नियतेर्नियमाः सृष्टावपेक्ष्यन्ते विधेःकृतौ।।२।।

तद्राहित्यं हि काव्यादौ मन्यन्ते मम्मटादयः।
लोकशास्त्रे समाश्रित्य साहित्यं सृज्यते बुधैः।
तदनुध्यानमेवात्र शोधे विज्ञैर्विधीयते।।३।।

नैकरूपं हि साहित्यं प्रविधौ तेन भिन्नता।
अतस्तन्निश्चितं रूपं वक्तुं कः पारयिष्यति।।४।।

स्थूलदृष्ट्यैव यद्रूपं सर्वव्यापि विराजते।
वक्तुं तत्सम्भवं जातु यथा वासौकसां स्थितौ।।५।।

तथा ध्रुवाणि शोधेऽपि सन्ति तत्त्वानि कानिचित्।
कलाविश्रामपाकादिकक्षाणां वै गृहे स्थितिः।।६।।

शोधे च भूमिकातत्त्वसन्धानमुपसंहृतिः।
सन्दर्भाणाञ्च सङ्केतः प्रस्तूयन्तेऽनिवार्यतः।।७।।

धनाधिक्ये यथागेहं ध्रुवमङ्गति भव्यताम्।
तथा ज्ञानस्य बाहुल्ये शोधो रम्यत्वमङ्गते।।८।।

ऋषिचर्या यथातत्त्वसाक्षात्काराय कल्पते।
तथैव शोधकर्त्ताऽपि ह्यन्विष्यति नवं नवम्।।९।।

अभियन्तुर्निदेशेन परमा गेहनिर्मितिः।
योग्यनिर्देशतस्तद्वत् प्रबन्धो लिख्यते परः।।१०।।

३.२ साहित्यशोधप्रविधिः-

रचनात्मककाव्यादि लोकदृष्ट्या प्रवर्त्तते।
अतः क्रोडीकृतान्यत्र शास्त्रतत्त्वान्यपि क्वचित्।।११।।

बहुधाकाव्यशास्त्रस्य दिशा शोधोऽत्र जायते।
अन्विष्यते यथालब्धमन्यशास्त्राण्यपि क्वचित्।।१२।।

अन्यशास्त्रदिशा दृश्यश्रव्यादीनां च शोधने।
तस्य शास्त्रस्य सिद्धान्तज्ञानं सम्यगपेक्ष्यते।।१३।।

वेदेषु च तदङ्गेषु विद्यास्थानेषु वा पुनः।
अन्याधुनिकशास्त्रेषु शोधे कृतमतिर्बुधः।।१४।।

शोधस्य विषयं सम्यक् पठित्वा सर्वदृष्टितः।
तदपेक्षिततत्त्वेषु शोधं कर्त्तुं हि चेष्टताम्।।१५।।

अन्यबन्धे कृतं कार्यं दृष्ट्वा शोधं तथाविधम्।
कर्तुमर्हति शोधार्थी शोधे स्याच्चेन्नवीनता।।१६।।

3.1 अनुसन्धानप्रविधिविमर्शः

विधि शब्द ब्रह्मा का वाचक होने के साथ तकनीक (कोई कार्य करने की प्रक्रिया) को कहते हैं धर्मशास्त्र में विधि और निषेध में शास्त्रविहित नियम विधि है जो करना अनुचित है उसे निषेध कहते हैं। विधि शब्द ब्रह्मा का पर्याय होने से, सर्जन ब्रह्मा का कार्य है, अतः उन्हें 'विश्वसृट्' कहा जाता है। विधि शब्द सर्जन करने का वाचक है इस शब्द में 'प्र' उपसर्ग लगने पर प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) विधि को प्रविधि कहा जाता है जिसे अंग्रेजी Technique और हिन्दी तकनीक कहा जाता है। पद्धति भी प्रायः इसका समानार्थी शब्द है जिसे अंग्रेजी में Methodology (मेथेडोलाजी) कहा जाता है। प्रक्रिया, पद्धति और प्रविधि तीनों समानार्थी हैं व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में कुछ भिन्नता दिखाई देती है। प्रक्रिया शब्द नियतविधि वाचक और प्रकृष्ट कार्य वाचक भी है क्योंकि उसमें 'प्र' उपसर्ग है। पद्भ्यां हन्ति (गच्छति) इति पद्धतिः। वस्तुतः परम्परागत उचित मार्ग के लिए पद्धति शब्द का प्रयोग मिलता है। रघुवंश में **'पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वराः मलीमसामाददते न पद्धतिम्'** (३.४६) जगत् का सृष्टिकर्ता विधि है अतः किसी प्रकृष्ट सर्जन के लिए प्रविधि शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। जो वर्तमान में तकनीक के अर्थ में रूढ़ सा हो गया है। 'साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि' में मैंने इसका निरूपण इस प्रकार किया है–

शोधप्रबन्ध-विन्यास की प्रक्रिया को प्रविधि कहा जाता है, जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा विधाता को विधि कहा जाता है अतः प्रबन्ध-

सर्जन की प्रक्रिया को भी प्रविधि कहा जाता है, प्रकृति के नियम ब्रह्मा की रचना के लिए अपेक्षित होते हैं॥१,२॥

किन्तु काव्यादि के लिए मम्मट आदि आचार्य नियति कृत नियमों का अभाव मानते हैं काव्य के उन्मेष और अनुभूति में अपनी प्रतिभा द्वारा कवि कल्पना करके लिखता है और उसकी अपरोक्षानुभूति ही सहृदय करता है। दृष्यमान लोक और शास्त्र का आश्रय लेकर साहित्य का सर्जन किया जाता है और लोक और शास्त्र की दृष्टि से ही विज्ञजन (सहृदय) उसकी अनुभूति करते हैं॥३॥

साहित्य का एक ही रूप नहीं होता उसमें विविधता होती है, अतः उसके अनुसन्धान की प्रविधि में भी भिन्नता होगी, अतः उसका निश्चित रूप बताने में कोई समर्थ नहीं हो सकता॥४॥

स्थूल दृष्टि से जो सर्वव्यापी स्वरूप है उसको ही बताना कभी-कभी सम्भव हो सकता है जैसे आवास गृहों की स्थिति होती है उसी प्रकार शोध में कुछ निश्चित चीजे हैं जिन्हे बताया जा सकता है जैसे आवास गृहों में कलाकक्ष (स्वागत का कमरा) भोजनालय, शयनकक्ष, स्नानघर आदि होते हैं उसी प्रकार शोधप्रबन्ध के कुछ निश्चित तत्त्व हैं जो रहते हैं॥५,६॥

प्रत्येक शोध प्रबन्ध में भूमिका, विवेच्यविषय का विस्तृत तत्त्वानुसन्धान और अन्त में उपसंहार (शोध का निष्कर्ष) सन्दर्भों के संकेत अनिर्वायतः प्रस्तुत किए जाते हैं॥७॥

जिस प्रकार धनाधिक्य होने पर सारी सुविधाओं से युक्त भव्य भवन का निर्माण होता है उसी प्रकार ज्ञान (अध्ययन और सम्यक् अवबोध) का आधिक्य होने पर निश्चित रूप से शोध प्रबन्ध भी रमणीय बन जाता है॥८॥

ऋषियों की चर्या (उनकी साधना नये लोकोपकारी तथ्यों की खोज का प्रयत्न) जिस प्रकार समीहित तत्त्वों के साक्षात्कार में सफलता प्राप्त करती है उसी प्रकार शोधकर्त्ता भी नए तत्त्वों और तथ्यों की खोज करता है॥९॥

जैसे योग्य अभियन्ता के निर्देशन में श्रेष्ठ सुविधायुक्त भवन का निर्माण होता है उसी प्रकार श्रेष्ठ (सुयोग्य) निर्देशन में शोधप्रबन्ध भी उत्तम कोटि का लिखा जाता है॥१०॥

(पहले रामायण के रचयिता वाल्मीकि के निर्देशक तपःस्वाध्यायनिरत, वाग्विदांवर और मुनिपुङ्गव नारद का उदाहरण दिया जा चुका है जिसमें निर्देशक की योग्यता आरेखित है। यही भारतीय प्रबन्ध निर्देशक की योग्यता है)

3.2 साहित्यशोधप्रविधि

रचनात्मक काव्य, कथा, नाटकादि लोक पर आधृत और लोकोपकार की दृष्टि से रचे जाते हैं अतः उनमें शास्त्रों (चतुर्दशविद्याओं) के तत्त्वों की अन्विति रहती है॥१॥ बहुधा काव्यशास्त्र की दृष्टि से इन पर शोध किया जाता है। तथापि कभी-कभी यथोपलब्ध कृतियों में किये गये शास्त्रीय संकेत भी प्राप्त होते हैं॥ (शास्त्र सम्मत लेखन हमारी भारतीय परम्परा रही है। शास्त्रों में यथास्थल ऐसे निर्देश भी प्राप्त होते हैं यथा श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

भ. गीता- ६.२३,२४

शिशुपालवध, नैषधीयचरित, भवभूति और कालिदास की कृतियों पर मेरे निर्देशन में शोधप्रबन्ध लिखे गए हैं जो कृतियों के शास्त्रीय सन्दर्भ पर आधारित हैं।)॥२॥

टिप्पणी- वस्तुतः शास्त्रों में जो आदेशात्मक रूप से- 'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान् मा प्रमदः, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव आदि आदेशात्मक या उपदेशात्मक कथन हैं, प्रशस्त कवि पात्रों के चरितविन्यास में उन्हें व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत कर लोकोत्तराह्लादक बनाकर सहृदय को प्रेरणा देते हैं।'

अन्य शास्त्र की दृष्टि से दृश्य और श्रव्य काव्यों पर यदि शोधकार्य करना हो तो उस शास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान होना आवश्यक है॥३॥

वेद- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा उनके आगे (निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, कल्प और शिक्षा) अन्य विद्यास्थान- मीमांसा न्याय आदि दर्शनों तथा धर्मशास्त्र पुराण अथवा अन्य आधुनिक, राजनीति, समाज, अर्थ, पर्यावरण आदि शास्त्र। इनमें किसी शास्त्रीय तत्त्वों की खोज साहित्यिक कृति में करनी हो तब इन शास्त्रों का भी तात्त्विक ज्ञान आवश्यक है॥३॥

शोध के विषय को प्रत्येक दृष्टि से पढ़कर उसमें प्रत्यक्षतः व्यक्त अथवा वस्तुविन्यास में अनुस्यूत अपेक्षित तत्त्वों की खोज करनी चाहिए॥५॥

पूर्वलिखित शोधप्रबन्ध का विषय सामान्यतया शोधविषय नहीं बनाना चाहिए। यदि उसमें कोई मौलिक आधान करना हो तब उस विषय को ग्रहण करना चाहिए। अन्य शोधग्रन्थ की सामग्री को यथावत् ग्रहण करने पर साहित्यिक चोरी के अन्तर्गत दण्डित करते हुए शोध प्रबन्ध निरस्त किया जा सकता है॥६॥

अब नियम यह है कि अनेक विद्वानों और शोधच्छात्रों के समक्ष शोधप्रबन्ध की मौखिक परीक्षा ली जाती है जिसकी रिकार्डिंग होती है उसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को भेजा जाता है तथा शोधप्रबन्ध की सी.डी. भी भेजी जाती है। उसका अन्य ग्रंथों और शोध प्रबन्धों से मिलान भी किया जाता है नकल पाए जाने पर उपाधि तो निरस्त होगी ही दण्डात्मक कार्यवाही की जा सकती है। अतः मौलिक लेखन आवश्यक है।

प्रथमाधिकरणे चतुर्थोऽध्यायः

शोधनिर्देशकार्हताविमर्शः

सम्प्रति विश्वविद्यालयानुदानायोगेन निर्धारिता शोधनिर्देशकयोग्यतैवं वरीवर्ति–अधिमान्यविश्वविद्यालयशोधसंस्थानस्नातकोत्तरमहाविद्यालयेषु नियमितरूपेण नियुक्तः प्राध्यापको यः स्वयं विद्यावारिध्युपाधियुक्तः पञ्चवर्षीयानुभवयुक्तो यस्य न्यूनतमानि पञ्चशोधपत्राणि मान्यशोधपत्रिकासु प्रकाशितानि, अथवा पञ्चपुस्तकानि प्रकाशितानि। सम्बद्धविश्वविद्यालयस्य तद्विषयशोधसमित्या तस्य निर्देशकरूपेण मान्यताऽपि प्रदत्ता स्यात् स शोधनिर्देशकरूपेण मान्यो भवति।

आर्षग्रन्थेषु निर्देशकार्हताऽन्वेषण आदिकाव्ये वाल्मीकिरामायणस्य प्रथमे श्लोक एव निर्देशकार्हता सुस्पष्टमारेखिता। एतेन प्रतीयते यदद्भुत–सामर्थ्ययुतोऽपि कस्यचित्तपःस्वाध्यायनिरतस्य वाग्विदावंरस्य मनने च पुङ्गवस्य मार्गदर्शनमीहते। सम्प्रति संस्कृतवाङ्मयमाश्रित्य शोधादिकार्ये पाश्चात्य–पद्धतेरनुकरणं बहुधा दृश्यतेऽतो भारतीयाऽध्ययनावबोधपरम्परा तिरस्कृतेव दृश्यते। भारतीयार्षग्रन्थेषु येऽध्ययनशोधादिकृते निर्देशाः प्राप्यन्ते ते नूनमेवं संस्कृतवाङ्मयशोधादिकृते परमोपयोगिनो वर्तन्ते।

चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति–आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति[१]। नैषधीयचरिते महाकाव्ये श्रीहर्षोऽपि कथयति–

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दश स्वयम्॥

–नैषधे (१.४)

कालिदासोऽपि मालविकाग्निमित्रे शिक्षकयोग्यता विषये प्रतिपादयति–

---

१. पस्पशाह्निकं महाभाष्यम् १.१.१ (चौखम्बा. वि.भ.मधुसदनमिश्र पृ. ३०)

'श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥' -मा. १.१६

अत्रैव मालविकाया आचार्यो गणदासो वदति यदि ममच्छात्रा प्रतिस्पर्धायां पराजिता भविष्यति तदाऽहमात्मानं शिक्षकपदात् सेवामुक्तेरादेशं विनाऽपि सेवामुक्तं मन्ये-

विवादे दर्शयिष्यामि क्रियासङ्क्रान्तिमात्मनः।
यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया॥ -मा. १.१९

भारतीयाः शिक्षकाः कीदृशो विद्वांसो ज्ञानिनः स्वाधीतं प्रतिविश्वस्ताः स्वाभिमानिनश्चासन्निति। अधीतिबोधाचरणप्रचारणैरथ च महाभाष्यकार-श्रीहर्षकालिदासकथनैः स्वयमपि प्राध्यापनशोधनिर्देशनसामर्थ्यं केनचिज्ज्ञातुं शक्यते।

यद्यपि वाल्मीकिरामायणस्य प्रथमः श्लोको महाकाव्यप्रणयननिर्देशन-परो विद्यते तथापि शोधनिर्देशकस्य योग्यतानिर्धारणेऽपि परमोपयोगी विद्यतेऽतः मया साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिग्रन्थे कथनमिदं निर्देशकार्हतानिरूपणे स्वीकृतं तद्यथा-

स्वाध्यायी च तपोनिष्ठोऽवबोधीविषयप्रधीः।
मौलिके चिन्तने दक्षो वाग्विन्निर्देशको भवेत्॥१॥

अधीतावबोधे च तदाचारे प्रचारणे।
प्रवृत्तिर्विदुषो यस्य शोधं कारयितुं क्षमः॥२॥

प्रबोधे तद्रहस्यानां लोकशास्त्रोपकारके।
तत्त्वावलोकने विज्ञश्चान्यसङ्क्रान्तिसंयुतः॥३॥

तपःस्वाध्यायनिरतं वाग्विदं मुनिपुङ्गवम्।
पृच्छति स्म त्रिलोकज्ञं वाल्मीकिर्नारदं यथा॥४॥

कस्यचित्काव्यबन्धस्य शोधबन्धस्य वा सृतौ।
प्रबन्धसर्जने नूनमन्वेषणमपेक्ष्यते॥५॥

शोधे विशेषतः सत्यं तथ्यं प्रस्तूयते परम्।
श्रेष्ठाचारं समुद्दिश्य काव्यं कल्पनयाऽन्वितम्।।६।।

आदिकाव्ये हि वाल्मीकिं ब्रह्मा वदति तद्यथा–

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरुत्वमृषिसत्तम।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः।
वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्।
रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः।।

–बालका. २.३३

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्।। २.३५
यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।। २.३६
श्रुत्वा वस्तु समग्रं तद् धर्मार्थसहितं हितम्।
व्यक्तमन्वेष्यते भूयो यद्वृत्तं तस्य धीमतः।। ३.१
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणान्वेष्यते गतिम्।।[१] ३.१
काव्ये शोधे कविर्विद्वान् कुर्यातां यत्नमीदृशम्।
येन कल्पान्तरस्थायि जायतां सर्जनं ध्रुवम्।।७।।

रामायणस्य प्रथमे श्लोके सुस्पष्टरूपेण निर्देशकस्य योग्यता व्यक्तीकृता योच्चस्तरीया सर्वोत्तमा च विद्यते–

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्।। वा.रा. १.१.१

(अन्वयः– तपस्वी वाल्मीकिः तपःस्वाध्यायनिरतं वाग्विदांवरं मुनिपुङ्गवं नारदं परिपप्रच्छ।)

तपः स्वाध्यायनिरतम्– (तपसि स्वाध्याये च नितरां रतम्) यथोक्त–मग्निपुराणे–मरीचिरुवाच[२]–

ब्राह्मणस्य तपोमूलं यज्ञः स्वाध्याय एव च।
तस्मादग्रे फलं ब्रूहि तपसोऽध्ययनस्य च।

---

१. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड–२१.३२–३६, ३.१२–३५
२. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड– ३.१–२।

वह्निरुवाच-

तपसा लभते सर्वं तथैवाध्ययनेन च।
तस्मात् स्वधर्मसंयुक्तो नित्यं सिद्ध्यति पण्डितः।

पुनश्च नित्याह्निकविधिनामाध्याये निरूपितम्-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

एवं विधो निर्देशको नारद आसीत्।

वाग्विदांवरमिति- (सर्वश्रेष्ठं वाग्वेत्तारम्) जगत्स्रष्टुर्ब्रह्मणः पुत्रो नारदः। ज्योतिस्वरूपं शब्दब्रह्म यथोक्तमथर्ववेदे (१३.३.१) 'यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति'। अस्मादेव विविधाः क्रिया आभ्यन्तरबाह्यार्थेषु पदार्थेषु भावेषु विवर्तिताः प्रवर्तिता आवर्तिताः परिणता भवन्त्यः सन्ति यथोक्तं भगवता भर्तृहरिणा

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्यपदीये-१.१

तथा च प्रोक्तं तत्रैव (१.११२, १२६, १२७)

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च विद्यते।
तन्मात्रमनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु॥

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्मवत्॥

अत्र भर्तृहरिणा 'ऽर्थक्रियायाः' सङ्केतोऽकारि। शब्दब्रह्मविद् भवभूतिर्मालतीमाधवे कथयति-

शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः,
प्रागल्भ्यमम्यस्त गुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्व
मेते गुणा कामदुधा क्रियासु। (३.११)

उत्तररामचरितेऽपि कथयति-

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्राह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाचं विलुप्तार्थां वदन्ति।। (४.१८)

अत्रैव पुनः कथयति-

शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्।। (७.२१) अत्रैव (२.५) ब्रह्माणं वाल्मीकिं प्रति कथनमाध्यमेन कथयति पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतं शब्दप्रकाशमृषिमुपसङ्गमय्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्-

'ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहत-**ज्योतिरार्षं** ते चक्षुः प्रतिभातु। आद्यः कविरसि-इत्युक्त्वान्तर्हितः।।

एवं वाग्विषये प्राक्तनानां मनीषिणामवधारणा विद्यते। एवं विधस्यादिकवेर्वाल्मीकेः काव्यप्रबन्धोऽद्यापि विश्वश्रेष्ठः। अथ च धारावाहिकरूपेण प्रसारेऽपि तथाविधप्रसारणेषूदात्तमानवमूल्यदिशा सर्वश्रेष्ठो महाप्रबन्धः, स महाप्रबन्धो विश्वविद्यालयानुदानायोगनिर्धारितनियमेन न प्रणीतो न च पाणिनिप्रणीता साऽष्टाध्यायी। या हि भाषाविधानदिशा संस्कृतभाषाममृतां कालजयिनीञ्चाकार्षीत्। येन वेदपुराणादिग्रन्था अद्यापि बोधगम्याः सन्ति। महाभाष्यकारोऽभ्राजश्लोकानुद्धृत्यापशब्दप्रयोगमनुचितं मनुते तद् यथा-

'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे
शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥'

अतः प्रबन्धनिर्देशको भाषायां शास्त्रेषु च दक्षः स्यादित्वावश्यकम्।

मुनिपुङ्गवमिति–

मुनिलक्षणं श्रीमद्भगवद्गीताम्–

'दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥'

ब्रह्मवैवर्तपुराणे ब्रह्मखण्डे (अ.२२) मुनीनां वर्णनं प्राप्यते–

'कतिकल्पान्तरे प्राप्ते स्त्रष्टुः सृष्टिविधौ पुनः।
मरीचिमिश्रैर्मुनिभिः सार्द्धकण्ठाद्बभूव ह॥

विधेर्नारदनाम्नश्च कण्ठदेशाद् बभूव सः।
नारदश्चेति विख्यातो मुनीन्द्रस्तेन हेतुना॥

यः पुत्रश्चेतसो धातुर्बभूव मुनिपुङ्गवः॥'

यथा गवां साण्डो विशालककुद्मान्–आकारेण शक्त्या च महान्–दृश्यते तथैव मानवेषु सर्वाधिकप्रतिभाशाली विद्वान् कविर्वा श्रेष्ठत्वबोधनाय कथ्यते। वाग्विवेचने ऋग्वेदत एव वृषभस्य प्रतीकत्वे–'वृषभो रोरवीति।' 'कविवृषनिषेव्यो विजयते।' प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमं कवीनाम्–इत्यादिरूपेण बहुधा वृषभस्य प्रयोगः प्राप्यते। एवं निर्देशकः श्रेष्ठो मननशीलोऽपि स्यादिति भारतीयं मतम्। पाश्चात्यप्रभावेण भवतुनाम योग्यतानिर्धारणम्। मया स्वकीये साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधौ षष्ठेऽध्याये तत्स्वरूपं महर्षि–वाल्मीकिमतमनुसृत्य साररूपेण प्रतिपादितम्। तद् यथा–

'स्वाध्यायी च तपोनिष्ठोऽवबोधी विषयप्रधीः।
मौलिके चिन्तने दक्षो वाग्विन्निर्देशको भवेत्॥'

अन्ततश्च–

'पदोपाध्यादिमात्रेण कश्चिदर्हो विराजताम्।
निर्देशकस्य सामर्थ्यं केषुचिज्जातु जायते॥'

शोधनिर्देशकार्हताविमर्श

वर्तमान में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा निर्धारित योग्यता इस प्रकार है- अधिमान्य विश्वविद्यालयों, शोधसंस्थानों और स्नातकोत्तर महाविद्यालयों में नियमित रूप से नियुक्त और स्वयं भी विद्यावारिधि उपाधि से युक्त जिनके पाँच शोधपत्र या पुस्तकें प्रकाशित हों, सम्बद्ध विश्वविद्यालय की शोधसमिति द्वारा शोधनिर्देशक के रूप में जिन्हें स्वीकृति मिली हो, वह शोध निर्देशन के पात्र माने जाते हैं। शोधनिर्देशक का विषय और उसका वर्ग वही होना चाहिए जिस विषय का शोधच्छात्र है।

भारतीय प्राक्तन परम्परा में आदिकाव्य रामायण के प्रथम श्लोक में ही प्रबन्ध निर्देशक की अर्हता आरेखित है। इससे प्रतीत होता है कि अद्भुत सामर्थ्य रखने वाले ऋषिसत्तम महर्षि वाल्मीकि किसी वाग्विदांवर मनन करने में पुंगव और तपःस्वाध्यायनिरत नारद से मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। सम्प्रति संस्कृत वाङ्मय पर आधृत शोधादिकार्य में बहुधा पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण दिखाई देता है। अतः भारतीय अध्ययन, अवबोध, आचरण और प्रचार की परम्परा तिरस्कृत सी दिखाई देती है। भारतीय आर्षग्रन्थों में जो अध्ययन और शोधादि के संस्कृत वाङ्मय के अनुरूप निर्देश प्राप्त होते हैं वे संस्कृत वाङ्मय के शोधादि के लिए परमोपयोगी हैं।

चार प्रकार से विद्या उपयुक्त होती है–

१. आगम काल से २. स्वाध्यायकाल से, ३. प्रवचन काल से और ४. आचरण काल से।

नैषधीयचरित महाकाव्य में श्रीहर्ष कहते हैं–

राजा नल ने अध्ययन, अवबोध, आचरण और प्रसार की उपाधियों से चार दशाओं का प्रणयन करते हुए चार दशाएँ स्वयं कर दी मैं नहीं जानता विद्याओं में चतुर्दश वे स्वयं थे। चतुर्दश विद्याओं की चार दशाओं से युक्त राजा नल स्वयं थे। श्लेष द्वारा विद्या की चार दशाएँ और

चतुर्दश विद्याएँ दोनों यहाँ प्रतिपादित हैं। महाकवि कालिदास ने अपने रूपक मालविकाग्निमित्र में शिक्षक की योग्यता का प्रतिपादन करते हुए कहा है– 'कुछ आचार्य ऐसे होते हैं जिनमें ज्ञान तो होता है किन्तु दूसरे को नहीं बता पाते और कुछ ऐसे होते हैं; जो अपने ज्ञान से दूसरे को ज्ञानी बना सकते हैं। अतः ऐसा आचार्य प्रमुख पद पर रखा जाना चाहिए जो स्वयं योग्य हो और दूसरों को भी योग्य बना सके ॥१.१६॥

इसी कृति में आचार्य गणदास कहता है। मैं बड़ा हूँ अथवा दूसरा आचार्य हरदत्त, इसका निर्णय हमारी शिष्या के प्रदर्शन से होगा यदि मेरी शिष्या अन्य आचार्य की शिष्या से हार जाएगी तब मैं अपने को पदमुक्त मानकर चला जाऊँगा। वस्तुतः किसी शिक्षक की योग्यता उसके छात्र में दिखनी चाहिए॥ (मा.ल. १.१९) पद और उपाधि से शोधनिर्देशन का अधिकार मिल जाता है किन्तु शोधनिर्देशन योग्यता किसी-किसी में होती है।

भारतीय शिक्षक (प्राक्तन विद्वान्) ज्ञानी और अपने अध्यापन विषय के प्रति विश्वस्त और स्वाभिमानी हुआ करते थे। वे अपने अध्ययन, अवबोध, आचरण और प्रसार से युक्त थे, जैसा कि महाभाष्यकार पतञ्जलि और श्रीहर्ष के पूर्व उद्धरणों से स्पष्ट है। ऐसे निर्देशक होना दुर्लभ भी है। यद्यपि महर्षि वाल्मीकि के रामायण का प्रथम श्लोक महाकाव्य प्रणयन के निर्देशन से सम्बद्ध है तथापि शोधनिर्देशक की योग्यता का भी उन्मीलक है। मेरी पूर्व प्रकाशित पुस्तक की कारिकाओं में शोध निर्देशक का स्वरूप प्रतिपादित है यहाँ उसे तथैव प्रस्तुत किया जा रहा है–

–स्वाध्यायी, तपोनिष्ठ, अवबोध रखने वाला तथा विषय का प्रकृष्ट विद्वान् जो मौलिक चिन्तन में दक्ष हो और जिसका भाषा पर असाधारण अधिकार हो वह निर्देशक हो सकता है॥१॥

अध्ययन और अवबोध तथा उसके आचरण और प्रचार में जिस विद्वान् की प्रवृत्ति हो वह शोध निर्देशन में समर्थ हो सकता है॥२॥

अवबोधी- विषय के रहस्यों को लोक और शास्त्र के उपकार

के तत्त्वों के रूप में आलोकित करने में विज्ञ हो और अन्य को सम्यक् रूप से अवबोध कराने की क्षमता रखता हो वह निर्देशक हो सकता है॥३॥

जिस प्रकार तप और स्वाध्याय में निरत वाग्विद् मुनिपुंगव त्रिलोकज्ञ नारद से वाल्मीकि ने राम पर कथा लिखने का मार्गदर्शन प्राप्त किया था। (इसमें प्रतिपादित नारद के विशेषणों में भारतीय शोधप्रबन्ध निर्देशक की योग्यता प्रतिपादित है।)॥४॥ चाहे किसी काव्यप्रबन्ध की रचना करनी हो अथवा शोधप्रबन्ध की, प्रबन्धसर्जन में नया अन्वेषण अपेक्षित होता है॥५॥

शोध में श्रेष्ठ सत्य तथ्य को प्रतिपादित किया जाता है, किन्तु काव्यसर्जन में श्रेष्ठ आचार की सहृदय में निविष्टि कराने के लिए रचनाकार को कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ता है॥६॥

जैसा कि आदि काव्य रामायण में ब्रह्मा वाल्मीकि से कहते हैं–

हे ऋषि सत्तम! आप राम के सम्पूर्ण चरित का निरूपण करें। उन धीमान् राम जी का जो चरित सभी को ज्ञात है और जो रहस्यात्मक है उन सभी का वर्णन करें। काव्य में आपकी वाणी झूठ नहीं होगी। आप राम की पुण्य कथा का श्लोकबद्ध रूप में मनोहर वर्णन करें॥

जब तक धरती पर पर्वत स्थिर रहेंगे और नदियाँ बहती रहेंगी तब तक लोकों में रामकथा का प्रसार होता रहेगा॥

ब्रह्मा से राम की कथा को सुनकर जो धर्म और अर्थ के साथ लोकहितकारक थी जो व्यक्त (अन्यत्र भी लोकादि में उपलब्ध थी) उस धीमान् महापुरुष राम की कथा, प्राचीन सन्दर्भों वेद पुराणादि में उपलब्ध थी, वाल्मीकि उसका अन्वेषण करने लगे, उसकी गति (वास्तविक स्थिति) को जानने का प्रयत्न करने लगे॥ (वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड २१.३२-३६, ३.१२-३५)

काव्य की रचना करनी हो अथवा शोध करना हो तो कवि और विद्वान् दोनों को उसको खोजकर (ज्ञातकर) इस प्रकार प्रयत्न करना चाहिए जिससे कल्पान्तरस्थायिनी (कालजयिनी) प्रबन्ध रचना की जा

सके॥७॥

वाल्मीकिरामायण के प्रथम श्लोक में सुस्पष्ट रूप से निर्देशक की योग्यता व्यक्त की गई है जो उच्च स्तरीय और सर्वोत्तम है–

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदांवरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥ १.१.१

तपस्वी वाल्मीकि ने तपस्या और स्वाध्याय में अत्यन्त लगे हुए वाग्विदों में श्रेष्ठ और मनन करने में भी; पशुओं के झुण्ड में विशाल आकार वाले सांड की तरह सबसे बड़े दिखने वाले नारद (ज्ञानदाता) से पूछा॥ जैसा कि अग्निपुराण में कहा गया है– ब्राह्मण का कर्म तपोमूल यज्ञ और स्वाध्याय है इसलिए उसके आगे तपस्या और अध्ययन का फल बताइए–

अग्निदेव ने उत्तर दिया–

तपस्या से जैसे सब कुछ प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार अध्ययन से भी सभी अभीष्टों की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार तपस्या और स्वाध्याय दोनों को अपना धर्म (कर्तव्य) मानकर निरन्तर उसी में निरत रहने पर पण्डित सिद्धि प्राप्त करता है॥ पुनः नित्याह्निक विधि नामक अध्याय में इस प्रकार निरूपण किया गया है–

देव, गुरु प्रज्ञावानों का पूजन और सम्मान, शुचिता, सरलता, ब्रह्मचर्य, और अहिंसा को शारीरिक तप कहा जाता है।

किसी को उद्वेजित करने वाला वाक्य न बोलना, सत्य, प्रिय और हित कारक वाक्य बोलना, ग्रन्थों का अभ्यास करते रहना, इसे वाङ्मय तप कहा जाता है॥

मन की प्रसन्नता, सौम्य स्वभाव रखना, मौन रहना, अपनी इन्द्रियों को वश में रखना (चोरी, झूठ, काम, वासना, लालच से दूर रहना) भावनाओं को निर्मल रखना ये सभी मानस तप कहे जाते हैं। इन गुणों से युक्त नारद महर्षि वाल्मीकि के काव्यसर्जन के मार्गदर्शक थे। सरकारी विधान और अधिनियम किसी को निर्देशक होने की कानूनी

पात्रता प्रदान करते हैं किन्तु भारतीय परम्परा में कालजयी कृति रामायण का मार्गदर्शक कैसा था यह जानना भारतीय होने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले निर्देशकों को ज्ञात हो जाय इसलिए यह इतिहास यहाँ प्रस्तुत किया गया है॥

वाग्विदांवर–

वाग्वेत्ताओं में श्रेष्ठ जगत् के सर्जक (ब्रह्मा के पुत्र नारद) शब्द ब्रह्म ज्योतिर्मय होता है जैसा कि अथर्ववेद १३.३.१ में कहा गया है–

यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति। इसी से विविध क्रियाएँ आभ्यान्तर और बाह्य अर्थों में पदार्थों में भावों में प्रवर्तित आवर्तित और परिणत होती रहती हैं। जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (१.१) में कहा है–

'जो शब्दतत्त्व अनादि अनिधन ब्रह्म अक्षर है, वह अर्थभाव से विवर्तित होता रहता है जिससे जगत् की प्रक्रिया होती है।'

वाक्य पदीय में ही और बातें कही गई हैं–

यह आन्तरिक ज्ञान सूक्ष्म वागात्मा में स्थित रहता है, अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए यह शब्द तत्त्व के रूप में विवर्तित होता है। यही संसारियों की संज्ञा बाहर और भीतर रहती है। तन्मात्र और अनतिक्रान्त चैतन्य सभी जन्तुओं में रहता है॥ अर्थ की क्रियाओं में सभी देहधारियों को वाक् चाहती है उसके उत्क्रान्त होने पर यह (देहधारी) काष्ठ कुड्म के समान दिखाई देता है॥

यहाँ भर्तृहरि ने अर्थ क्रिया का उल्लेख किया है। महाकवि भवभूति ने मालतीमाघव में प्रबन्धरचना आदि के करने के हेतुओं का बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है–

शास्त्रों का सम्यग् ज्ञान, सहज अवबोध, कथन की निर्भीकता, भाषा प्रयोग के गुणों से युक्त वाणी, युगबोध, प्रतिभा की नवीनता ये सभी गुण साहित्यसर्जन और उसके समीक्षण में कामधेनु की तरह होते हैं॥

उत्तररामचरित में भवभूति कहते हैं– आविर्भूतज्योति वाले ब्राह्मणों के जो कथन होते हैं, उनमें संशय नहीं करना चाहिए। इनकी वाणी में

मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है। यह ब्रह्मज्ञानी (ब्राह्मण) विलुप्त अर्थवाली वाणी नहीं बोलते॥

यहीं पुनः अपने लिए कहते हैं– यह शब्द ब्रह्मविद् की परिणत वाणी है इसका श्रवण करें।

ब्राह्मण वाल्मीकि के कथन के माध्यम से भवभूति कहते हैं– 'समय आने पर उन आविर्भूत शब्द प्रकाश वाले ऋषि वाल्मीकि के पास आकर भगवान् भूतभावन ब्रह्मा ने उनसे कहा- हे ऋषे! आप वागात्मा ब्रह्म में प्रबुद्ध हो, अतः राम के चरित का वर्णन करो। निर्बाध ज्योति वाले आपके आर्षनेत्र सुशोभित हों। 'आप आदि कवि हैं।' ऐसा कहकर ब्रह्मा अन्तर्हित हो गए।

इस प्रकार भाषा के विषय में प्राक्तन मनीषियों की अवधारणा है। इस प्रकार वाग्ब्रह्म (भाषा) पर अधिकार रखने वाले महर्षि वाल्मीकि का काव्यप्रबन्ध (रामायण) विश्वश्रेष्ठ है। इसकी कथा का धारावाहिक प्रसारण भी भारतीय दूरदर्शन पर तथा अन्यत्र भी हुआ। मानव मूल्य की दृष्टि से यह आज भी विश्व श्रेष्ठ है। यह महाप्रबन्ध किसी आयोग या विश्वविद्यालय के अधिनियम के अनुसार नहीं लिखा गया। (उसी कथा पर आधृत हिन्दी (अवधी) का रामचरितमानस वर्तमान में लगभग एक सहस्र लोगों द्वारा चौबीसों घण्टे पढ़ा जाता है।) महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी भी ऐसी ही कृति है जो स्वतन्त्र रूप से प्रणीत है जिसके नियमों से व्यवस्थित संस्कृत भाषा विकृतिरहित और एकरूप है। जिससे संस्कृत के सभी ग्रन्थ पढ़े और समझे जा सकते हैं तथा उसी भाषा का प्रयोग आज भी परस्पर व्यवहार और लेखन के लिए एक ही रूप में किया जा रहा है। महाभाष्यकार भ्राज श्लोकों को उद्धृत कर अपशब्द प्रयोग को अनुचित बताते हैं यथा–

जो भाषाविज्ञ है वह विशेष व्यवहार काल में शब्दों का व्याकरण सम्मत यथावत् प्रयोग करता है वह अनन्त काल तक जय प्राप्त करता है और जो भाषा प्रयोग नहीं जानता वह गलत भाषा का प्रयोग कर दोषी माना जाता है। अतः ऋषिचर्या के लिए प्रबन्ध निर्देशक का भाषा पर असाधारण अधिकार होना चाहिए तभी निर्देशन कर सकता है।

मुनिपुंगव– महर्षि वाल्मीकि के निर्देशक का एक विशेषण मुनि-पुंगव भी है। मुनि का लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार दिया गया है–

जो दुःखों में उद्विग्न न हो और सुखों में जिसकी आस्था न हो जो अनुराग, भय और क्रोध से रहित हो उस स्थिर चित्तवाले को मुनि कहते हैं। २.५६ ब्रह्मवैवर्तपुराण के ब्रह्मखण्ड (अ०२२) में मुनियों का वर्णन प्राप्त होता है–

कितने कल्पान्तर के प्राप्त होने पर ब्रह्मा के पुनः सृष्टि के विधान में मरीचि आदि मुनियों के साथ ब्रह्मा के कण्ठ से जो उत्पन्न हुए जिनका नाम नारद हैं वे कण्ठ से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वे मुनीन्द्र नारद कहे जाते हैं।

वह (नारद) ब्रह्मा के मानस से उत्पन्न हुए, अतः उन्हें मुनिपुंगव कहा जाता है। जैसे गायों के समूह में बृहदाकार साँड सबसे शक्तिशाली प्राणी होता है, उसी प्रकार विद्वानों के बीच में सर्वाधिक बड़े विद्वान् को पुंगव कहा जाता है। मनन करने वालों में श्रेष्ठ होने से नारद को मुनि-पुंगव कहा गया है। वाग्विवेचन में ऋग्वेद से ही वृषभ का प्रतीक प्रारंभ है-**'वृषभो रोरवीति'** इत्यादि मन्त्र इसके प्रमाण हैं। लौकिक साहित्य में भी **'कविवृषनिषेव्यो विजयते'** बालरामायण में राजशेखर और भवभूति उत्तररामचरित में **'प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनाम्'** कहकर वृषभ का प्रतीक प्रस्तुत करते हैं। इस भारतीय दृष्टि से बहुत बड़ा चिन्तक, मननशील विद्वान् प्रबन्ध रचना का मार्गदर्शक हो सकता है। शोध निर्देशक की अर्हता का सार **साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि** में मैने इस प्रकार दिया है-

'स्वाध्याय करने वाला तपोनिष्ठ शोध्य विषय का सम्यक् अवबोध रखने वाला, मौलिक चिन्तन में दक्ष भाषा पर अधिकार रखने वाला निर्देशक होना चाहिए॥'

पद और उपाधि प्राप्त कर लेने मात्र से भले ही कोई वर्तमान विधान के अनुसार निर्देशक बन जाय किन्तु निर्देशन करने का सामर्थ्य कभी-कभी किसी में होता है।

प्रथमाधिकरणे पञ्चमोऽध्यायः

शोधच्छात्रार्हताविमर्शः

अधिमान्यविश्वविद्यालयतः स्नातक-स्नातकोत्तरपरीक्षासु-'अ' श्रेण्यामुत्तीर्णस्ततश्च शोधस्य पात्रतापरीक्षोत्तीर्णस्ततश्च षाण्मासिकशोधप्रशिक्षण-परीक्षोत्तीर्णः सन् विश्वविद्यालयस्य शोधसंस्थानस्य वा शोधसमित्या स्वीकृतनिर्देशकमार्गदर्शने तथा समित्यैव निर्धारितविषये शोधकार्यं शोधच्छात्रः कर्तुमर्हति। विश्वविद्यालयानुदानायोगेन समायोजितायां सहायकप्राध्यापक-परीक्षायां ('नेट' इति) तथा च कनिष्ठशोधच्छात्रवृत्तिपरीक्षायाश्चोत्तीर्णोऽपि शोधप्रवेशपरीक्षामदत्वाऽपि शोधप्रशिक्षणपाठ्यक्रमे प्रवेशार्ह इति केचन विश्वविद्यालया मन्वते।

सामान्यतो निर्धारितं पाठ्यक्रमं पठित्वा छात्रस्तथाकथितासु परीक्षासूत्तीर्णो भवति। पाठ्यक्रमेषु विषयस्य केचिदेवांशा निर्धारिता भवन्ति तान् पठित्वाऽपि शोधप्रबन्धप्रणयने क्षमो न भवति यथा साहित्यच्छात्रः केचनालङ्कारा ये पाठ्यक्रमे निर्धारिताः तानेव पठित्वा परीक्षायामुत्तीर्णो भवति किन्तु महाकाव्यमाश्रित्य शोधे प्रवृत्तस्तदा तस्मिन् प्राप्तान् सर्वानलङ्कारान् कथं प्रतिपादयितुं समर्थो भविष्यति। अतः शास्त्रस्य सर्वेऽशाः पठनीया भवन्ति। एवमेव व्याकरणदर्शनादिशोधेऽपि समग्रतया ज्ञानं स्यादित्यावश्यकम्। अत एव साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिग्रन्थे मया व्यलेखि-

शब्दार्थपुरुषार्थेषु शास्त्रेषु लोकवृत्तिषु।
प्रत्युत्पन्नमतिः कश्चिच्छोधानुष्ठानमर्हति।।१।।

स्वाधीतविषयप्राज्ञस्तदाधारादिबोधकृत्।
प्रातिभे चिन्तने दक्षोऽनुसन्धाने हि कल्पते।
प्रातिभं तु नवोन्मेषशालिचिन्तनमीर्यते।।२।।

यथोक्तं भट्टतौतेन-

'स्मृतिरतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता॥'-भट्टतौतोक्तिरियम्

पूर्वोक्तमात्रतत्त्वोक्तिर्न शोधः स तु सङ्ग्रहः।
प्राप्ताङ्कोपाधिमात्रेण कश्चिदर्हो विधानतः॥३॥

ऋषिचर्याकृते किन्तु तत्त्वसाक्षात्कृतौ क्षमः॥
प्रज्ञाव्युत्पत्तियत्नाप्तो बन्धे साफल्यमश्नुते॥४॥

भवभूतिमतेनैते गुणाः कामदुघा मताः-

'शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः
प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्व-
मेते गुणाः कामदुघा क्रियासु॥

(मालतीमा.-३.११)

शास्त्रकवेश्च सामर्थ्यं वक्ति यायावरो यथा-

'भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिलुप्तं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः॥'

एवं शोधच्छात्रगुणाः पण्डितस्य वा गुणा आचार्यैः प्रोक्ताः। सारतो वक्तुं शक्यते-

अमन्दोऽतनुवाग्वेत्ता शोधस्य विषये प्रधीः।
तत्त्वसाक्षात्कृतौ दक्षो रागद्वेषविवर्जितः॥५॥

सत्यनिष्ठो तटस्थश्च निर्भीकः प्रतिभान्वितः।
युगबोधी गुरोर्भक्तः शोधकर्त्ता प्रकल्पते॥६॥

मम. साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधौ, अ. ६

शोधच्छात्रार्हताविमर्श

अधिमान्य विश्वविद्यालय की स्नातक और स्नातकोत्तर परीक्षा 'अ' श्रेणी में उत्तीर्ण होकर शोध के लिए विश्वविद्यालय द्वारा ली गई पात्रतापरीक्षा उत्तीर्ण करने पर पुनः विश्वविद्यालय की छह महीने की उपाधि की प्रशिक्षण परीक्षा उत्तीर्ण करने पर शोध करने की अनुमति दी जाती है।

विश्वविद्यालय या शोधसंस्थान को शोधसमिति द्वारा अधिमान्य निर्देशक के मार्गदर्शन में शोध करने की अनुमति प्रदान की जाती है। शोधनिर्देशक के मार्गदर्शन में शोधविषय निश्चित कर उसकी रूपरेखा संस्था के शोध अनुभाग में जमा की जाती है, उस पर शोधसमिति द्वारा छात्र का साक्षात्कार लेकर उपयुक्त सुझाव आदि के साथ प्रस्तावित शोध विषय पर कार्य करने की अनुमति दी जाती है, इसे शोधपंजीयन भी कहा जाता है। शोधपंजीयन की सूचना विषयनिर्देशपूर्वक छात्र को प्रदान की जाती है। शोधपंजीयन की सूचना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा अन्य विश्वविद्यालयों को भी प्रायः भेजी जाती है, जिससे एक ही विषय का पिष्टपेषण न हो। कई विश्वविद्यालयों में सहायक प्राध्यापक पात्रता परीक्षा अथवा आयोग की कनिष्ठ छात्रवृत्ति परीक्षा उत्तीर्ण छात्र को विश्वविद्यालय की शोधपात्रता परीक्षा से छूट दी जाती है, किन्तु छात्र को छह महीने के शोधपाठ्यक्रम में उपस्थित होकर पढ़ना और पाठ्यक्रम की परीक्षा उत्तीर्ण करना भी अनिवार्य होता है।

सामान्यतः निर्धारित पाठ्यक्रम को पढ़कर छात्र स्नातकोत्तर परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है। जैसे साहित्य का छात्र पाठ्यक्रम में निर्धारित कुछ अलङ्कारों के लक्षण उदाहरण रटकर परीक्षा उत्तीर्ण हो जाता है, किन्तु वह किसी महाकाव्य पर शोध करना चाहता है तो उसे रचना में उपलब्ध सभी अलङ्कारों को पहचान कर उसकी अन्विति दिखानी पड़ेगी। अतः काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के सभी अंशों का व्यापक ज्ञान उसे होना चाहिए तभी शोध और समीक्षा कर पाएगा। इसी प्रकार व्याकरण और दर्शन के सभी ग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए तभी शोधकार्य करना संभव होगा।

मेरे ग्रन्थ साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि में शोधच्छात्र की अर्हता का निरूपण कारिकाओं में इस प्रकार है–

शब्दार्थ, पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) शास्त्र और लोक की प्रवृत्तियों (आचार-व्यवहार) का ज्ञाता तथा प्रत्युत्पन्न मति वाला कोई शोधकार्य कर सकता है॥१॥

अपने अधीत विषय का सम्यक् ज्ञाता, अधीत ग्रन्थों के स्रोतों (आधार) का ज्ञाता, प्रातिभ चिन्तन में दक्ष अनुसन्धान में सफलता प्राप्त करता है। प्रातिभ चिन्तन नवनवोन्मेषशाली चिन्तन को कहा जाता है। यथा भट्टतौत ने कहा है-

स्मृति (स्मरणशक्ति) को अतीत से सम्बद्ध कहा गया है, मति भविष्य का ज्ञान करने वाली होती है बुद्धि तत्काल निर्णय लेने की क्षमता वाली होती है किन्तु प्रज्ञा भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों की शक्ति से युक्त होती है। पूर्व में अन्य विद्वानों द्वारा कृत अनुसन्धान की भाषा बदल कर ज्यों का त्यों कहना शोध नहीं है वह एक प्रकार का संग्रह विवरण या नकल है। अच्छे प्राप्ताङ्क प्राप्तकर कोई शोध के लिए अर्ह हो सकता है किन्तु ऋषिचर्या (रिसर्च/शोध) के लिए तत्त्वसाक्षात्कार करने में समर्थ होना चाहिए। प्रज्ञा, व्युत्पति अभ्यास से शोधप्रबन्ध के लिखने में सफलता मिल सकती है॥२,३॥ चाहे शोधग्रन्थ हो या व्याख्यान अथवा काव्यलेखन भवभूति ने अधोलिखित गुणों की अपेक्षा की है–

'शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान, उनका सहज अवबोध, अपनी बात कहने की निर्भीकता, प्रसाद, माधुर्य, ओज पूर्ण भाषा लिखने का अभ्यास, युग के अनुसार जिस काल और देश में हम हैं उस का ध्यान रखना (युगबोध) है, प्रतिभा की नवीनता यही गुण अच्छे व्याख्यान और लेखन के लिए कामधेनु के समान फलदायी होते हैं।'

आचार्य राजशेखर ने शास्त्रकवि स्वरूप बताया है जो शोधकार्य के लिए भी उपयोगी है।

शास्त्र कवि लीन अर्थ को विस्तृत करता है, जो लुप्त हो गया है उसे प्रकट करता है, अल्प को विस्तृत करता है विस्तृत को अल्प कर के प्रस्तुत करता है अर्थात् कम शब्दों में (सार रूप में) लिख देता है। यह शास्त्रकविलक्षण शोधच्छात्र का भी स्वरूप समेटे हुए है। उक्त विवेचन का सार इस प्रकार है–

अमन्द (प्रतिभाशाली/आलस्य रहित/तेजस्वी) अतनुवाग्वेत्ता (व्याकरण कोष के अभ्यास से) भाषा पर असाधारण अधिकार रखने वाला, शोधविषय का प्रकृष्ट ज्ञान रखने वाला, शोध्य विषय में जिसकी गहरी पैठ हो अर्थात् तात्त्विक निरूपण में दक्ष हो और राग तथा द्वेष से रहित हो (किसी कृति की समीक्षा अथवा आलोचना तटस्थ भाव से करे)॥५॥

शोधच्छात्र को सत्यनिष्ठ, तटस्थ, निर्भीक, प्रतिभा से समन्वित, युग का बोध रखने वाला और गुरु का भक्त होना चाहिए वही छात्र शोध करने में समर्थ होता है॥६॥

प्रथमाधिकरणे षष्ठोऽध्यायः

प्रबन्धालेखनिबन्धशोधपत्रस्वरूपम्

विवक्षार्थमयः शब्दः पदं सुप्तिङ्प्रभेदतः।
तत्समूहोऽर्हताकाङ्क्षासत्तियुग्वाक्यमुच्यते॥१॥

वाक्यानां च समूहो य एकस्मिन् विषयेऽन्वितिम्।
धत्ते सुभगसंयोगैः स बन्धः काव्यशोधयोः॥२॥

(सा.प्र. ४)

काव्यबन्धदिशाकुन्तकेन वक्रोक्तिजीविते। (१.२२)

अस्य स्वरूपमेवं प्रत्यपादि-

'वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते॥'

विन्यासो विशिष्टं न्यसनं यः सन्निवेशः स एष व्यापारशाली बन्ध उच्यते। अभीप्सितार्थप्रतिपादनक्षमं वाक्यं स्यात्, एकस्य वाक्यस्यापरेणवाक्येन कथ्यदिशा समीचीनाऽन्वितिर्बन्धे स्यादिति।

वाक्येषु शब्दप्रयोगविषये काव्यालङ्कारे पाणिनिव्याकरणसम्मतपदानां प्रयोगमेव भामहः समुचितं मनुते-

न शिष्टैरुक्तमित्येव न तन्त्रान्तरसाधितम्।
छन्दोवदिति चोत्सर्गान्न चापिच्छान्दसं वदेत्॥ ६.२७

नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतः सम्मोहकारिणम्।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात्को हन्तिं गतिवाचिनम्॥ ६.२४

क्रमागतं श्रुतिसुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत्।
अतिशेते ह्यलङ्कारमन्यं व्यञ्जनचारुता॥ ६.२८

सिद्धो यश्चोपसंख्यानादिष्ट्या यश्चोपपादितः।
तमाद्रियेत प्रायेण न तु योगविभागजम्॥ ६.२९

(उपसंख्यानशब्दोऽत्र वार्तिकस्य बोधकः) तात्पर्यमिदं यत् पाणिनिसूत्र-कात्यायनवार्त्तिकपतञ्जलिभाष्यदिशा साधुप्रयोगो भामहाभिमतः।

शब्दानामवस्थितिः साहित्ये कीदृशी भवेदेतदर्थं शब्दार्थसन्निवेशविषये कुन्तकस्य मतम्-

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्योन्यानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।

(वक्रो०-१.१०)

वागर्थसम्पृक्तिविषये कालिदासमतं रघुवंशमङ्गलाचरणे सुस्पष्टम्। सम्भवतस्तेनैव प्रेरितेयं कुन्तकस्य कारिका। कालिदासेन कृतं मङ्गलाचरणं प्रसिद्धमेव-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (रघु. १.१)

तात्पर्यमिदं यत्प्रसङ्गाप्तार्थाभिव्यक्तिक्षमस्य शब्दस्य प्रयोगो प्रबन्धप्रणयने कर्तव्यः। प्रबन्धनिबन्धादिविषये साहित्यानुसंधानावबोधप्रविधौ चतुर्थेऽध्याये मया प्रोक्तम्-

प्रकृष्टो नूतनोन्मषैः प्रबन्धः स्याद् यथार्थतः।
निलीनार्थसमुन्मेषी निबन्धो ललितो भवेत्॥३॥

लोकोत्तरहृदाह्लादी काव्यबन्धो विधीयते।
तथ्यस्यान्वेषणोन्मेषी शोधबन्धो विधीयते॥४॥

महाबन्धः प्रबन्धोऽस्ति प्रकृष्टा यत्र बन्धता।
लघुप्रबन्ध इत्याख्यः प्रबन्धस्यैकदेशगः॥५॥

लघुशोधप्रबन्धे च खण्डकाव्ये यथोचितम्।
विन्यासे वस्तुसङ्क्षेपः किन्तु कथ्येऽस्तु पूर्णता॥६॥

लिख्यत आसमन्ताद्य आलेख इति कथ्यते।
ललितः शोधसंस्पर्शी विन्यासश्चात्र जायते।।७।।

निबन्धो भावनास्निग्धः प्रेरकश्चिन्तनान्वितः।
शोधपत्रेऽनुसन्धेयं तथ्यं नूत्नमपेक्ष्यते।।८।।

आलेखस्य निबन्धस्य शोधपत्रस्य वा क्वचित्।
मिश्ररूपं समाधाय सुमेधोभिर्विलिख्यते।।९।।

वाग्विद्रामप्रसादेन[१] रघुनाथेनशर्मणा[२]।
शर्मगिरिधरेणाथ[३] मथुरानाथशास्त्रिणा[४]।।१०।।

मिश्रविद्यानिवासेन[५] सनातनद्विवेदिना[६]।
अभिराजादि[७]भिश्चैवं मिश्ररूपं निबन्धितम्।।११।।

शोधपत्रं प्रबन्धस्य चैकांशाधृतमश्नुते।
युक्ताध्यायविभागैश्च प्रबन्धो लिख्यते परः।।१२।।

लघुदीर्घप्रबन्धेषु विधावस्त्वादिवर्त्मना।
खण्डकाव्यमहाकाव्यस्वरूपसदृशी स्थितिः।।१३।।

प्रायो लघुशोधप्रबन्धः स्नातकोत्तरकक्षासु कस्यचित्प्रश्नपत्रस्य विकल्परूपेण प्रस्तूयते। अस्याकारो लघु भवति। अस्य निर्देशकः कश्चिन्नियमितोऽध्यापको भवति। अस्य कृते विषयनिर्धारणं विभागीयाऽध्यापका एव कुर्वन्ति। अस्य प्रस्तुतीकरणस्य समयो वार्षिकपरीक्षावत् निश्चितो भवति। एम.फिल्. कक्षायां लघुशोधप्रस्तुतीकरणस्य सत्रमेव भवति। प्रायः एम. फिल्.कक्षायां सत्रद्वयं भवति। प्रथमे सत्रे लिखिता परीक्षा भवति द्वितीये सत्रे च लघुशोधप्रबन्धो लेखनीयो भवति। अस्य लघुशोधप्रबन्धस्यापि समयसीमा द्वितीयं षाण्मासिकं सत्रं यावद् भवति। अस्य विषयनिर्धारणं

---

१. व्याकरणाचार्यरामप्रसादत्रिपाठिनः श्रीमद्भागवतभाषापरिच्छेदः।
२. आचार्यपं०रघुनाथशर्मणः चित्रनिबन्धावलिः।
३. आचार्यगिरिधरशर्माचतुर्वेदिनः–चतुर्वेदिरचनावलिः सम्पादकः शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी।
४. पं० मथुरानाथभट्टस्य (मञ्जुनाथस्य) गीर्वाणगिरागौरवम्, प्रबन्धपारिजातः।
५. पण्डितविद्यानिवासमिश्रस्य–'कालिदास से साक्षात्कार' (हिन्दीनिबन्धसंग्रहः)।
६. आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिनः (सनातनोपनाम्नः) कालिदासः अपनी बात (हिन्दी निबन्ध संग्रहः)।
७. आचार्याभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य–सप्तधारा, समीक्षासौरभम्, स्वाध्यायपर्व।

सम्बद्धविभागाध्यापकानां समितिः करोति। एतदर्थमेकं सत्रं भवति-अतः स्नाकोत्तरकक्षातः विस्तृतो लघुशोधप्रबन्धो भवति। यान् विषयानाश्रित्य पूर्वच्छात्रैर्लघुशोधप्रबन्धाः प्रस्तुतास्तान् विहाय नूतना विषयाः प्रायेण स्वीक्रियन्ते। लघुशोधप्रबन्धानां परीक्षणे प्रतिवेदनं न दीयते। इमं दृष्ट्वा परीक्षका अङ्कान् ददति, यस्य प्रविष्टिः प्राप्ताङ्कपत्रे भवति। शोधपत्रं लघुशोध-प्रबन्धाल्लघुतरं भवति। अस्मिन् कस्यचिन्महत्त्वपूर्णतथ्यस्य सूचना प्रमाणपुरस्सरं दीयते, अस्मिन् नूतनतत्त्वस्य संस्थापनमपि भवति। अस्मिन् प्राक्तन-लेखकानामन्तःसाक्ष्यं बहिसाक्ष्यं च दत्त्वा कालस्थानादिनिर्धारणमपि क्रियते। वस्तुतः शोधपत्रं शोधप्रबन्धस्यैकदेशरूपं भूत्वाऽपि कथ्यदिशा पूर्णं भवति। एतादृशानां शोधपत्राणां प्रकाशनं शोधपत्रिकासु भवति। शोधपत्रसंग्रहा अपि अनेकेषां विदुषां प्रकाशिता वर्तन्ते।

प्रबन्ध, आलेख, निबन्ध और शोधपत्र का स्वरूप–

वक्ता की इच्छा के अर्थ से युक्त शब्द होता है। संस्कृत भाषा में प्रयोग योग्य पद होता है, इसके दो भेद हैं–

पहला सुबन्त जैसे रामः और दूसरा तिङन्त जैसे भवति अर्थात् एक शब्द रूप है, दूसरा धातु रूप है पदों का समूह योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि युक्त होने पर वाक्य कहा जाता है॥१॥

वाक्यों का जो उक्त प्रकार का समूह है जब एक विषय (जो अनेक वाक्यों में कहा जाता है) वाक्य भी प्रायः सापेक्ष होते हैं अतः परस्पर एक दूसरे से अन्वित रहते हैं। उनका सुन्दर संयोग होता है तब वे परस्पर एक दूसरे से बँधे रहते हैं। अतः उन्हें बन्ध कहा जाता है वह बन्ध काव्य का भी हो सकता है शोध का भी॥२॥ (साहित्यानुसं. प्रविधि) वक्रोक्ति जीवित में काव्यबन्ध की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की है–

वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) सौभाग्य लावण्य गुणों से युक्त होकर व्यापारशाली वाक्य में विन्यस्त किए जाते हैं, जिससे बन्ध कहते हैं। (१.२२) विन्यास विशिष्टन्यसन को कहते हैं वही व्यापारशाली बन्ध कहा जाता है।

अभीप्सित अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ वाक्य हों और एक वाक्य का अन्य वाक्य के कथ्य की दृष्टि से बन्ध में अन्विति होना अनिवार्य होता है।

संस्कृत वाक्यों में शब्द प्रयोग के विषय में काव्यालङ्कार में भामह ने बताया है– शिष्टों (पूर्व लेखकों मनीषियों) ने प्रयोग किया है इसलिए उस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए जैसे हिन्दी में एक शब्द प्रचलित है– 'आवागमन' यह आने जाने के अर्थ में विद्वान् भी प्रयोग करते हैं व्याकरण की दृष्टि से होगा– 'गमनागमन'। ऐसे शब्दों का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए जो तन्त्रान्तर (पाणिनि से भिन्न व्याकरण) द्वारा सिद्ध किया गया हो क्योंकि इससे संस्कृत की एकरूपता नष्ट होगी। छन्द में कोई शब्द प्रयुक्त है उसे प्रमाण मानकर उसी रूप में सर्वत्र नहीं प्रयोग कर सकते। उत्सर्ग व्याकरण में साधारण नियम बलवान् अपवाद को हटा देता है और उसे व्यर्थ बना देता है। कालिदास ने उत्सर्ग शब्द का प्रयोग कुमार संभव (२.२७) में किया है–

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृतयः परैः॥

ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए और सभी वैदिक वाङ्मय के शब्द लौकिक संस्कृत में नहीं प्रयुक्त होते अतः ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ ६.२७

जिन शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं होता जो चित्त को सम्मोहित करते हैं जैसे हन् धातु का हिंसा और गति दोनों अर्थ है। गमन के अर्थ में हन्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए 'स गच्छति' के स्थान पर तुल्यार्थ धातु होने पर भी 'हन्ति' का प्रयोग अनुचित है॥ ६.२४

क्रमागत रूप से प्रचलित और कर्णमधुर शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। व्यञ्जन वर्णों का सुन्दर प्रयोग कई बार अलंकार का भी अतिक्रमण कर देता है॥ ६.२८

जो वार्तिकों से सिद्ध हो उसका प्रयोग कर सकते हैं, अपनी इच्छा से शुद्ध व्युत्पत्ति वाले शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है, इस प्रकार

का प्रयोग आदरयोग्य है, किन्तु योगविभागज शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥६.२९॥

भामह के काव्यालङ्कार के षष्ठपरिच्छेद में भाषा में प्रयोग योग्य शब्दों का सुन्दर विवेचन है प्रबन्धलेखकों को उसे एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए।

शब्दार्थों का साहित्य में किस प्रकार सन्निवेश किया जाय, इस विषय में कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में सुन्दर विवेचन किया है–

साहित्य में शब्द और अर्थ की शोभाशालिता के प्रति कोई दोनों की परस्पर मनोहारिणी स्थिति होती है॥१.१०॥

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के मङ्गलाचरण में वागर्थ की सम्पृक्ति को पार्वती परमेश्वर की तरह सम्पृक्त बताया है। कालिदास के इस श्लोक का प्रभाव कुन्तक की इस कारिका पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है–

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

तात्पर्य यह है कि प्रसंगानुकूल शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। प्रबन्ध- निबन्धादि के विषय में मैने साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि में सार रूप में निरूपण किया है, जो इस प्रकार है–

शीर्षकानुसार यथार्थ रूप में नूतनोन्मेष के साथ लिखा गया प्रबन्ध (प्रकृष्ट बन्ध) होता है। छिपे अर्थों का जिनमें उन्मीलन हो और ललित भाषा में लिखा गया हो उसे निबन्ध कहते हैं॥३॥

काव्यबन्ध लोकोत्तराह्लाद प्रदान करने वाला होता है। किसी विशेष वास्तविक तथ्य या तत्त्व का उन्मीलन करने वाला शोधबन्ध (शोधपत्र) होता है॥४॥

महाबन्ध प्रबन्ध कहा जाता है जिसमें प्रकृष्टता होती है। लघुप्रबन्ध महाप्रबन्ध के एक भाग के बराबर और लघु-आकार का होता है॥५॥

लघुशोधप्रबन्ध और खण्डकाव्य (लघु काव्यबन्धों में यथोचित विन्यास में वस्तु का संक्षित रूप होता है।) अर्थात् कोई तथ्य संक्षेप में पूरी तरह से प्रतिपादित कर दिया जाता है॥६॥

जो लोक और शास्त्र पर आधृत हो (आसमन्तात्) व्यापक रूप में लिखा जाता है उसे आलेख कहते हैं। यह ललित भाषा में तथा शोध के संस्पर्श के साथ विन्यस्त किया जाता है॥७॥

निबन्ध स्निग्ध भावना से युक्त प्रेरक और चिन्तन पर आधारित होता है किन्तु शोधपत्र में किसी नूतन तथ्य की स्थापना करनी पड़ती है॥८॥

कभी-कभी कुछ विद्वान् निबन्ध शोधपत्र और शोध का मिश्रित रूप प्रस्तुत करते हैं॥९॥

जैसे–व्याकरणाचार्य राम प्रसाद त्रिपाठी का 'श्रीमद्भागवत भाषापरिच्छेद, आचार्य रघुनाथ शर्मा की चित्रनिबन्धावलिः, आचार्य गिरिधरशर्मा चतुर्वेदीचतुर्वेदिरचनावलिः, आचार्य मथुरानाथ भट्ट (मंजुनाथ) गीर्वाणगिरा-गौरवम्, प्रबन्धपरिजातः, पं. विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक कालिदास से साक्षात्कार (हिन्दी), आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी सनातन की पुस्तक कालिदास : अपनी बात, आचार्य महाकवि अभिराज राजेन्द्रमिश्र की पुस्तकें-सप्तधारा समीक्षासौरभम्, स्वाध्यायपर्व॥'

शोधपत्र, शोधप्रबन्ध के एकांश की तरह होता है। किन्तु शोध-प्रबन्ध उचित अध्यायों में विभक्त कर लिखा जाता है॥१२॥

लघु और दीर्घ प्रबन्धों में विधा और विवेच्य विषय के अनुसार खण्डकाव्य और महाकाव्य जैसा अन्तर होता है॥१३॥

(शोधप्रबन्ध किसी विशेष विषय के अन्वेषण से सम्बद्ध होता है, जो अध्यायों में विभक्त होता है। महाकाव्य किसी एक या एकाधिक चरित्रों के लोकोत्तराह्लादक वर्णन से युक्त होता है और उसका विभाजन सर्गो में किया जाता है। शोधप्रबन्ध और महाकाव्य की कोई अध्याय या सर्ग सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती क्योंकि प्रतिपाद्य विषय के अनुसार शोधकर्त्ता या कवि स्वयं निश्चित करता है।)

प्रायः लघुशोधप्रबन्ध स्नातकोत्तर कक्षा में किसी एक प्रश्न पत्र के विषय के विकल्प में लिखा जाता है जो सम्बद्ध विषय के किसी अंश पर आधारित रहता है जिसका मार्गदर्शन कक्षा का अध्यापक करता है एम.फिल्. कक्षा स्नातकोत्तर के बाद रखी गई है उसका प्रायः एकवर्षीय पाठयक्रम होता है इसके दो सत्र होते हैं उसमें प्रथम सत्र में विषय की परीक्षा होती है तथा द्वितीय सत्र में किसी विषय पर लघुशोधप्रबन्ध लिखना होता है उसका मार्गदर्शन भी संस्थाओं के प्राध्यापक करते हैं। लघुशोधप्रबन्धों के विषय के विभागीय प्राध्यापक करते हैं। लघुशोध प्रबन्ध मूल्यांकन के लिए परीक्षकों के पास भेजे जाते हैं उनके प्राप्ताङ्कों का उल्लेख अंक सूची में किया जाता है। लघुशोधप्रबन्धों को एक निश्चित अवधि में पूरा करना अनिवार्य होता है। प्रायः छह महीने का समय दिया जाता है।

शोधपत्र शोधप्रबन्ध के एकांश रूप होते हैं। इसमें विषय नूतन उन्मेष के साथ लिखे जाते हैं। इनका विषय ऐसा रखा जाता है, जिसे शोधपत्र लेखक कुछ पृष्ठों में पूरा करता है। इसका प्रकाशन प्रायः शोधपत्रिकाओं में होता है। शोध पत्रिकाओं की यथाज्ञात सूची इस ग्रन्थ के अन्त में दी गई है। अभिनन्दन और स्मृतिग्रन्थों में भी शोधपत्रों का प्रकाशन होता है, संगोष्ठियों के सम्पन्न होने के बाद महत्त्वपूर्ण शोधपत्रों का प्रकाशन प्रायः संगोष्ठीसंयोजकों द्वारा विशेषांक के रूप में किया जाता है।

प्रथमाधिकरणे सप्तमोऽध्यायः

शोधप्रबन्धस्य विषयनिर्धारणं शोधप्रकाराश्च

शोधप्रबन्धस्य विषयः प्रायशः स्नातकोत्तरकक्षाया मुख्यविषयसम्बद्धो भवति। शोधशीर्षकनिर्धारणस्य चतुर्धा स्थितिर्भवति-

१. शोधनिर्देशकः शीर्षकं प्रतिपादयति।

२. शोधनिर्देशकः शोधच्छात्रस्यास्थां परम्परां रुचिं वा दृष्ट्वा तस्य पूर्वलिखितानि शोधपत्राणि निबन्धान् वा दृष्ट्वा शीर्षकं निर्धारयति।

३. शोधसमितिश्छात्रस्याभिरुचिं क्षमत्वं च निरीक्ष्य विषयं निर्धारयति।

४. अप्रकाशितां किन्तु महत्त्वपूर्णां पाण्डुलिपिं सम्पादयितुं निर्देशकश्शोधसमितिर्वा शोधच्छात्राय विषयं ददाति।

सर्वोत्तमा सरणिरियं यच्छोधच्छात्रः प्रस्तुतान्-शोधप्रबन्धानवलोक्य स्वसामर्थ्यानुरूपं विषयं चित्त्वाऽनुसन्धानविषयं निश्चिनोतु। अन्तर्जाल-माध्यमेनापि कृतशोधानां ज्ञानं कर्तुं शक्यते। यदा-कदा शोधसमित्या शोधकर्त्रे यो विषयो दीयते तस्मिन् तस्य रुचिर्न भवति, अतः शोधकार्यपूर्तौ समर्थो न भवति। सम्प्रति समर्थशोधनिर्देशकानां सङ्ख्याऽल्पीयसी केचन पदोपाधिदृष्ट्या येऽधिकृताः शोधनिर्देशकास्तेऽक्षमा अतः शोधच्छात्रस्य सम्यङ्मार्गदर्शनं न भवति येन शोधप्रबन्धप्रणयने छात्रः सफलो न भवति येन केन प्रकारेण लिखितस्य शोधप्रबन्धस्य स्तरमपि साधु न भवति। अनेके छात्रा योग्यनिर्देशनाभावेऽवसादग्रस्ता दृश्यन्ते। अयोग्यप्राध्यापक-नियुक्तिरपि सम्प्रत्यनुसन्धानस्य दुर्दशाहेतुर्विद्यते। भ्रष्टाचारपिशाचोऽत्रापि प्रविष्टो यो मौखिकपरीक्षासमये प्रायोऽनुभूयते। छात्रैः संस्कृतभाषया प्रबन्धाः प्रस्तुताः किन्तु संस्कृतभाषणेऽसमर्था अनेके विद्यन्ते। अतः शोधेच्छूनां भाषाज्ञानं परीक्ष्यैव तेषां कृते संस्कृतभाषामाध्यमेन शोधप्रबन्धप्रणयनस्यानु-मतिर्देयेत्युचितम्।

शोधविषयक्षेत्राणि-अनुसन्धानप्रकाराश्च

विश्वस्य सर्वाधिकं विशालं संस्कृतवाङ्मयमस्ति। सर्वविधलोकोपकारिणो विषया अप्यस्मिन् विद्यन्ते। वैदिकसंहिता उपनिषदो ब्राह्मणग्रन्थाः, आरण्यकग्रन्था, रामायणपुराणानि, महाभारतमुपपुराणानि, आयुर्वेदग्रन्थाः वेदाङ्गानि (व्याकरण-निरुक्तच्छन्दोज्योतिश्शास्त्रकल्पशिक्षादिग्रन्थाः) दृश्यश्रव्यकाव्यानि दर्शनग्रन्थाः आधुनिकं च साहित्यम् संस्कृतशास्त्रदिशा धर्मशास्त्रम्, अर्थशास्त्रं नीतिशास्त्रं काव्यशास्त्रं सङ्गणकम् अन्तर्जालप्रभृतिविषयाः संस्कृतवाङ्मये पल्लविताः पुष्पिताश्च विद्यन्ते। लक्षाधिकाः पाण्डुलिपयश्च पाण्डुलिपिसङ्ग्रहालयेषु सम्पादनं प्रकाशनञ्च प्रतीक्षन्ते। मया स्वकीये साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिग्रन्थेऽनुसन्धानप्रकारा एवं निरूपिताः-

साहित्यिकं चं शास्त्रीयं क्षेत्रीयमैतिहासिकम्।
सांस्कृतिकं प्रयोगार्हं सर्वेक्षणपरं तथा।।१।।

वैवरणिकमध्युत्सं भाषावैज्ञानिकं तथा।
अन्यशास्त्रेषु काव्यत्वं काव्येष्वप्यन्यशास्त्रता।।२।।

अन्तःसम्बन्धदृष्ट्याऽपि काव्यशास्त्रादिशोधनम्।
करणीयं यथाकालं शोध्यं यद्वस्तु दृश्यते।।३।।

साहित्यिकमनुसन्धानम्-

साहित्यिकेऽनुसन्धाने प्रायः साहित्यशास्त्रतः।
मानसूत्राणि चाधृत्य दृश्यश्रव्यानुशीलनम्।।४।।

साहित्यिकीषु कृतिषु (दृश्यश्रव्यादिरचनासु) प्रायो वेदादिषु यानि जीवनादर्शरूपाणि विधानानि (धर्मं चर, सत्यं वद, मातृदेवो भव, पितृदेवो भवेत्यादीनि तथा च 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।-इत्यादिरूपेण च प्रतिपादितानि) तानि पात्रचरितचित्रणमाध्यमेन कवयः प्रायोगिकरूपेण प्रस्तुवन्ति। साहित्यं शब्दार्थयोः सहभावरूपं त्वस्त्येव हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यमित्यस्याप्यन्वितिः साहित्यग्रन्थेषु प्राप्यते। पात्राणां जीवनस्य शैशवान्मृत्युपर्यन्तं सर्वं तदाचरितं वर्णितं भवति। अतः संस्काराध्ययनतपस्यादेवपूजनशास्त्रार्थवार्तालाप-

भ्रमणप्रशासनमैत्रीविरोधक्रीडोद्यानसंयोगवियोगयुद्धादीनां वर्णनं साहित्यिककृतिषु भवति। 'परस्परविचाराणां तुल्यक्रियारूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यमिति श्राद्धविवेकः। तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं बुद्धिविशेषविशेषत्वं वेति शब्दशक्तिप्रकाशिका। वाङ्मयस्य विविधधाराणां संवलितो निष्पन्दः साहित्यम्। पण्डितबटुकनाथशास्त्रिमहाशयैर्भारतीया साहित्यभारती साधु निरूपिता–

'छन्दः पादाभिरामां घनजघनलसत्तर्कविद्याप्रसारां,
पार्श्वोद्यत्साख्ययोगां हृदयसरसिजोद्भासितब्रह्मतत्त्वाम्।
वक्षोजव्याप्तवेदां पदमयवदनामागमोद्भासिभालां,
काव्यालङ्कारहास्यां भजत भगवतीं भारतीं भारतीयाम्॥'

– मुक्तपद्यम्

साहित्ये समाजस्य जनस्य सर्वविधा गतिविधयः प्रतिबिम्बिता भवन्ति। समाजस्य धारणानां कल्पनानां चेतनानाञ्च तस्मिन् बहुधा प्रभावो भवति। साहित्यशब्दस्य व्यापके सङ्कुचिते चार्थे प्रयोगः क्रियते। व्यापकेऽर्थे राजनीतिसाहित्यं विज्ञानसाहित्यमित्यादिरूपेण प्रयुक्तः साहित्यशब्दः पूर्वपदे प्रयुक्तस्य पदस्य वस्तुसन्दर्भं द्योतयति। सम्प्रति ह्यन्यविशेषणपूर्वरहितेन साहित्यशब्देन कविनिर्मितानां काव्यनाटकादीनां बोधो भवति। येषु कविः स्वनवनवोन्मेषशालिन्या प्रतिभया सहृदयहृदयसंवेद्यं लोकोत्तराह्लादकं वर्णनं करोति। अतोऽस्मिन् शोधप्रविधौ विशेषरूपेण साहित्येऽनुसन्धानप्रविधिरेव निरूपितः। साहित्ये सर्वे विषया अन्तर्गर्भिता अतोऽत्र यथास्थलमन्य-विषयाणामपि शोधप्रविधिर्यथायथं निरूपितो विद्यते।

सम्प्रति साहित्यग्रन्थानां समीक्षात्मकम्, अनुशीलनात्मकम्, सांस्कृतिकम्, भाषावैज्ञानिकम्, ऐतिहासिकम्, तुलनात्मकम्, शास्त्रीय-सन्दर्भात्मकम्, बिम्बविधानं-प्रतीकविधानमित्यादीन्याधृत्य शोधप्रबन्धा लिख्यन्ते। पाश्चात्यशिक्षापद्धतेः प्राक्भाष्य-पदकृत्य-टीका-व्याख्या वस्तुनेतृ-रसादिदिशा विवेचनं प्राक्तनैरकारि। सम्प्रति महाकाव्यनाटकादीनां सर्वाङ्-पूर्णा समीक्षा-आलोचना-अनुशीलनम्-इत्यादिरूपेण शोधप्रबन्धा अपि लिख्यन्ते। पत्रिकापरिशिष्टे कृताः समीक्षास्तु प्रायः परिचयात्मिका भवन्ति। ताः शोधपत्ररूपाः प्रायो न भवन्ति।

शास्त्रीयानुसन्धानम्-

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या एताश्चतुर्दश।।'

अत्र विस्तरसङ्केते गर्भितं सर्वदर्शनम्।
वैशेषिकञ्च साङ्ख्यं च योगो वेदान्तदर्शनम्।।१।।

प्रत्यभिज्ञा च बौद्धं च जैनं चार्वाकदर्शनम्।
एतान्यपि समाहारे स्वीकर्तव्यान्यशेषतः।।२।।

राजनीतिः समाजश्चोपवेदविषयास्तथा।
पर्यावरणशास्त्रञ्च राष्ट्रिया चेतना तथा।।३।।

एवं हि विषया नैके शास्त्रदृष्ट्याऽपिसम्मताः।
शोध एतेषु कर्तव्यो युगबोधपुरस्सरम्।।४।।

यत्किञ्च मानवज्ञातं सर्वं साहित्यसागरे।
अन्वेष्टुं शक्यते नूनं स्वीकरोत्यस्य शास्त्रताम्।।५।।

काव्यमीमांसको विज्ञः कविभ्यो राजशेखरः- तद्यथा- 'शिक्षाकल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिः ज्योतिषं च षडङ्गानि-इत्याचार्या उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूप- परिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा-

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्ति-अनश्नन्नन्योअभिचाकशीति।।'

(रूपकातिशयोक्तिमलङ्कारं विनाऽस्यार्थज्ञानं कर्तुं न शक्यते। अतो वेदार्थज्ञानाय अलङ्कारशास्त्रमप्येकमङ्गं मन्तव्यमिति।) **विद्यास्थानानि यदुत वेदाश्चत्वारः षडङ्गानि चत्वारि शास्त्राणि तान्येतानि कृत्स्नामपि भूर्भुवः स्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्त्तन्ते तदाहुः-**

'विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्तो-
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रम्।
तस्मात्सङ्क्षेपादर्थसन्दोहयुक्तो
व्यासः सन्त्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियत्वात्।।'

सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशविद्यास्थानं काव्यमिति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वाद्धितोपदेशजनकत्वाच्च। तच्च शास्त्राण्यनुधावन्ति। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च विद्या इति कौटिल्यः। पञ्चमी साहित्यविद्या-इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसायां (अ०-२) राजशेखरः।)

राजशेखरस्योक्तकथनेन प्रमाणितं भवति यत् साहित्यविद्याऽपि शास्त्ररूपैव मन्तव्या। सम्प्रति सर्वाधिका अध्येतारः साहित्यस्यैव वर्तन्ते। मन्ये नवम्यां ख्रीस्तशताद्ब्यां साहित्यस्य शास्त्रवन्महत्त्वं नासीदतो राजशेखरेण शास्त्रवत्साहित्यमपि प्रतिष्ठापितम्। साहित्ये समेषां शास्त्राणां यथावसरं साहित्यकाराः सन्निवेशं कुर्वन्ति। प्रशस्ताः कवयो वाल्मीकिकालिदासभारविमाघश्रीहर्षादयोऽनेकेषु शास्त्रेषु पारङ्गता आसन् तथ्यमिदं मया स्वकीये सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयतः प्रकाशिते साहित्यविमर्शग्रन्थे-एकविंशतिनिबन्धेषु प्रमाणीकृतम्। महाकाव्येषु शास्त्रीयसन्दर्भानाश्रित्य मम निर्देशने रचिताः शोधप्रबन्धाः प्रकाशिता अपि विद्यन्ते।

नवसाहित्याऽनुसन्धानम्

नवं संस्कृतसाहित्यं शास्त्रकाव्यसमेधितम्।
तदाश्रित्यापि शोधाय गृह्यन्तां विषया बुधैः।।६।।
शास्त्रेषु नव्यतत्त्वानां समावेशदिशा बुधैः।
प्रणीता बहुधा ग्रन्थास्तेषु शोधोऽपि युज्यते।।७।।
विस्तृतानि हि शास्त्राणि तेषामंशेषु कञ्चन।
आधृत्य विषयं सम्यक् शोधकार्यं विधीयताम्।।८।।
शास्त्रस्यानुहृतिः प्रायः साहित्ये संस्कृतौ समा।
अतः शास्त्राभिसम्बद्धं शोधं कर्तुं हि शक्यते।।९।।
साहित्ये संस्कृतेः शोधस्तथा शास्त्रे च संस्कृतिः।
क्वचिच्छास्त्रेऽपिकाव्यत्वं शोधनीयं विभाव्यते।।१०।।

यथा-पतञ्जलिकालीन भारत, पाणिनिकालीन भारत रघुवंशे धर्मशास्त्रान्विितः, कौटिल्यार्थशास्त्रे राजनीतिः, वाक्यपदीये दर्शनम्, श्रीमद्भागवतस्य साहित्यकं दार्शनिकं वाऽध्ययनम् श्रीमद्भगवद्गीतायां

भक्तितत्त्वम्, दार्शनिकं तत्त्वम्। अग्निपुराणे काव्यशास्त्रसिद्धान्ताः, वाल्मीकि-रामायणस्य सांस्कृतिकमध्ययनम्, कालिदाससाहित्ये कला संस्कृतिश्च, कालिदासकाव्येषु भौगोलिकवर्णनम्, वैदिकवाङ्मये पर्यावरणसंरक्षणम्, वैदिकवाङ्मये राष्ट्राभिकल्पनम्, अथर्ववेदे चिकित्साविज्ञानम्, ब्राह्मणसाहित्ये कर्मकाण्डविधानम्, उपनिषत्सु मानवाधिकारः, समतासौहार्द्रम्-इत्यादि।

दर्शनशास्त्रेऽनुसन्धानम्

शास्त्रेषु दर्शनं शास्त्रं नूनं सर्वत्रगं परम्।
दार्शनिकी सुधाधारा नूतन्या सह पूर्वजा।।१।।
अविरामा चलत्येषा लोकशास्त्रोपकारिणी।
तद्दिशा चान्यशास्त्रेषु साहित्येऽपि विधीयताम्।।२।।
स्वामिनो रामकृष्णस्य चारविन्दस्य दर्शनम्।
आनन्दान्तविवेकस्य गान्धिनश्च महात्मनः।।३।।
स्वामिनःकरपात्रस्य विशिष्टं भक्तिदर्शनम्।
मानसे तुलसीप्रोक्तं कामायन्यां प्रसादतः।।४।।
एवं हि नूतनैः प्रोक्तं बहुधा दर्शनं परम्।
येन प्रभावितो लोको रचनाश्च प्रभाविताः।।५।।
वैदिकावैदिकाख्यानि[१] सर्वज्ञातानि चासते।
तान्याश्रित्यानुसन्धानं नूनं विश्वोपकारकम्।।६।।

क्षेत्रीयमनुसन्धानम्-

क्षेत्रीयमनुसन्धानं प्रायः प्रायोगिकं मतम्।
कार्योत्तरप्रभेदेषु प्रायः शोधोऽत्र जायते।।१।।
परिकल्प्यचरं[२] सम्यक् तन्न्यादर्शा[३]दिमाध्यमैः।
प्रयोगाश्चात्रसाध्यन्ते वास्तविक्यां परिस्थितौ।।२।।

---

१. वैदिकानि-मीमांसावेदान्तन्यायवैशेषिकसाङ्ख्ययोगाख्यानि। अवैदिकानि-जैनबौद्धचार्वाकाख्यानि।

२. Variable (वैरियेबल) अस्थिरं/विभेदः/विचलनम्

३. Sample (सैम्पल) निदर्शनम्/उदाहरणम्/प्रतिरूपम्

समस्यो[१]द्देश्यसम्पर्काभिकल्पादिसमाश्रयैः।
चरप्रभावदृष्ट्याऽत्र समाजं शिक्षणं तथा।।३।।

मनोविज्ञानमाश्रित्य प्रायः शोधोऽत्र जायते।
ध्रुवं क्षेत्रे प्रयोगेण सिद्धान्तस्य परीक्षणम्।

कस्याश्चिद्वा समस्यायाः समाधानं विधीयते।।४।।

साहित्यदिशा क्षेत्रीयमनुसन्धानम्-

साहित्ये क्षेत्रगः शोधो जायते सूचनात्मकः।
शीर्षकं स्याद्यथा तस्य-काश्याः संस्कृतसाधना[२]।।१।।

धर्मस्य संस्कृतेश्चापि तत्त्वसङ्ग्रहपूर्वकम्।
शोधो विधीयतेऽकारि रामजी[३]त्यादिभिर्यथा।।२।।

अनेकेषु च काव्येषु कस्यचिच्चरितं महत्।
अतुल्यं तच्च तुल्यं वा शोध्यं कालानुरोधतः[४]।।३।।

शोध्या श्रेष्ठकृतौ सम्यङ्नार्यादीनामवस्थितिः।
भारतस्य यथाकारिश्रीमत्या वनमालया[५]।।४।।

कथायामेव चैकस्यामेकस्मिन् चरिते कृतान्।
काव्यग्रन्थान् समाश्रित्य शोध्यतां तत्परम्परा[६]।।५।।

---

१. च्वाइसइस समस्या (प्राब्लम) कठिनः प्रश्नः/अनुमानम्/प्रतिज्ञा/कल्पना यथा- 'संस्कृतसम्भाषणे क्रियन्तोऽध्यापकाः समर्थाः क्रियन्तश्चासमर्थाः' (मण्डले, सम्भागप्रदेशे देशे नामोल्लेखपूर्वकं सूची निर्मातव्या भवति।
२. काशी की पण्डित परम्परा-आचार्य बलदेव उपाध्याय (वाराणसी)
३. भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः-आचार्यरामजी उपाध्याय (सागर)
४. रामकथा-कमिलबुल्के (इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
५. महाभारत में नारी-डा० श्रीमती वनमाला भवालकर (सागर)
६. (क) हनुमत्प्रसङ्ग मन्नुलालयदु (रायपुर, म०प्र०)
(ख) मध्यप्रदेश में प्रणीतस्वातन्त्र्योत्तर संस्कृतमहाकाव्य डॉ० शिवेशद्विवेदी (जबलपुर)

देशकालादिसीम्नाऽसौ क्षेत्रशोधो नियन्त्रितः।
साहित्ये वा समाजादावुभयत्रैव जायते।।६।।

ऐतिहासिकानुसन्धानम्

ऐतिहासिकशोधे वै तथ्यं वास्तविकं परम्।
बाह्यैरान्तरिकैः साक्ष्यैः यथातथ्यं निरूप्यते।।१।।

कृतिकारेण यत्प्रोक्तं साक्ष्यमाभ्यन्तरं मतम्।
अन्यैस्तद्विषये प्रोक्तं बाह्यसाक्ष्यमितीर्यते।।२।।

परक्रिया पुराकल्पभेदाभ्यां तद्विधा गतिः[१]।
भारतं हि पुराकल्प आदिकाव्यं परक्रिया।।३।।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदाः समुपबृंहिताः।
अतो ज्ञानोपदेशभ्यामितिहासो विलिख्यते।।४।।

मुद्राभिलेखपत्राद्याऽऽश्रितशोधो हि जायते[२]।
साहित्येतिहासश्च साहित्येनापि गर्भितः।।५।।

वस्तुनेतृरसादीनां विनिवेशो यथा कृतम्।
दृश्यश्रव्यविधैतिह्ये लिख्यते प्रायशो बुधैः।।६।।

(ग) उत्तरप्रदेशस्य विंशशताब्द्याः संस्कृतपरिवेशः डॉ० उमानाथद्विवेदी (लखनऊ)

१. तत्र वेदाख्यानोपनिबन्धनप्रायं पुराणमष्टादशधा।
यदाहुः- 'सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति।।
पुराणप्रविभेद एवेतिहास इत्येके। स च द्विधापरक्रियापुराकल्पाभ्याम्। यदाहुः-
परक्रियापुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीयाबहुनायकाः।।
तत्र रामायणं महाभारतं चोदाहरणे।
(रामायणमिति वाल्मीकिरामायणम्, भारतमिति महाभारतम्।)-काव्यमीमांसायाम् राजशेखरः

२. पत्रमिति ताम्रपत्रं दानपत्रं ताडपत्रं (पाण्डुलिपिः)

सांस्कृतिकानुसन्धानम्

सांस्कृतिकेऽनुसन्धाने तत्त्वान्याधृत्य संस्कृतेः।
यथाकालं यथादेशं यथाग्रन्थं निरूप्यते।।१।।

समतलीकृता भूमिरन्नदात्री प्रजायते।
संस्कृतं प्रस्तरं नूनं मूर्तिरूपेण पूज्यते।।२।।

संस्कृता वै यथा भाषाऽज्ञातकालात्प्रवर्तिता।
तिष्ठति स्थास्यति प्रेष्ठा साधुशब्दैरनुत्तमा।।३।।

दिव्यतामेतिसंस्कारैस्तद्वत्संस्कृतं मनः।
तन्मनोऽङ्गति दिव्येयं मनस्येव जगद्गतिः।।४।।

दिव्या चेयं स्वभावेन ह्यतो यत्रास्ति दिव्यता।
संस्कृतौ भारतीयायां तदाश्रित्यात्र शोध्यते।।५।।

दिनपर्वाणि चाश्रित्य शोधपत्रादिसर्जनैः।
विमर्शोऽपेक्ष्यते येषां दैवत्वं मानवीकृतम्।।६।।

तद्यथा–

सन्तानसप्तमी[१]पूर्वा या बालदिवसायिता। (चिल्ड्रेन्स डे)
हरितालिकपर्वाऽपि व्रत[२]प्रेमादिनायितम्।।७।।

(वैलेण्टाइन डे)

---

१. सन्तानसप्तमी हलषष्ठी च भारतेऽद्यापि पारम्परिकाभिर्मातृभिः सन्ततिहितकामनया मन्येते। किन्तु बालदिवसे दिवङ्गतस्य वृद्धनेतुश्चित्रोपरि माल्यार्पणं कृत्वा तस्य गुणगानं क्रियते। हलषष्ठीपर्वणि मातर एकस्मिन् स्थले स्थित्वा श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धस्य बलरामस्य भ्रूणसंरक्षणपरिवर्तनकथां शृण्वन्ति येन भ्रूणरक्षणस्य प्रेरणा प्राप्ता भवति। बालदिवसे मातरः स्वसन्ततिकृते सर्वविधमङ्गलकामनया देवपूजनं कुर्वन्ति।

२. भाद्रपदशुक्लतृतीयातिथौ कुमार्य उत्तमपतिप्राप्तये सौभाग्यवत्यश्च पत्युर्दीर्घायुष्यसुखादिकामनया दिवसे रात्रौ च निर्जलं व्रतं कुर्वन्ति, मध्ये-मध्येऽनेकधा पार्वतीपरमेश्वरयोः पूजनं कुर्वन्ति। रात्रिजागरणमपि कुर्वन्ति।

'मातृदेवो भवे'[1]त्यत्र वर्षश्राद्धमिवाश्नुते।
मातुर्दिवसरूपेण साम्प्रतं हन्त! भारते।।८।। (मदर्स डे)

या गुरोः पूर्णिमा चासीद् व्यासजन्ममहोत्सवा[2]।
सा शिक्षकदिनीभूता गुरुपूजापराङ्मुखी।।९॥ (टीचर्स डे)

खरादिभिरिहातङ्ककारके रावणे हते।
विजया दशमी याऽऽसीत्सा स्वातन्त्र्यदिनायिता[3]।।१०।।

प्रातः सूर्योदयात्प्राक्पुनर्भवानीशिवयोः पूजनमारार्तिक्यं च कृत्वा व्रतं समाप्तं कुर्वन्ति। पार्वती कुमारी सती शिवप्राप्तये कठिनं व्रतं कृतवती शिवपुराणे कालिदासस्य कुमारसम्भवे चैषा कथा वर्णिताऽस्ति। ततोऽयं भारतीयः प्रेमदिवस एवासीत् किन्तु सम्प्रति 'वैलेण्टाइन डे' इति पाश्चात्यप्रभावेण मन्यन्ते युवत्यः।

१. मातृदेवो भवे'ति तैत्तरीयोपनिषदि प्रोक्तोपदेशानुगमादद्यापि भारते लक्षाधिकपरिवारेषु प्रातरुत्थाय देवपूजनात्प्राक्पित्रोः प्रणमनस्य प्रथा वरीवर्ति। सम्प्रति मातृदिवसे 'मदर्स डे' इत्याख्ये केचन दूरभाषया केचन मातुःसमीपमागत्य तां प्रतिसम्मानं प्रदर्शयन्ति। मृताया मातुः कृते पितृपक्षीया मातृनवमी पूर्वतो निर्धारिता। अतो मातुःस्मरणं पूजनं भारते प्रतिदिनं क्रियते।

२. आषाढीपूर्णिमा व्यासपूर्णिमा मन्यते येन व्यासेन ब्रह्मसूत्राणि, अष्टादश पुराणानि, महाभारतञ्च व्यधायिषत। अतः स इतिहासकारः कविर्दार्शनिकश्चासीत्। अत इयं तिथिगुरुपूजनार्थं निर्धारिता। भारतीयजलवायुदिशागुरुसमीपे गमनस्याषाढ-पूर्णिमोपयुक्ता तिथिर्विद्यते। संस्थासु प्रवेशस्य निश्चितेयं तिथिः। सूचनाभावेऽपि सर्वविदिताऽऽसीत्। सामान्यपाठ्यक्रमेषु प्रवेशस्य समयः प्रायोऽद्यापि वर्षारम्भ एव भवति। अधुना स्वगुरुन् विहाय पूर्वराष्ट्रपतेः पूजनं तस्य परिचयश्च प्रस्तूयते। पितृपक्षे भारते समेषां पूर्वजानां कृते यस्यां तिथौ ते मृतास्तस्यां तिथौ तेभ्यः श्राद्धकर्मणा पिण्डदानं क्रियते। एषा वैज्ञानिकी पद्धतिः। सहस्रवर्षानन्तरं यदा प्रतिदिनं कस्यचिन्नेतुस्तिथिरागमिष्यति तदा किं राष्ट्रकार्यं विहाय तस्य पुण्यतिथेर्जन्मतिथेर्वाऽऽयोजनं भविष्यति।-इति विचारणीयो विषयः।

३. राष्ट्रातङ्कमुक्तये राष्ट्रे प्रविष्टानां विराधसदृशान् बहून् राक्षसान् हत्वासागरे सेतुं विधाय सेनासहितो लङ्कां गत्त्वा भारते राक्षसप्रेषकं रावणं रामो हतवान्। अतः विजयदशमीपर्व भारते प्रचलितं जातम्। वस्तुतोऽयं प्राक्तनः स्वतन्त्रतादिवसः।

राष्ट्रभूमिसुताप्राप्तौ[१] दीपावलिसमावृतम्।
रामतन्त्रगतं पर्व गणतन्त्रे समाहितम्।।११।।

अभियन्त्रृदिनं जातं जनिः सा विश्वकर्मणः।
पितृमोक्षगतं पर्व मृत्युतिथ्या विभाजितम्।।१२।।

किमपिपर्वराष्ट्रेऽस्मिन् प्रत्येकं च दिने तिथौ।
संसारः प्रेरितस्तेन दिनपर्वाण्यमन्यत।।१३।।

भारता अद्य सन्तज्य प्रायो राष्ट्रपरम्पराम्।
उद्यता अनुकर्तुं ते हन्त! पाश्चात्यपद्धतिम्।।१४।।

लोकाचारे 'नमस्ते' नो 'सुप्रभातं' प्रयुज्यते।।

(गुडमार्निंग)

दग्धगृहं जनं गत्वा सुप्रभातं वदन् सुहृत्।।१५।।

आत्मानं मनुते सभ्यं किमिदं सुजनोचितम्?।
तत्त्वमस्यादि वाक्येऽत्र त्वमपि ब्रह्मवाचकम्।।१६।।

'नमस्त'इति सद्वाक्यं जीवब्रह्मैक्यबोधकम्।
प्रातरेव भवेद्रम्यं सुप्रभाते हि विद्यते।।१७।।

'नमस्ते'-ब्रह्मणे नूनं सर्वकालसुखप्रदम्।
एवं सांस्कृतिके शोधे संस्कृतौचित्यमीह्यताम्।।१८।।

नूनं सांस्कृतिके शोधे प्राक्तनी या परम्परा।
सा ध्येया राष्ट्रसन्दर्भे शोधकार्ये विशेषतः।।१९।।

नूतनेन सह प्राक्तनमपि स्वातंत्र्यपर्वमहत्त्वपूर्णं प्रेरणाप्रदं च वर्तते। अतस्तदपि नोपेक्षणीयः।

१. सीता वस्तुतो धरतीपुत्री-आसीत् तस्या अपहरणेन राष्ट्रस्यास्मिताऽपहृताऽसीत्। सीतया सह रामोऽपि समागतः। अतः रामराज्यस्य शुभारम्भो जातः। अतो गणतन्त्रदिवससदृशमिदमपि पर्व विद्यत इति ध्यातव्यम्।। अद्य तु-'अमेरिका-देशीयैरपि वैज्ञानिकैः प्रमाणीकृतं यद् समुद्रसेतुर्मानवकृतम्। अतो वाल्मीकि-कालिदासभवभूतितुलसीदासप्रभृतिभिर्वर्णिता रामकथा सत्येति न कश्चिद्विसंवादः।

राष्ट्रसंस्कृतिदैवात्म्यं प्रविचिन्त्यात्मगौरवम्।
रक्ष्यतां संस्कृतेः शोधे राष्ट्ररूपं विमृश्यताम्।।२०।।

कादम्बर्या यथाशोधः कृतः पूर्वं सुधीमता।
आचार्येणाग्रवालेन वासुदेवेन विद्यते।।२१।।

प्रायोगिकानुसन्धानम्

प्रायोगिकेऽनुसन्धाने तथ्यानां च सुनिश्चितिः।
तत्सम्बन्धैः प्रयोगैश्च क्रियते च यथायथम्।।१।।

यथा योगे-

आसनप्राणायामादयः, आयुर्वेदे चौषधप्रयोगाः।

सर्वेक्षणानुसन्धानम्

सर्वेक्षणानुसन्धाने क्षेत्रं निश्चित्य साध्यते।
भाषासमाजसाहित्योद्भिजानां समवेक्षणम्।।१।।

यथा- भाषाप्रयोगसर्वेक्षणम्

वैवरणिकानुसन्धानम्

वैवरणिकशोधे वै सङ्ग्रहणं विधीयते।
शब्दानां कृतकार्याणां द्रव्यादीनां यथायथम्।।१।।

यथा-रामदासगौडस्य 'हिन्दू-इति ग्रन्थो यस्मिन् वेद-वेदाङ्ग, रामायण-महाभारत-अष्टादशपुराण-अर्थशास्त्र-सर्वदर्शन-सम्प्रदाय-कलादीनां विषय-सूचीनां सङ्ग्रहः कृतः।

उत्सात्मकानुसन्धानम्

उत्सात्मकेऽनुसन्धाने स्त्रोतसः शोध्यवस्तुनः।
अन्वेषो धीयते सम्यक् सत्प्रमाणैर्हितथ्यगैः।।१।।

अस्मिन् कस्यचिद् ग्रन्थस्याधारग्रन्थे प्रोक्तानां तथ्यानां तुल्यतान्वेषणं क्रियते।

भाषावैज्ञानिकानुसन्धानम्

भाषावैज्ञानिके शोधे भाषामाश्रित्य जायते।
ध्वनेः पदस्य वाक्यस्य तथार्थस्यानुशीलनम्॥१॥

भाषाविज्ञानदिशा साहित्यग्रन्थानामप्यनुशीलनं क्रियते। साम्प्रतं विकसितमिदं शास्त्रं विद्यते।

शोधप्रबन्ध का विषयनिर्धारण और शोध प्रकार–

शोध प्रबन्ध का विषय स्नातकोत्तर कक्षा में पढ़े गए विषय पर आधृत होता है। शोधविषय के शीर्षकनिर्धारण की चार प्रकार की स्थितियाँ होती हैं–

१. निर्देशक शोधशीर्षक बताता है।

२. शोधनिर्देशक शोधच्छात्र की आस्था, रुचि या परम्परा देखकर उसके द्वारा लिखे गए शोधपत्रों (निबन्धों) का अवलोकन कर विषय निर्धारित करता है।

३. शोधसमिति छात्र की अभिरुचि और सामर्थ्य का निरीक्षण कर उसके शोधविषय (शीर्षक) का निर्धारण करती है।

४. अप्रकाशित किन्तु महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपि के सम्पादन के लिए निर्देशक के परामर्श से शोधसमिति शोधच्छात्र का विषय (शोधशीर्षक) निर्धारित करती है।

सर्वोत्तम सरणि तो यह है कि शोधच्छात्र अपने विषय से सम्बद्ध अधिक से अधिक प्रस्तुत और उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्धों का सम्यक् अवलोकन करे तथा अपनी क्षमता के अनुसार स्वयं विषय का निर्धारण करे। इण्टरनेट के माध्यम से भी शोधप्रबन्धों की जानकारी की जा सकती है। कभी-कभी शोधसमिति द्वारा शोधकर्त्ता को ऐसा विषय दे दिया जाता है, जिसमें शोधच्छात्र की रुचि नहीं होती, अतः वह शोधकार्य की पूर्ति में समर्थ नहीं हो पाता। सम्प्रति योग्य निर्देशकों की संख्या भी बहुत कम हो गई है। कुछ ऐसे भी प्राध्यापक हैं जो पद और उपाधि से कानूनी तौर पर शोध कराने की पात्रता रखते हैं किन्तु शोधनिर्देशन में

असमर्थ हैं। अतः शोधच्छात्रों को सम्यक् मार्गदर्शन नहीं मिल पाता। प्रायः ऐसा भी होता है कि शोधच्छात्र पंजीयन कराने के बाद प्रतियोगी परीक्षाओं को देने में व्यस्त होने से स्वयं ही शोधकार्य की अनदेखी करते हैं। किसी प्रकार शोधकार्य पूर्ण कर लेने पर प्रायः शोधप्रबन्ध का स्तर भी ठीक नहीं होता। अनेक शोधच्छात्र योग्य निर्देशक के अभाव में अवसाद ग्रस्त भी दिखाई देते हैं। अयोग्य अध्यापकों की नियुक्ति भी विशेष प्रावधानों से हो जाती है, भ्रष्टाचार पिशाच ने भी सरस्वती के मन्दिर विश्वविद्यालयों में प्रवेश कर गया है। संस्कृत भाषा में शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले पचास प्रतिशत छात्र संस्कृत भाषा में बोलने और लिखने में असमर्थ हैं ऐसा उनके साक्षात्कार से ज्ञात होता है।

शोधविषय का क्षेत्र और शोधप्रकार–

विश्व का सबसे अधिक विशाल संस्कृत वाङ्मय है। हर प्रकार के लोकोपकारी विषय इस वाङ्मय में प्राप्त होते हैं। वैदिक संहिताएँ (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद् ग्रन्थ, रामायण, महाभारत पुराण, उपपुराण, आयुर्वेद, वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण ज्योतिष, छन्द) दृश्य और श्रव्य काव्यग्रन्थ, दर्शनग्रन्थ, आधुनिक संस्कृतसाहित्य एवं साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगणक, अन्तर्जाल (इण्टरनेट) प्रभृति विषय प्राक्तन तथा आधुनिक संस्कृत में पल्लवित और पुष्पित हैं। लक्षाधिक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ सम्पादन और प्रकाशन के लिए उपलब्ध हैं। मैंने अपने साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि ग्रन्थ में शोधप्रकारों का इस प्रकार निरूपण किया है–

साहित्यिक, शास्त्रीय, क्षेत्रीय, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, प्रायोगिक, सर्वेक्षण, वैवरणिक, स्रोतोमूलक और भाषावैज्ञानिक। इन प्रकारों पर कार्य चल रहे हैं। अन्तःसम्बन्ध की दृष्टि से भी शोधकार्य किए गए हैं, तथा किए जा सकते हैं। अन्य शास्त्रों में काव्यत्व तथा काव्यों में शास्त्रीय तत्त्वों पर भी शोधप्रबन्ध लिखे गए हैं तथा लिखे जा सकते हैं। शोध-प्रकार की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। कालानुसार नए

आधारों पर भी शोध कार्य किया जा सकता है। वैसे तो शोधप्रबन्ध का प्रणयन प्रातिभ शोधच्छात्र नए ढंग से भी मौलिक लेखन द्वारा कर सकता है किन्तु सामान्य रूप से यथाज्ञात और यथाकल्पित विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

साहित्यिक-अनुसन्धान–

साहित्यिक शोध में प्रायः साहित्यशास्त्र से उसके मानसूत्र को आधार बनाकर दृश्य और श्रव्य काव्यों का अनुशीलन किया जाता है॥४॥

साहित्यिक कृतियों दृश्य (नाटकादि) और श्रव्य (महाकाव्यादि) में प्रायः वेदादि शास्त्रीय ग्रन्थों में जो मानवजीवन के आदर्श रूप विधान– 'धर्म का पालन करो, माता को देवता मानो, पिता को देवता मानो' इत्यादि रूप में तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में प्रतिपादित आचार्योपदेश तथा मनुस्मृति (६.९२) में प्रतिपादित धृति (धैर्य धारण करना) क्षमाशील होना, सहनशक्ति रखना, चोरी न करना, इन्द्रियों पर संयम रखना, शुचिता (पर्यावरण चाहे वह मानसिक हो या भौतिक, उसे पवित्र रखना) बुद्धि ऐसी हो कि भूत, भविष्य और वर्तमान का ध्यान रखे, जीवनयापन के लिए विद्याध्ययन अर्थात् किसी प्रकार की योग्यता को प्राप्त करना, सत्यव्यवहार सत्य वचन अर्थात् इमानदारी का व्यवहार करना, और क्रोध न करना इन दश कर्तव्यों का पालन जीवन में अनिवार्य है। इन दश कर्तव्यों का पालन जो मनुष्य नहीं करता है उसे भर्तृहरि ने पशु कहा है–

'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'

इन धर्मों का पालन करने के जो विधान मनु ने किये हैं। कविगण इन धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित गुणों को पात्रों विशेष रूप से काव्यनायक तथा उसके अनुगामी पात्रों में व्यावहारिक रूप में अपने वर्णनों को अन्वित करते हुए प्रस्तुत करते हैं। साहित्य शब्दार्थों के सहभाव को तो कहा ही जाता है उसके साथ 'हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यम्' यह अन्य व्युत्पत्ति भी पात्रचित्रण में अन्वित होती है। प्रायः पात्रों विशेष रूप से नायकों का शैशव से उसके जीवनोत्कर्ष तक अथवा मृत्युपर्यन्त

वर्णन काव्यों में किया जाता है। अतः संस्कार, देवाराधन, शास्त्रार्थ, वार्तालाप, भ्रमण, प्रशासन, मैत्री, विरोध, क्रीडा, उद्यान, संयोग, वियोग, युद्ध और विजय-पराजय आदि का वर्णन प्रबन्ध रचनाओं में प्राप्त होता है। अतः श्राद्धविवेक में कहा गया है–'परस्पर विचारों के तुल्य क्रिया रूपों का एक साथ निरूपण करने वाले ग्रन्थों को साहित्य कहा जाता है। अथवा बुद्धिविशेषविशेषत्व को साहित्य कहा जाता है ऐसा शब्दशक्तिप्रकाशिका में कहा गया है। वाङ्मय के विविध धाराओं के निष्यन्द को साहित्य कहा जाता है। पण्डित बटुकनाथ शास्त्री ने भारतीय साहित्य का निरूपण भारती भगवती के रूप में किया है–

जिसके पैर अभिराम छन्द हैं **सघनजघन** तर्क विद्या के प्रसार हैं, जिसके पार्श्वभाग उद्यत सांख्य और योग हैं जिसके हृदयकमल में उद्भासित ब्रह्म तत्त्व है, जिसके उरोजों में वेदव्याप्त हैं जिसका पदमय (सुबन्त और तिङन्त से युक्त) वदन मुख है जिसके मस्तक में आगम उद्भासित हो रहे हैं, जिसका हास काव्य अलंकार है, ऐसी भारतीय भारती (वाक्/भाषा) का आप सभी सेवन करें।

साहित्य में जन और समाज की सब प्रकार की गतिविधियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। समाज की धारणाओं, कल्पनाओं और चेतनाओं का बहुधा साहित्य पर प्रभाव पड़ता है। साहित्य शब्द का व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में प्रयोग होते हैं। व्यापक अर्थ में राजनीति साहित्य, विज्ञान साहित्य शब्द का प्रयोग होने पर पूर्वपद के रूप में विषय के प्रतिपाद्य ग्रन्थों का बोध होता है। अन्य किसी विषय का साहित्य शब्द के पूर्व सामासिक पद के न प्रयुक्त होने पर साहित्य शब्द से केवल कवि निर्मित काव्य नाटकादि का बोध होता है, जिनमें कवि अपनी प्रतिभा से सहृदयहृदयसंवेद्य लोकोत्तराह्लादक वर्णन करता है। साहित्य में विविध विषयों का समावेश होता है। अतः इस शोधप्रविधि में यथास्थल अन्य विषयों की दृष्टि से भी साहित्यिक कृतियों के अनुशीलन की प्रविधि बताई गई है।

इस समय साहित्यिक ग्रन्थों पर आधृत समीक्षात्मक, अनुशीलनात्मक, सांस्कृतिक, भाषावैज्ञानिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, शास्त्रीय- सन्दर्भात्मक आदि की दृष्टि से शोधप्रबन्ध लिखे जाते हैं। कुछ पाश्चात्य प्रभाव से बिम्ब, प्रतीक आदि की दृष्टि से भी शोधप्रबन्ध लिखे जा रहे हैं तथा लिखे भी गए हैं। पाश्चात्य प्रभाव (कोल आर्थ के मैनुवल आफ थिसिस राइटिंग के आधार) पर आश्रित शोधप्रबन्धों के पूर्व पदकृत्य, टीका, भाष्य तथा काव्यग्रन्थों की भूमिका के रूप में वस्तुविन्यास, पात्रचित्रण, सूक्तियों का निर्देश किया जाता था और आज भी अच्छे सम्पादक भूमिकाओं में इनका विवेचन करते हैं। पत्रिकाओं के परिशिष्ट में कुछ नए प्रणीत ग्रन्थों की समीक्षा प्रस्तुत की जाती है, उसे शोधपत्र या शोधप्रबन्ध के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता। पाण्डुलिपि का सम्पादन यदि शोधोपाधि के लिए किया जाता है तब प्रारम्भ में उस ग्रन्थ की समीक्षा या आलोचना आदि विस्तृतरूप में की जाती है तथा उत्तर भाग में विविध पाण्डुलिपियों के पाठान्तर देते हुए ग्रन्थ का मुद्रण/टंकण भी उसमें अनिवार्य होता है।

शास्त्रीय अनुसन्धान–

(चतुर्दशविद्याओं को शास्त्र कहा जाता है जिनका वर्णन राजशेखर आदि आचार्यों ने किया है।) वेदों के अंग छह हैं–१. निरुक्त, २. व्याकरण, ३. छन्द, ४ ज्योतिष, ५. कल्प और ६. शिक्षा। चार वेद हैं– ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व, मीमांसा और न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये चतुर्दश विद्याएँ शास्त्र कही जाती हैं। इसमें विस्तर शब्द मीमांसा और न्याय के आगे दिया गया है, जिससे सभी दर्शनों का अन्तर्भाव हो जाता है॥१॥

वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदान्तदर्शन उक्त के साथ ये चार वैदिक दर्शन में परिगणित हैं। प्रत्यभिज्ञा (शैव) को भी वैदिक दर्शन ही माना जाता है किन्तु प्रसिद्धतम पूर्वोक्त छह दर्शन माने जाते हैं इसको मिलाकर सात वैदिक दर्शन कहे जा सकते हैं। बौद्ध, जैन और चार्वाक को अवैदिक दर्शन कहा जाता है। इनकों भी समाहार में स्वीकार किया

जाता है॥२॥ आजकल राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, पर्यावरणशास्त्र को भी शास्त्र के रूप में कहने की परम्परा चल पड़ी है यहाँ तक कि विज्ञान के विषयों को भी शास्त्र कहने की प्रथा चल पड़ी है जैसे, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि किन्तु विज्ञान के विषय वेदों में होने पर भी इन्हें प्रायः संस्कृतशास्त्र नहीं माना जाता। निरुक्तादि को शास्त्र कहा जाता है।

इस प्रकार अनेक विषय आज शास्त्र के रूप में कहे जाते हैं। वेदादि में इन शास्त्रों के तथ्यों को भी खोजा जा सकता है। इन विषयों पर भी संस्कृत वाङ्मय में अनुसंधान किया जा सकता है॥४॥

जो कुछ मानव द्वारा ज्ञात है सबको साहित्य के सागर में खोजा जा सकता है यदि उस शास्त्र का भी ज्ञान हो जिसे खोजा जाना है। साहित्य को भी आचार्य राजशेखर एक शास्त्र मानते हैं, चतुर्दश विद्याओं में साहित्य को मिलाकर वे पञ्चदश विद्या मानते हैं। जो वेदांग कहे जाते हैं उसमें सप्तम वेदांग वे साहित्य को मानते हैं। इस प्रकार राजशेखर साहित्य को भी शास्त्र मानते हैं।

काव्यमीमांसाकार राजशेखर इस प्रकार कहते हैं– शिक्षा-कल्प-व्याकरण निरुक्त छन्दोविचिति और ज्योतिष छह अंग हैं, उपकारक होने से अलङ्कार सप्तम अंग है- यह यायावर का मत है। क्योंकि इसके ज्ञान के बिना वेद के अर्थ के वास्तविक भाव का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे–

'जैसे सुन्दर पक्षी समान वृक्ष पर बैठे हैं उनमें से एक पीपल के स्वादिष्ट फल को खा रहा है और दूसरा खाता नहीं किन्तु फल देखता रहता है।' इस मन्त्र का अर्थ बिना रूपकातिशयोक्ति अलंकार के नहीं जाना जा सकता है। अतः वेद के ज्ञान के लिए जैसे निरुक्तादि शास्त्र आवश्यक हैं उसी प्रकार अलंकार शास्त्र भी सहायक है, इसलिए इसे सप्तम वेदांग माना जाना चाहिए। विद्यास्थान हैं–चार वेद, उनके छह अंग माने गए हैं और चार शास्त्र हैं। ऐसा आचार्यों का मत है। भूर्, भुवर्, और स्वर् इन तीनों लोकों में व्याप्त हैं।

मनुष्य सहस्त्रों वर्षों से अधिक जीवित रहकर भी चतुर्दश विद्याओं का अन्त नहीं प्राप्त कर सकता। अतः संक्षेप में इनका सार यहाँ बता दिया है। ग्रन्थ के अधिक विस्तार से भयभीत होने वाले जनों की प्रसन्नता के लिए मैंने विस्तार नहीं किया।

यायावरीय राजशेखर के मत में इन चौदह विद्यास्थानों के अतिरिक्त काव्य पन्द्रहवाँ विद्यास्थान है क्योंकि वह चौदह विद्याओं का एकमात्र आधार है। इस काव्य के गद्य-पद्यमय होने, कवि का कर्म होने और हितोपदेशक होने से सभी शास्त्र काव्यविद्या का अनुसरण करते हैं। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति ये चार विद्याएँ हैं; ऐसा कौटिल्य का मत है। किन्तु राजशेखर पाँचवी विद्या साहित्य विद्या को मानते हैं। (काव्यमीमांसा अ० २)

राजशेखर के उक्त कथन से प्रमाणित होता है कि साहित्य विद्या को भी एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में मानना चाहिए। वर्तमान में सर्वाधिक छात्र साहित्य वर्ग के ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है ख्रीस्त नवीं शताब्दी तक साहित्य विद्या को कम महत्त्व दिया जाता था अतः राजशेखर ने तर्कपूर्वक इसकी शास्त्र के समान प्रतिष्ठा प्रदान की, साहित्य में यथावसर साहित्यकार शास्त्रों का सन्निवेश करते हैं। प्रशस्त कवि वाल्मीकि, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि अनेक शास्त्रों में पारङ्गत थे। इस तथ्य को मैंने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'साहित्य विमर्शः' में प्रतिपादित किया है। महाकाव्यों के शास्त्रीय सन्दर्भों पर कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भवभूति आदि के ग्रन्थों का अनुशीलन मेरे अनेक शोधच्छात्रों ने किया है, जो प्रायः प्रकाशित भी हो चुके हैं।

नव्यसाहित्यानुसन्धान–

नवीन संस्कृत साहित्य भी काव्य और शास्त्र दोनों से समृद्ध है, अतः नवीन काव्यों और शास्त्रीय ग्रन्थों पर भी शोध प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं॥६॥

शास्त्रीय ग्रन्थों में भी नवीन तत्त्वों का जो समावेश किया गया है यदि वे बहुत विस्तृत हैं तब उसके किसी अंश का चयन पर उन पर शोधप्रबन्ध लिखा जा सकता है॥७॥

प्राक्तन शास्त्रों का अनुहरण साहित्य और संस्कृति में दिखाई देता है। अतः किसी ग्रन्थ का शास्त्रीय अनुशीलन भी किया जा सकता है॥८॥

साहित्य में संस्कृति और शास्त्रों में संस्कृति तथा कभी-कभी शास्त्रों में भी काव्यत्व दिखाई देता है। अतः उनका भी उन्मीलन करने के लिए शोध किया जा सकता है। पुराणों को शास्त्र की कोटि में रखा गया है चतुर्दश विद्याओं में उनकी गणना की जाती है। उनमें भी बहुधा काव्यत्व दिखाई देता है। अतः उनके काव्यत्व पर शोध किया जा सकता है॥९॥

जैसे–पतंजलिकालीन भारत, पाणिनिकालीन भारत, रघुवंश में धर्मशास्त्र की अन्विति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजनीति, वाक्यपदीय में दर्शन, श्रीमद्भागवत का साहित्यिक अथवा दार्शनिक-अनुशीलन, अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त, वाल्मीकि रामायण का सांस्कृतिक अध्ययन, कालिदास के साहित्य में कला एवं संस्कृति, कालिदास का भौगोलिक वर्णन, वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण संरक्षण, वैदिक वाङ्मय में राष्ट्र की कल्पना, अथर्ववेद में चिकित्सा विज्ञान, ब्राह्मण साहित्य में कर्मकाण्ड विधान, उपनिषदों में मानवाधिकार, उपनिषदों में समता और सौहार्द्र। इस प्रकार यहाँ व्यापक रूप से विषयों की जो सूची दी गई है उसके विविध अंशों पर अनेक शोधप्रबन्धों का प्रणयन हो सकता है। आधुनिक काव्य और काव्यशास्त्र पर भी शोध किए जाने चाहिए क्योंकि नूतनोन्मेषों का मूल्यांकन और समीक्षण आवश्यक है। आधुनिक कविता और शास्त्र भी पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है उस पर भी भारतीय संस्कृति की दृष्टि से विमर्श आवश्यक है।

दर्शनशास्त्रेऽनुसन्धानम्

शास्त्रों में दर्शनशास्त्र सर्वत्र व्याप्त और श्रेष्ठ है। दर्शन की प्राक्तन वैदिक (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त) अवैदिक जैन, बौद्ध, चार्वाक् तथा आधुनिक गांधी, अरविन्द, विवेकानन्द आदि के दर्शन की धारा अविरल रूप से प्रवाहित है जो लोक और शास्त्र की उपकारक है उसकी दृष्टि से साहित्य भी प्रभावित है, ऐसी संस्कृत भाषा में रचनाएँ की गई हैं। अतः इनकी दृष्टि से साहित्य में भी शोध किया जा सकता है॥१,२॥

स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि के दर्शन, स्वामी करपात्री का विशिष्ट भक्तिदर्शन, रामचरितमानस में प्रोक्त गोस्वामी तुलसीदास का भक्ति दर्शन, कामायनी में प्रोक्त जयशंकर प्रसाद का दर्शन॥३,४॥

इस प्रकार नवीन आचार्यों के विविध प्रकार के दर्शन हैं जिनसे लोक और रचनाएँ प्रभावित हैं॥५॥

वैदिक और अवैदिक रूप में प्रसिद्ध अनेक दर्शन हैं, जो स्पष्ट रूप से सर्व विदित हैं उनसे रचनाएँ भी निश्चित रूप से प्रभावित हैं। इन दर्शनों की दृष्टि से अनुसन्धान करना भी संसार का उपकार है अतः इनकी दृष्टि से शोधपत्र और शोधप्रबन्ध लिखे जा सकते हैं।

क्षेत्रीयानुसन्धान–

क्षेत्रीय अनुसन्धान प्रायः प्रायोगिक होता है। कार्योत्तर प्रभेदों पर प्रायः क्षेत्रीय अनुसन्धान किया जाता है॥१॥

पहले चर की कल्पना की जाती है उसका न्यादर्श आदि के माध्यम से प्रयोग करके वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान किया जाता है॥२॥

समस्या, उद्देश, सम्पर्क और अभिकल्पना का आश्रय लेकर चर के प्रभाव की दृष्टि से समाज और शिक्षण आदि का अध्ययन (शोध) किया जाता है॥३॥

मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का आश्रय लेकर प्रायः इस प्रकार का अनुसन्धान किया जाता है।

निश्चित क्षेत्र में प्रयोग द्वारा सिद्धान्त की परीक्षा की जाती है। अथवा किसी समस्या का समाधान किया जाता है॥४॥

साहित्य की दृष्टि से क्षेत्रीय अनुसन्धान-

साहित्य की दृष्टि से क्षेत्रीय अनुसन्धान शोध सूचनात्मक होता है। उसका शीर्षक इस प्रकार होगा जैसे- 'काशी की संस्कृत साहित्य साधना'।

धर्म और संस्कृति के तत्त्वसंग्रह की दृष्टि से भी यह शोध किया जा सकता है। जैसे प्रो. रामजी उपाध्याय ने किया है–'भारतस्य सांस्कृतिकनिधिः'। अनेक काव्यों में किसी के महान् चरित का निरूपण उसकी तुल्यता और अतुल्यता की दृष्टि से किया जा सकता है। यह शोध कालादि की दृष्टि से किया जाता है। क्योंकि युगबोध के मर्मज्ञ कुछ कवि युग के औचित्य की दृष्टि एक ही नायक के चरित को नए रूप में प्रस्तुत करते हैं॥३॥

किसी विशालकाय कृति में नारी आदि की दृष्टि से भी शोध किया जा सकता है। जैसे 'महाभारत में नारी' इस विषय पर आधृत शोधप्रबन्ध सागर विश्वविश्वविद्यालय की पूर्व प्राध्यापिका श्रीमती वनमाला भवालकर ने किया है॥४॥

एक कथा या पात्र पर आधारित वर्णन अनेक कृतियों में होने पर उसके चरित विकास या परम्परा पर शोधप्रबन्ध लिखा जा सकता है॥

देश और काल की सीमा में क्षेत्रीय शोध नियन्त्रित रहता है साहित्य और समाज दोनों में यह स्थिति पाई जाती है। अतः इस दृष्टि से यथोचित शोधप्रबन्ध लिखा जा सकता है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान–

ऐतिहासिक शोध में वास्तविक तथ्य की खोज की जाती है। इस के लिए दो प्रमुख साक्ष्यों का सहारा लिया जाता है। कृतिकार द्वारा प्रोक्त

साक्ष्य आभ्यन्तर माना जाता है। उसके बारे में अन्यत्र प्रोक्त साक्ष्य बाह्य माने जाते हैं॥१॥ जैसे कवि ने अपने काल के नरेश का उल्लेख उससे अपने को सम्बद्ध होने का किया है तब निश्चित ही उसका काल वही होगा। यदि उसने किसी राजा का वर्णन किया है तो निश्चित ही उसके समय या उसके बाद की अवधि का होगा। जैसे बाणभट्ट यदि कालिदास का उल्लेख करते हैं तो कालिदास निश्चित ही उसके पूर्व के कवि माने जाएँगे यद्यपि यह बाह्य साक्ष्य ही माना जायगा किन्तु उसका पूर्ववर्ती होना ही सिद्ध होगा॥२॥

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इतिहास की दो गति बताई है एक परक्रिया दूसरी पुराकल्प। महाभारत को पुराकल्प और रामायण की परक्रिया कहा है। (परक्रिया विषयक रचना एक नायक को केन्द्र में रखकर की जाती है और पुराकल्प में अनेक नायकों का वर्णन होता है।)॥३॥

इतिहास और पुराण के चरितनायकों से वेद का समुपबृंहण (विस्तार) होता है अतः इतिहास और पुराण लेखन में सत्पात्रों के चरितविन्यास वैदिक विचारों की (उदात्त जीवन मूल्यों की) अन्विति वर्णन में दिखाई जाती है और प्रतिनायक पक्षीय पात्रों की कुत्सित प्रवृत्ति का निरूपण कर वैसा न करने की पाठक को प्रेरणा दी जाती है जैसा कि कहा गया है **विहितकर्मजन्यो धर्मः निषिद्धकर्मजन्योऽधर्मः॥**

इसलिए ज्ञान और उपदेश से समन्वित इतिहास या पुराण का लेखन किया जाता है॥४॥

राजादि के इतिहास लेखन में मुद्रा, अभिलेख, दानपत्रादि का भी सहारा लिया जाता है॥१५,५,६॥

साहित्य का इतिहास साहित्य से भी गर्भित (युक्त) होता है। अतः रचनाकार ने वस्तु, नायक, और रसादि का जिस प्रकार अभिनिवेश किया है उसका भी निरूपण करना पड़ता है अर्थात् उसकी कृतियों का भी परिचय रचनाकार के परिचय के साथ देना अनिवार्य होता है भले ही वह संक्षिप्त रूप में दिया गया हो यथास्थल कवि के वैशिष्ट्य प्रतिपादन के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण उद्धरण भी देने पड़ते हैं।

सांस्कृतिकानुसन्धानम्–

सांस्कृतिक अनुसन्धान में संस्कृति के तत्त्वों को आधार बनाकर यथासमय यथास्थान प्रस्तुत किया जाता है॥१॥

जैसे ऊबड़ खाबड़ धरती को समतल करने पर अन्न देने वाली होती है। जब टेढ़ा-मेढ़ा पत्थर गढ़कर मूर्ति के रूप में तरास दिया जाता है तब पूजा के योग्य बन जाता है॥२॥

जिस प्रकार संस्कृत भाषा अज्ञात काल से आजतक प्रवर्तमान है, वर्तमान में है, और स्थित भी रहेगी क्योंकि वैज्ञानिक होने से सर्वश्रेष्ठ है उसका कारण यह है कि इसके अक्षर आदि शक्ति शिव के ढक्कानाद से निर्गत हैं और पाणिनि व्याकरण से एक रूप में स्थिर और विकृति रहित होने से अमर हैं। इसमें जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा है, अतः लिपि और उच्चारण भी एक होने से साधु है। इसलिए कि इसके व्युत्पत्ति लभ्य शब्द अधिक हैं। साधुशब्द अपनी परिभाषा के साथ कर्तव्य बोध भी कराते हैं। यथा कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्, पातीति पिता प्रणीतीति पत्नी, भर्तुं योग्या भार्या आदि॥३॥

जिस प्रकार पाणिनि आदि से परिष्कृत संस्कृत भाषा है इसी प्रकार परिवार और गुरुओं में संस्कारित मानव मन संस्कृत बन जाता है। इस दिव्य मन में ही जगत् की गतिविधिओं का अनुभव होता है। अतः सांसारिक प्रपञ्चों में मन उचित को ही स्वीकारता है, अनौचित्य को नहीं स्वीकार करता। संस्कृति ही संस्कार है, यह स्वभावतः दिव्य होती है, क्योंकि संस्कृति विशेष रूप से भारतीय संस्कृति जहाँ मनु आदि द्वारा प्रतिपादित- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियसंयम, धी, विद्या, सत्य अक्रोध इन दश मानवीय कर्तव्य घटकों की ओर मानव मन उन्मुख रहता है। इस प्रकार की भारतीय संस्कृति के मानदण्डों पर आधृत सांस्कृतिकशोध किया जाता है, व्यापक दृष्टि से पूरा भारतीय परिसर और परिवेश इसमें अन्वित रहता है। इसमें दिन और पर्व आदि के आधार पर शोधपत्रादि लिखे जा सकते हैं, जिनके स्थान पर सामान्य मानवीय तिथियाँ जोड़कर इन्हें तिरस्कृत करने का अभारतीय प्रयास किया गया।

वह इस प्रकार है–

सन्तान सप्तमी और हल षष्ठी जो भारत में आजतक पारम्परिक परिवार की माताएँ मनाती हैं। सन्तान के स्वस्थ और सुखी रहने की कामना करती हैं, वह बालदिवस के रूप में स्वीकार न कर, जो एक वृद्ध के चित्र की पूजा के लिए स्वीकृत है। बच्चे एकत्रित करने को बाँटी जाती मधुमयटिकिया, होती पूर्वज फोटो पूजा गर्भ में कट रही हैं बिटिया॥ अंग्रेजी में इसे 'चिल्ड्रेंसडे' कहा जाता है। स्वयं के बच्चों को अब माताएँ इस कार्यक्रम में टाफी खाने के लिए भेजने लगी हैं। सन्तान सप्तमी भूल रही हैं। हरतालिका व्रत के स्थान पर प्रेमदिवस (वेलण्टाइन डे) मनाया जाता है जो प्रेमविवाह की भूमिका के रूप में होता है और बाद में विवाह विच्छेद (तलाक) में प्रायः बदल जाता है॥७॥

तेत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में 'मातृदेवो भव' (माता को देवता मानो) यह माता को प्रणाम करना, उसकी आज्ञा मानना और बड़े होने पर उसकी सेवा और अपने साथ रखकर उसका समुचित पालन करने का प्रेरक था वैसा भारत में हुआ भी करता था किन्तु अब श्राद्धतिथि की तरह मातृदिवस (मदर्स डे) के रूप में प्रवर्तित कर वर्ष में एक दिन उसके जीवित या बीमार होने की जानकारी मात्र लेने का विधान कर दिया गया है, यह भारतीय संस्कृति और संस्कार के सर्वनाश का परिचायक है॥८॥

जो गुरुपूर्णिमा (आषाढ की पूर्णमासी) गुरुपूजा के लिए हजारों वर्षों से भारत में प्रवर्तित थी। यह अष्टादश पुराण, ब्रह्मसूत्र और महाभारत के लेखक व्यास की जन्म तिथि थी, आज तक विश्व में इतने ग्रन्थों का प्रणेता और दार्शनिक धरती पर उत्पन्न नहीं हुआ, उन देवतुल्य व्यास की अविर्भाव तिथि को तिरोहित कर शिक्षक दिवस के रूप में कर दी गई है। वस्तुतः प्रत्येक छात्र अपने शिक्षक के पास जाकर गुरु के रूप में उसका सम्मान करता था, इससे गुरु और शिष्य का सौहार्द्र बढ़ता था। किन्तु शिक्षक दिवस में एक कलियुग में उत्पन्न विद्वान् नेता और शिक्षक की पूजा की जाती है जिससे **'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य**

वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्। और **आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्**' महाभारत के अन्त में यह कथित वाक्य तिरोहित हो रहा है। इससे स्वगुरुपूजन से छात्र वर्तमान में पराङ्मुख होते जा रहे हैं॥९॥

भारत में खर, दूषण, ताड़का, शूर्पणखा आदि राक्षस और राक्षसियों को भेजने वाले रावण के देश में समुद्र में सेतु बनाकर वानर सेना के साथ घुस कर उसे मारने की तिथि विजयदशमी को भूलकर अब अंग्रेजों के शासन की समाप्त करने की तिथि को भारत में महत्त्वपूर्ण माना जाता है, वही आज राष्ट्रिय पर्व के रूप में प्रतिष्ठित है, भले ही 'जय श्रीराम' का नारा ऊँचे स्वर से लगाया जाता है। राम की प्रतिज्ञा थी- सारी धरती को छोड़ दूँगा हे सीते! लक्ष्मण और तुमकों छोड़ दूँगा किन्तु ऋषियों के सामने राष्ट्र से आतंकवादी राक्षसों को समूल समाप्त करने की जो प्रतिज्ञा की है, उसे नहीं छोडूँगा। इस प्रकार रावण के बध से प्रारंभ राष्ट्र का प्राक्तन विजय पर्व विजयदशमी है, जो राष्ट्र के आतंक को सर्वथा समाप्ति की प्रेरणा देती है, अतः राष्ट्र में इसको महत्त्व दिया जाना सर्वथा उचित है। नवीन स्वतन्त्रता तिथि भी सम्मान्य है किन्तु प्राक्तन तिथि भी राष्ट्ररक्षा की महती प्रेरिका है यह ध्यातव्य है।

दूसरा प्राक्तन राष्ट्रिय पर्व दीपावली है क्योंकि इसी तिथि को राष्ट्र की धरती से उद्गत सीता जो राष्ट्र की अस्मिता जैसी अपहृत थीं श्री राम के साथ आती हैं और रामराज्य (जनतन्त्र) का शुभारंभ होता है, जो प्राक्तन गणतन्त्र दिवस जैसा ही है। अतः यह भी प्रेरक और स्मरणीय है, इसे राष्ट्रपर्व के रूप में मनाया जाना उचित है। नवीन गणतन्त्र दिवस भी सम्मान्य है किन्तु उसकी उपेक्षा उचित नहीं है॥११॥

विश्वकर्मा की जन्म तिथि जो राष्ट्र का प्राक्तन पर्व है राष्ट्र को भव्य रूप प्रदान करने की प्रेरिका है, उसे अभियन्ता के दिवस के रूप में मनाया जाता है। पितृमोक्ष अमावस्या जो सभी पितरों के श्राद्ध की तिथि थी उसे मनुष्यों की मृत्युतिथि के रूप में प्रवर्तित कर दिया है। क्या हजारों वर्ष बाद जब प्रतिदिन मृत्यु तिथि और जन्मतिथि आने लगेगी

तब राष्ट्र के महनीय विकास कार्यों को छोड़कर क्या मृत्यु तिथि और जन्मतिथि का ही आयोजन होता रहेगा? एक बात और ध्यान देने योग्य है कि अर्वाचीन जन्मतिथि ख्रीस्त तारीखों से मनाई जाती है जिसमें उनतीस फरवरी प्रतिवर्ष नहीं आती, जो पूर्व प्रधानमन्त्री मुरार जी देशाई की जन्मतिथि है उसे प्रतिवर्ष कैसे मनाया जायेगा? जन्मदिन शब्द भी गलत है क्योंकि मनाए जानी वाली तिथि या तारीख है दिन नहीं अतः जन्म दिन कहना भी मूर्खतापूर्ण है॥२॥

'तिथ्यर्कः' आदि ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्रतिदिन और प्रत्येक तिथि को भारत में कोई न कोई पर्व या अनुष्ठान का विधान राष्ट्र में व्यतिगत था सामूहिक रूप में मनाने या करने के लिए विहित था जिससे सारा विश्व प्रेरणा प्राप्त करता था॥३॥

यह खेद का विषय है कि भारतीय जनता पूर्व प्रवर्तित परम्परा का परित्याग कर पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण करती जा रही है॥४॥

लोक व्यवहार में आजकल सुप्रभात (गुड मार्निंग) कहता हुआ मित्र अपने को सभ्य मानता है किसी का घर जल जाने पर या किसी की मृत्यु हो जाने पर वहाँ जाकर सुप्रभात या गुडमार्निंग कहना सभ्यता है या असभ्यता, इसका निर्णय स्वयं ही कोई समझदार कर सकता है। प्राक्तन काल से प्रवर्तित नमस्ते या प्रणाम अथवा जय श्रीकृष्ण या जय श्री राम हुआ करता था जिसमें पर्यावरण या आतंकमुक्ति का भाव अन्तर्गर्भित था। ऐसे वाक्य भी गमी होने पर दश दिन तक वर्जित थे। वहाँ केवल उपस्थित होकर भारतीय जन सहयोग प्रदान करने या सान्त्वना देने के लिए आता था। पाश्चात्य प्रभाव से यह प्रथा समाप्त होती जा रही है॥५॥

घर जलने पर किसी के यहाँ जाकर गुड मार्निंग कहना कहाँ तक उचित है। भारतीय परम्परा में जो 'नमस्ते' वाक्य प्रस्तुत होता है वह वेद वाक्य है– 'नमस्ते रुद्रमन्वये' **नमस्ते में प्रयुक्त 'ते' 'तव' या 'तुभ्यं' का वैकल्पित पद है।** नमः के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है यदि 'नमस्तुभ्यं' कहा जाय तब केवल चतुर्थी का बोधक तुभ्यं पद

होगा किन्तु नमस्ते कहने पर 'ते' पद सम्बन्धबोधक षष्ठी विभक्ति का अर्थ भी देने के कारण वह तुमसे सम्बद्ध परिवार अथवा राष्ट्रादि का भी अर्थ अभिव्यञ्जित करेगा। अर्थात् तुमसे जुड़े राष्ट्र और तुम्हारे माता पिता को भी प्रणाम यह अर्थ होगा। ध्यातव्य है कि **'तत्त्वमसि'** वाक्य जो उपनिषद् का महावाक्य माना जाता है–**ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः** यह भी उपनिषद् वाक्य है, जिसका अनुवाद गोस्वामी तुलसी दास ने रामचरित मानस में किया है–'ईश्वर अंस जीव अविनासी, चेतन अमल सहज जड़ रासी।'

इस प्रकार भारतीय परम्परा में वैदिक काल से प्रचलित 'नमस्ते' शब्द की व्याप्ति बहुत अधिक है। डिवाइड एण्ड रूल (फोड़ो और राज्य करो) यह अंग्रेजों की नीति है जो गुड मार्निंग गुड नून, गूड नाइट अदि कालविभाजक व्यवहार के वाक्यों तक व्याप्त है। भारतीय परम्परा **'ईशावास्यमिदं सर्वं'** (सब जगह ईश्वर का वास है) इसकी पोषक है। **'तत्त्वमसि'** (तुम ब्रह्म हो) इस महावाक्य से यह सिद्ध होता है कि 'त्वं' पद (तुम) भी ब्रह्म का बोधक है अतः 'ते' कहने से जीव और ब्रह्म दोनों का बोध 'नमस्ते' में प्रयुक्त 'ते' (तुभ्यं तव) का है। जैसा कि मैंने अपने 'भारत बनाम इण्डिया' हिन्दी काव्य में लिखा है–**'इसलिए नमस्ते पद कद में छोटे के प्रति भी कहते हैं, इसमें अनन्तभावगर्भित ईश्वर के प्रति ही झुकते हैं।'** ॥१६.१७॥

इसलिए 'नमस्ते' पद का प्रयोग सर्वात्मा का अभिव्यंजक है। इस प्रकार सांस्कृतिक शोध में भारतीय संस्कृति की समीहा बनी रहती है। इसमें संस्कृति के औचित्य का प्रतिपादन होता है॥८॥

निश्चित ही जो भारत राष्ट्र की प्राक्तन संस्कृति धर्मशास्त्राश्रित है, शोधकार्य में उसे पुनरुज्जीवित करने का ध्यान रखना चाहिए। राष्ट्र संस्कृति की देवात्मकता पर गम्भीरता से विचार कर उसमें गौरव का अनुभव करना चाहिए। शोधपत्र या शोधप्रबन्ध के माध्यम से उसकी रक्षा करनी चाहिए और राष्ट्र के सांस्कृतिक स्वरूप पर विमर्श करना चाहिए॥१९,२०॥

प्रो. वासुदेवशरण अग्रवाल ने कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन किया है। इसी प्रकार अन्य कृतियों पर भी शोध किया जा सकता है।॥२१॥

प्रायोगिक अनुसन्धान

प्रायोगिक अनुसन्धान तथ्यों की सुनिश्चिति उससे सम्बद्ध प्रयोगों से की जाती है। जैसे आसन प्राणायाम आदि। इसमें जनसमूह (अध्ययनरत छात्र, खिलाड़ी, गृहस्थ, बीमार) आदि में किसी का दो वर्ग बनाया जाता है। उनमें एक वर्ग से उक्त में से उचित कालावाधि तक आसन प्राणायाम गायत्री मन्त्र जप या महामृत्युञ्जय का जप कराया जाता है। इसके बाद उक्त क्रियाओं के करने वाले या न करने वाले दोनों वर्गों के कार्यकुशलता या स्वास्थ्य का परीक्षण किया जाता है। उसके परिणाम को प्रदर्शित किया जाता है। यद्यपि यह विषय साहित्यानुसन्धान से भिन्न है। विशेष रूप से मनोविज्ञान, योग, क्रीडा शिक्षा में विद्यालय या महाविद्यालय के छात्रों पर प्रायोगिक अनुसन्धान किए जाते हैं। इसके लिए तत्सम्बद्ध ग्रन्थ पठनीय हैं॥१॥)

सर्वेक्षणानुसन्धान–

सर्वेक्षणानुसन्धान में कोई क्षेत्र (भूभाग या कार्यक्षेत्र) निश्चित किया जाता है। यह भाषा, सामाजिक या वानस्पतिक स्थिति से सम्बद्ध हो सकता है। जैसे-बोली जाने वाली भाषाओं, सामाजिक-प्रथाओं, क्षेत्र विशेष में पाए जाने वाली वनस्पतियों जीवजन्तुओं का सर्वेक्षण॥

वैवरणिकानुसन्धान–

विवरणात्मक अनुसन्धान संग्रहात्मक होता है, शब्दों का, तथ्यों का, सिद्धान्तों का किए गए कार्यों का, द्रव्यों आदि का संकलन किया जाता है। जैसे श्रीरामदास गौड़ ने हिन्दू ग्रन्थ में वैदिक और लौकिक वाङ्मय के मुख्य अंशों का संकलन किया है, हजार से अधिक पृष्ठ की इस पुस्तक का मूल्य एक रूपया मुद्रित है। यह पुस्तक लुप्त प्राय थी अब इसका प्रकाशन गुजरात साहित्य अकादमी द्वारा किया जा रहा है, यह सुखद है क्योंकि इसमें समग्र वैदिक वाङ्मय रामायण, महाभारत,

अठारह पुराणों, अर्थशास्त्र, सर्वदर्शन सम्प्रदाय, और कलादि की विषयसूची है। इसमें संस्कृत वाङ्मय के प्रसिद्धतम ग्रन्थों के विषय कोष की निर्मिति निश्चित ही साहित्य प्रेमियों की उपकारक है। इस विधा में अनेक सन्दर्भ कोष भी बनाए गए हैं प्रायः ऐसे कार्य शोधोपाधि के लिए कम दिए जाते हैं।

उत्सात्मक (स्त्रोतोमूलक) अनुसन्धान

स्त्रोतोमूलक शोध में शोध्य ग्रन्थ के पूर्ववर्ती आधार ग्रन्थों में वर्णित विषयवस्तु की खोजकर उसमें प्रतिपादित तथ्यों के अनुकरण, परिवर्द्धन या परिवर्तन का विवेचन किया है। पूर्वग्रन्थ में प्रतिपादित वर्णनों और तथ्यों की तुलना और उसके औचित्य का प्रतिपादन भी ऐसे अनुसन्धान में अपेक्षित होता है। लघुकाय ग्रन्थों का अनुशीलन शोधपत्र के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है॥१॥

भाषावैज्ञानिक अनुसन्धान–

भाषावैज्ञानिक अनुसन्धान भाषा पर आधारित होता है। अतः भाषा की ध्वनियों, उसके पदों, वाक्यों और अर्थों पर विचार किया जाता है। किन्हीं विशाल ग्रन्थों के क्रियापदों, धातु, प्रत्यय आदि की दृष्टि से विचार किया जाता है। साहित्यिक कृतियों पर उक्त चारों घटकों की दृष्टि से यथायोग्य विचार किया जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से भी भाषा पर विचार किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन में अनेक भाषापरिवारों के शब्दों के प्रयोग और उसके वर्णागम और वर्णविपर्यय आदि पर भी विचार किया जाता है। वर्तमान में यह स्वतन्त्र विषय के रूप में विकसित हो गया है। इसमें स्वतन्त्र रूप से स्नातकोत्तर अध्ययन और अनुसन्धान हो रहा है। फिर भी साहित्य से यह विषय जुड़ा होने से साहित्यिक कृतियों का भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से अनुशीलन प्रचलित है। यह ध्यातव्य है कि अंग्रेजी, हिन्दी आदि में जिसे इन, आन, आफ/ने को से में पे, पर आदि को सम्बन्ध तत्त्व कहा जाता है किन्तु संस्कृत संश्लिष्ट भाषा होने से उसके शब्दों में विभक्ति लगाकर वाक्य विन्यास किया जाता है, जिसे स्वादि प्रत्यय कहते हैं। अतः संस्कृत साहित्य के अध्येताओं को सावधान रहना चाहिए॥१॥

उत्तराधुनिकता

शोधक्षेत्रस्य चानन्त्यादियत्ता नास्य विद्यते।
प्रज्ञावद्भिर्विनिश्चेया विषया ये यथोचितम्।।१।।

पाश्चात्येन प्रभावेणच्छायावादादिभिर्नवा।
प्रवृत्तिः संस्कृते प्राप्ता साऽपि शोध्या विवेकतः।।२।।

उत्तराधुनिके वादे[१] त्यक्ता पूर्वपरम्परा।
अस्तित्वमीश्वरस्यापि वादेऽस्मिन् हि तिरोहितम्।।३।।

भारतीये च सन्दर्भे कीदृशी चात्र संस्थितिः।
शोधपत्रादिभिर्ह्यस्मिन् विमर्शः क्रियतां बुधैः।।४।।

शोधप्रकार का परिशिष्ट–

शोधक्षेत्र की अनन्तता के कारण इसके बारे में यह इतना है, यही है यह नहीं कहा जा सकता। प्रज्ञावान् नये अनुसन्धान के क्षेत्र निर्धारित कर सकते हैं विशेष रूप से जो यथाकाल यथादेश उचित है॥१॥

---

१. उत्तराधुनिकता–एका यूरोपीया स्थितिरवधारणा चास्ति। यूरोपीयेणाधुनिकीकरणेन सह–उपनिवेशः (स्वनिर्मितसामग्रीविक्रयस्य तदर्थमन्वेषणस्य समीहया) स्थापितः। आधुनिकताऽत्रैकोऽतिचारी विचारः। आधुनिकता–उपनिवेशवादस्यास्त्रं भूत्वा प्रवर्तिता। अस्या औद्योगिकक्रान्तेः संस्कारः। भारतराष्ट्रं योरोपीयाया आधुनिकताया प्रयोगशालास्थलं जातमासीत्। अहम्मन्यकूपमण्डूकतावादोऽस्माकं भारतीयं समाजं नष्टं भ्रष्टं चाकरोत्। 'वसुधैव कुटुम्बकं' त्यागतपस्या–तपोवनत्रिवेणीञ्च तिरस्कृत्येयमाधुनिकता समाजवादियोजनातो निर्गत्यार्थसङ्ग्रहवादे परिवर्तिता। **देकार्तेन** यदा स्वदर्शनेन प्रमाणितमकारि यन्मनुष्यस्य मुक्तिः प्रकृतौ स्वामित्वे निहिता। भारतीया वैदिकी प्रकृतिपूजापरम्परा तेन ध्वस्ता। प्रकृतौ–आक्रमणं प्रारब्धम्। आधुनिकेन विज्ञानेन यन्त्राणि–उद्योगाः, धरतीगगनचारीणि वाहनानि सर्जितानि। यन्त्रैः प्रकृतिवृषभनासिकायाश्छिद्रे रज्जुं कृत्वा मानवस्तां (प्रकृतिं) नियन्त्रितां कर्तुं यतते स्म। एतेन साहित्ये शास्त्रे च नूतना विचाराः समुद्भूताः। सुरक्षितस्यामरस्येश्वरस्यात्र मृत्युरभवत्। मनुष्योपरि काचित् परा नियामिका शक्तिरस्ति–इति विचारोऽत्रापृथक्कृतः। आत्मराहित्यमाधुनिकतायाः प्रथमं लक्षणम्, आधुनिकता द्वितीयलक्षणम्।

पाश्चात्य अथवा हिन्दी आदि के प्रभाव के कारण छायावाद, प्रगतिवाद आदि की प्रवृत्ति संस्कृतभाषा के साहित्य में नये रचनाकारों द्वारा अनुसृत है वह भी शोध्य है। बिम्ब, प्रतीक और विरेचन (कथार्सिस) आदि का भी प्रयोग दिखाई देता है इनकी परिभाषा ज्ञात कर इस दृष्टि से शोधकार्य किया जा सकता है॥२॥

उत्तराधुनिकवाद भी नये रचनाकारों में यत्र तत्र देखा जा सकता है। उत्तर आधुनिकता यूरोप की अवधारणा है। युरोपीय आधुनिकीकरण के साथ उपनिवेश (स्वनिर्मित सामग्री के विक्रय के अन्वेषण) की प्रवृत्ति विकसित हुई है। आधुनिकता एक अतिचारी विचार है। यह भारतीय संस्कृति और परम्परा का विरोधी वाद है।

उत्तराधुनिकतावाद में पूर्व परम्परा का त्याग कर दिया गया है। इसमें ईश्वर के अस्तित्व को भी नहीं स्वीकार किया जाता। भारतीय सन्दर्भ में इसकी क्या स्थिति है। इस पर शोधपत्रादि लिखकर विमर्श किया जा सकता है।

आधुनिकताऽतीतस्य मरणं विस्मृतिञ्च स्वकीयां महतीमुपलब्धिं मनुते। आधुनिकता यस्मिन्तर्कवादे स्थिता तया सह काण्ट-हीगलदेकार्तसदृशा विचारकाः सम्मिलिताः सन्ति। उत्तराधुनिकतायाः प्रस्थानबिन्दुः प्रविधेः (टेकनीकेत्याख्यस्य) उपस्थितिः। एलैलेत्याख्यस्य विचारकस्य मतं यत्प्रविधिः (टेकनीकेति) एको व्यवहारसमुच्चयो येन निश्चितपरिणामाय साधनानि प्रयुज्यन्ते। (आधुनिकीकरणशब्दस्य प्रयोगो हिन्दीपुस्तकेषु दृश्यते किन्तु वस्तुतः-अनाधुनिकमाधुनिकं करोतीत्याधुनिकी करोति एवमभूमण्डलंभूमण्डलं करोतीति भूमण्डलीकरोति। एवं च्विप्रत्ययेन प्राचीनस्य नवीनीकरणमाधुनिकीकरणस्य वास्तविकोऽर्थो भवति। भूमण्डलीकरणं सर्वथाऽसाधु।)

प्रथमाधिकरणे अष्टमोऽध्यायः

८. अनुसन्धानपद्धतिसारः

अलब्धानां च लब्धानां तथ्यानामनुशीलने।
नवोन्मेषयुतं सम्यङ्मौलिकं प्रतिपादनम्।।१।।

तथ्यानामुपलब्धानां पुनराख्यान ईहिते।
युगबोधपरे शोधे नूतनत्वं हि साध्यताम्।।२।।

रचनायाश्च कस्याश्चित् सत्प्रमाणपुरस्सरम्।
आलोचना समीक्षा वा क्रियतां नवशिल्पतः।।३।।

मुद्रितेऽमुद्रिते ग्रन्थे पाठदृष्ट्या विमर्शने।
सप्रमाणं हि पाठानामनुसन्धानमीह्यताम्।।४।।

कृतेश्च कृतिकारश्च परिचयोऽप्यत्र तथ्यगः।
ग्रन्थादौ सप्रमाणं च शोधग्रन्थे प्रदीयताम्।।५।।

समे च विषये सृष्टे प्राप्येते रचने यदा।
तयोश्च तुल्यतान्वेषः साम्यवैषम्यदृष्टितः।।६।।

काव्यग्रन्थे च शास्त्रत्वं शास्त्रे काव्यमयी स्थितिः।
प्राप्यते चेद् यथालब्धं तत्त्वोन्मेषो विधीयताम्।।७।।

आर्षकालोत्तरग्रन्थमाश्रित्यापि यथायथम्।
तदुपजीव्यतान्वेषं कर्तुमर्हति शोधकृत्।।८।।

राजनीति-समाजादि-पर्यावरणचेतनाम्।
राष्ट्रस्य चेतनादीनि समाधृत्यानुशील्यताम्।।९।।

आर्षग्रन्थेषु शास्त्राणि विज्ञानविषयास्तथा।
अनुशील्यर्षिदृष्टीनां समालोचनमिष्यते।।१०।।

प्रतिपादनशिल्पञ्च मनोहारि भवेद्ध्रुवम्।
तद्भाषाया दिशा वा स्याद्विषयादिविभाजने।।११।।

सामग्री या विकीर्णाऽस्तेऽथवाऽनुन्मीलिता भवेत्।
तां सङ्गृह्य समुन्मील्य परिष्कारेण सृज्यताम्।।१२।।

अनेकेषु च काव्येषु कस्यचिच्चरितं महत्।
साम्यवैषम्यदृष्ट्या तत् शोध्यं कालानुरोधतः।।१३।।

काव्यादौ पञ्चवृत्तीनां[१] प्रयोगाः कीदृशाः कृताः।
तानाश्रित्य हि शोधोऽपि साधनीयो यथायथम्।।१४।।

दर्शनं धर्मशास्त्रं च समाधृत्यापि वाङ्मये।
शोधः सम्भाव्यते नूनं कृतश्चापि विलोक्यते।।१५।।

अनुसन्धानपद्धति का सारांश–

प्राप्त और अप्राप्त तथ्यों के अनुशीलन में नवोन्मेष से युक्त मौलिक प्रतिपादन करना चाहिए॥१॥

उपलब्ध तथ्यों का पुनः निरूपण करना आवश्यक हो तो युगानुरूप निरूपण परिवर्तन या परिवर्धन कर उसे नवीन रूप में उपयोगी करके प्रस्तुत करना चाहिए॥२॥

किसी रचना का सही प्रमाण (उदाहरण आदि) देते हुए आलोचना या समीक्षा नए शिल्प के साथ करनी चाहिए॥३॥

मुद्रित अथवा अमुद्रित पाठ सम्पादन की दृष्टि से विमर्श करना है तब प्रमाणपूर्वक पाठों की खोज करनी चाहिए और सर्वाधिक उपयुक्त पाठ को मूल में योजित कर पाद टिप्पणी में अन्य पाठों को भी प्रस्तुत करना चाहिए॥५॥

---

१. (क) व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिनिर्दिष्टेस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम्। इति राजशेखरः काव्यमीसायाः पदवाक्यविवेकेऽध्याये।
(ख) कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः' इति सिद्धान्तकौमुद्यां सर्वसमासशेषप्रकरणे प्रोक्तम्। एवं पदवृत्तिमाश्रित्य कस्यापि ग्रन्थस्यानुशीलनं कर्तुं शक्यते।

सम्पादन में कृति और कृतिकार का यथासन्दर्भ परिचय देना भी आवश्यक होता है। सत्प्रमाण के साथ परिचय उचित आधारों को उद्धृत करते हुए उसे भूमिका में देना चाहिए।

एक ही विषयवस्तु पर आधारित यदि दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं। तब उसकी भिन्नता की खोज करनी चाहिए॥६॥ किसी काव्य ग्रन्थ में यदि शास्त्रीय मान्यताओं का उल्लेख मिलता हो तब उसका उन्मीलन करना चाहिए, यदि किसी शास्त्रीय ग्रन्थ में काव्यत्व दिखाई देता है तो उसका भी उन्मीलन किया जा सकता है॥७॥

ऋषियों के प्रणीत साहित्य के बाद प्रणीत साहित्य (रामायण, महाभारत, पुराणादि और वैदिक साहित्य) का आश्रय लेकर प्रणीत रचनाओं के आधार की प्रामाणिक जानकारी देकर उसकी उपजीव्यता का अनुसन्धान किया जा सकता है। प्राचीन कवियों के साहित्य में आदान और प्रदान की दृष्टि से भी शोधप्रबन्ध शोधपत्रादि लिखे जा सकते हैं। साहित्यिक अध्ययन में पूर्व रचनाओं के प्रभाव और शोध्य रचना के प्रभाव का भी बाद की रचनाओं में पड़े प्रभाव का एक अध्याय में निरूपण कर कथाओं के विकास (परिवर्तन/परिवर्धन) का अनुशीलन किया जा सकता है॥८॥

साहित्यिक कृतियों में उद्भावित–राजनीति, समाज, पर्यावरणचेतना, राष्ट्रचेतना आदि का उल्लेख होने पर उक्त पर कवि के दृष्टिकोण और उसके सुझाव आदि का अनुशीलन किया जा सकता है॥९॥

आर्षग्रन्थों में शास्त्र और विज्ञान के विषयों की खोजकर उसमें ऋषि की दृष्टि से उसको कैसा बताया गया है इसका भी उन्मीलन शोधप्रबन्ध के माध्यम से किया जा सकता है॥१०॥

प्रतिपादन शिल्प भी मनोहर हो इसलिए शोधकर्त्ता में भाषा का सम्यक् ज्ञान होना चाहिये, जिससे अपने लेखन में उचित पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग कर सके। हिन्दी में लिखने के लिए विद्यानिवास मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों को पढ़ना चाहिए संस्कृत में लिखने के लिए बाणभट्ट, दण्डी आदि के प्रबन्धों को पढ़ना

चाहिए। **'शतं वद नैकं लिख'** इस अभ्युक्ति के अनुसार कम भले ही लिखें किन्तु लिखें ऐसा कि भविष्य में उसके भाषा प्रयोग की आलोचना न की जा सके, विषय विभाजन भी व्यवस्थित होना चाहिए॥११॥

शोधप्रबन्ध के लिए अपेक्षित सामग्री जो विकीर्ण हो, अनुन्मीलित हो उसे भी उन्मीलित कर कवि के उद्देश्य की खोज करनी चाहिए उसमें परिष्कार कर तात्पर्य स्पष्ट करना चाहिए॥१२॥

एक ही चरित्र का अनेक रचनाओं में वर्णन होने पर ऐसे महान् चरित का युगानुरूप जो कवियों ने परिवर्तन किया है उसका भी समानता और भिन्नता की दृष्टि से शोधप्रबन्ध या शोधपत्र के माध्यम से अनुशीलन किया जा सकता है॥१३॥

काव्य में पञ्चवृत्तियों (कृदन्त, तद्धित, समास, एकशेष, सनाद्यन्त धातुरूप) का प्रयोग रचना में किस प्रकार किया गया है? इसका भी अनुशीलन शोधप्रबन्ध में किया जा सकता है। यद्यपि सम्प्रति भाषावैज्ञानिक अनुशीलन का यह विषय माना जाता है किन्तु साहित्यिक रचनाओं के अनुशीलन में इसे लिया जा सकता है॥१४॥

साहित्यिक रचनाओं में दर्शन या धर्मशास्त्र का भी उपयोग पात्रों के चरित विकास और उनके कथनोपकथनों में देखा जाता है, अतः इस दृष्टि से यदि अधिक सामग्री है तब शोधप्रबन्ध और अल्पमात्रा में होने पर शोधपत्र द्वारा इसे आरेखित किया जा सकता है॥

प्रथमाधिकरणे नवमोऽध्यायः

९. शोधप्रबन्धस्य रूपरेखा

यच्चक्षुरिन्द्रियग्राह्यो गुणो रूपं स उच्यते।
चक्षुर्भ्यामाकृतेरेव बोधो मनसि जायते।।१।।

अतो रूपं प्रबन्धस्य रेखाभिरङ्क्यते बुधैः।
रेखासीम्नि यथा चित्रं चित्रकारेण तन्यते।।२।।

निर्मितौ भवनादेः प्राग् रेखाचित्रं विधीयते।
तेन व्यवस्थितं रम्यं निर्माणं तस्य जायते।।३।।
सम्बद्धविषये स्वीये ये प्रबन्धा विनिर्मिताः।
तया सृत्या प्रबन्धाय रूपरेखा विरच्यताम्।।४।।

यथा भवननिर्माणात्प्राक्तस्य मानचित्रं निर्मीयते तथैव शोधप्रबन्ध-प्रणयनात्प्राक् तस्य रूपरेखा निर्मीयते, समेषां शोधप्रबन्धानां रूपरेखा सर्वथा समाना न भवति। शोधपञ्जीयनात्प्राक् शोधप्रबन्धस्य रूपरेखाऽऽवेदन-पत्रेण साकं देया भवति तां सम्यगवलोक्य शोधसमितिः स्वीकरोति। यदा-कदा तस्यां संशोधनस्यापि परामर्शं शोधसमितिः शोधकर्त्रे प्रददाति। अतः पूर्वप्रस्तुतान् स्वविषयसम्बद्धान् शोधप्रबन्धान् सम्यगवलोक्य विषय-विशेषज्ञमार्गदर्शने रूपरेखा निर्मातव्या। प्रायशः समेषां प्रबन्धग्रन्थानामादौ ग्रन्थरूपरेखाऽपि प्रस्तुतीकृता विद्यते। कवयः शास्त्रकाराश्च सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा आसन्। केनचिन्नियमेन प्राक्तना नियन्त्रिता न आसन् तथापि स्वशास्त्रग्रन्थस्य काव्यग्रन्थस्य वा क्रमबद्धरूपेण पूर्तये ते स्वग्रन्थादौ रूपरेखां प्रतिपादयन्त इव दृश्यन्ते। तेषां कश्चित् तथाकथितो मार्गदर्शको नासीत् तथापि प्राक्तनानां मनीषिणां ग्रन्थाः सुव्यवस्थितरूपेण प्रणीता दृश्यन्ते।

अधुना प्रायो विश्वविद्यालयानुदानायोगेन कुलपतीनां समन्वयसमित्या वा निर्मिताः शोधनियमा अनिवार्यतः स्वीकरणीया भवन्ति, अतः शोधप्रविधिग्रन्थेष्वपि प्रायस्तन्नियमानां प्रभावस्वाभाविकः। अज्ञातकालतः

संस्कृतभाषामाध्यमेनानन्ता ग्रन्था लिखिता वर्तन्ते। तेष्वपि काचिद्व्यवस्था दृश्यते। अतोऽत्र प्रथमं प्राक्तनानां कवीनां शास्त्रकाराणां करतलामलकवत् ग्रन्थानां सुस्पष्टा रूपरेखाः स्थालीपुलाकन्यायेन प्रस्तूयन्ते। मम साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिग्रन्थे रूपरेखाविषये प्रस्तुताः कारिका एवं विद्यन्ते–

आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वा विलिख्यते।
ग्रन्थारम्भे विभात्येषा भारतीया परम्परा।।५।।

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय मङ्गलाचरणस्य परम्परा वरीवर्ति–आशिषा नमस्क्रियया तु मङ्गलं सुस्पष्टं किन्तु वस्तुनिर्देशे कीदृङ्मङ्गलमिति न स्पष्टम्। वस्तुनिर्देशे प्रायः ग्रन्थस्य रूपरेखैव सूच्यते। प्राक्तनेषु ग्रन्थेषु प्रायः स्थितिरियं सुस्पष्टा दरीदृश्यते। अतो मयोक्तम्–

वस्तुनिर्देशतो ग्रन्थे तत्कर्तुर्मङ्गलं यतः।
वस्तुतो रूपरेखैव वस्तुविन्याससाधिका।।

तद्यथा–

रामायणशुभारम्भे कोन्वस्मिन्नित्यतः परम्।
चतुर्भिश्लोकरत्नैश्च नेता रेखाङ्कितो यथा।।६।।
'कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः।।
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को रतः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।।
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।।'

अयं तपस्विनो वाल्मीकेः वाग्विदांवरं तपः स्वाध्यायनिरतं मुनिपुङ्गवं नारदं प्रति प्रस्तावितस्य नायकस्य स्वरूपम्। यथा कश्चिच्छोधच्छात्रः सम्प्रति स्वं गुरुं शोधनिर्देशकमुपसृत्य स्वाभिकल्पितं शोधविषयं प्रस्तौति। पुनश्च नारदः–'इक्ष्वाकुप्रभवो वंशो रामो नाम जनैःश्रुतम्' इत्यादि रूपेण काव्योचितं नायकं प्रतिपादयति। यथाऽत्र महाकाव्यनायकस्य रूपरेखा वाल्मीकिना प्रस्तुता ततश्च तस्मिन्नेव विषये (महाविषये शोधशीर्षकमिव) नारदेन विशेषरूपेण रामस्य गुणाः प्रतिपादिताः। संस्कृतभाषाया आदिकाव्ये तत्रापि चादिश्लोकेषु निर्देशकगुणाः शोधविषयप्रस्तोतुरसन्धातुर्गुणास्तत्समीहा

च साधु रेखाङ्किता। तथापि प्रायशो भारतीया विद्वांसोऽपि कोल आर्थादीनां 'मैनुवल आफ थिसिस राइटिंग' प्रभृतिग्रन्थाननुसृत्य साहित्यशोधे प्रवृत्ता भवन्ति। अतो मया रामायणस्यायं प्रसङ्गः समुद्धृतः। अन्येऽपि काव्यरचयितारः शास्त्रग्रन्थलेखकाः प्राय आदौ विषयस्य रेखाङ्कनं कुर्वन्तो दृश्यन्ते तद्यथा–

रघुवंशादिभिः श्लोकै रघूणामन्वयो यथा।
वर्णितः कालिदासेन रघौ येषां समन्वितिः।।७।।
माहेश्वराणिसूत्राणि चाष्टाध्यायी[१] तथा पुनः।
महतः शब्दशास्त्रस्य रूपरेखैव विद्यते।।८।।
प्रमाणादीनि तत्त्वानि[२] चादौ न्याये यथा तथा।
द्रव्यादिभिः[३] पदार्थैश्च वैशेषिकपुरस्कृतिः।।९।।
अनुबन्धादयः[४] प्रोक्ता वेदान्तविषयास्तथा।
काव्यशास्त्रे हि विद्यन्ते काव्यलक्षणपङ्क्तयः[५]।।१०।।

---

१. अष्टाध्यायी महर्षिपाणिनि प्रणीता। तामाश्रित्यैव व्याकरणशास्त्रस्य महत्तमाः ग्रन्था विद्यन्ते।

२ प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्त–अवयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वितण्डा–हेत्वाभास–च्छल–जाति–निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः–श्रेयसाधिगमः। गौतमन्यायसूत्रम्–१.१.१ इमां रूपरेखां स्वीकृत्यानेनैव क्रमेणतर्कभाषाकारः केशवमिश्रः स्वग्रन्थं रचयाञ्चकार।

३. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः' इदं सूत्रं रूपरेखारूपेण स्वीकृत्यान्नंभट्टेन तर्कसङ्ग्रहो व्यरचि। यथाक्रममेताषां पदार्थानां निरूपणं तर्कसङ्ग्रहे प्राप्यते।

४. तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।। सदानन्दः वेदान्तसारे।।४।। अनुबन्धविषये वाचस्पत्यमिति कोषग्रन्थे प्रतिपादितम्–शास्त्रस्यादौ वक्तव्याधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धेषु। ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुंश्रोता प्रवर्तते। ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः स प्रयोजनम्। इत्युक्ते विषयप्रयोजनादीनामारम्भप्रयोजकत्वात्तद्धेतुत्वम्। अस्मिन् पक्षे चानुबध्यतेऽनेनेतिकरणे घञ्। द्रष्टव्या–डॉ०सन्तनारायणश्रीवास्तव्यस्य वेदान्तसारटीका।

५. यथा–साहित्यदर्पणस्य काव्यलक्षणसम्बद्धा समग्रा कारिका–'वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः।' अत्र साहित्यदर्पणे विचारणीयाः सर्वे विषया रूपरेखारूपेणाचार्यविश्वनाथेन अचीयन्त।

एवं हि रूपरेखायां बन्धविन्यासरूपता।
विषयाणां च सङ्केतैरादौ शोधे विधीयते।।११।।

एकस्माद्विषयान्नूनं बह्व्यः शाखाः विनिःसृताः।
अतस्तास्वनुसन्धातुं चिनोत्येकां हि कामपि।।१२।।

शोधविषयनैयत्यं रूपरेखासु युज्यते।
आदिवाक्यं यथाशास्त्रे निमितेर्मानसूत्रवत्।।१३।।

मानसूत्रं हि गेहस्य यथाधारो हि निर्मितेः।
तथेयं रूपरेखाऽपि बन्धविन्यासदीपिका।।१४।।

गम्भीरेण विचारेण शीर्षकं चीयतां ततः।
विषयस्य विभागार्थं रूपरेखा विरच्यताम्।।१५।।

पूर्वं शोधाः कृतास्तेऽपि विमृश्यन्तां समासतः।
तेषां स्वरूपमुद्देश्यं लिख्येतां बोधपूर्वकम्।।१६।।

प्रस्तावनोपसंहारमध्ये विषयविस्तृतिः।
शोधशीर्षकमाश्रित्य तद्विभागो विधीयते।।१७।।

प्रस्तोतव्यप्रबन्धस्य तन्महाविषये स्थितेः।
महत्त्वोद्देश्यसंयुक्ता प्रोक्तिः प्रस्तावना मता।।१८।।

भूमिकाधारभूमिः स्याद् बीजारम्भसमा मता।
उपसंहृतिवच्चेदमुपसंहारसर्जना।।१९।।

पूर्वबन्धे च किं लेख्यं पश्चबन्धे च किं भवेत्।
मध्ये शोधप्रबन्धस्य विषयव्यावृतिः कथम्।।२०।।

इत्थं हि योग्यनिर्देशे रूपरेखासु लिख्यते।
सर्वस्मिन् विषये नात्र साम्यं नो चैकपद्धतिः।।२१।।

अतः शोध्यदिशा लेख्या रूपरेखाविवेकतः।
सुपुत्रकविसिंहानां नानुगत्वं प्रशस्यते।।२२।।

प्रथमं स्यादुपोद्घातः ततश्च विषयक्रमः।
ग्रन्थसङ्केतसूची च नामबोधाय दीयताम्।।२३।।

यदि शोधप्रबन्धःस्यात्संस्थानानामुपाधये।
तदा मौलिकशोधस्य प्रमाणीकरणं भवेत्।।२४।।

निर्देशकेन शोधस्यच्छात्रेणापि प्रदीयताम्।
शोधप्रबन्ध आदौ यन्मुद्रितं स्यात्पृथक्प्रथक्।।२५।।

भूमिकाभित्तिनिर्माणाधारवच्चादि वर्णना।
गेहोपरि पताकेव निष्कर्षायोपसंहृतिः।।२६।।

अन्ते प्रयुक्तसन्दर्भसूची नूनं प्रदीयताम्।
कृतेः कर्तुश्च वर्षस्य प्राप्तिस्थानस्य बोधिका।।२७।।

प्रत्याध्यायं हि यत्रापि पूर्वग्रन्थाः समुद्धृताः।
अध्यायान्ते त उल्लेख्याः पृष्ठसङ्ख्यादिसंयुताः।।२८।।

यदि शोधप्रबन्धस्य परिशिष्टमपेक्ष्यते।
ग्रन्थसूच्याः पुरा देयमनुसन्धानपूर्तये।।२९।।

पाण्डुलिपेश्चमूर्त्तेश्चच्छायाचित्रस्य वा पुनः।
रेखाचित्रस्य चेदिच्छा देयं सर्वं यथास्थलम्।।३०।।

अन्यतश्च गृहीतं यत् तस्य स्त्रोतोऽपि लिख्यताम्।
यस्यानुमतिबन्धः स्यात्तत् सम्मत्यैव युज्यताम्।।३१।।

केन्द्रीयशासनेनोताहो प्रान्तीयशासनेनाध्ययनाध्यापनशोधादिकृते नियमाः परिनियमाः प्रायशः सर्वान् विषयान् दृष्टिपथमानीय निर्मीयन्ते। तत्र समितौ सर्वविषयविशेषज्ञा न भवन्ति। अतः ते नियमाः सर्वेषां विषयाणां कृते नोपयोगिनो भवन्ति। वस्तुतः प्रत्येकं विषयस्य पृथगनुसन्धानादिपद्धतिर्भवति। शासननियमानां पालनं विदुषामपि वैवश्यम्। अतः रूपरेखानिर्मितावपि शोधविषयस्य प्रतिकूलाः परिस्थितय आपतन्ति। संस्कृतवाङ्मयेऽपि विविधविषयाः सन्ति। वैदिकवाङ्मये संहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषदनुसन्धाने पृथक् पृथक् पद्धतिः स्वीकरणीया भवति। तथैव वेदान्ते या प्रक्रिया सा योगे नूनमेव न भविष्यति। हिन्द्यां 'ने' को 'से' लिए' प्रभृति सम्बन्धतत्त्वानि कथ्यन्ते किन्तु सस्कृते विभक्तयः कथ्यन्तेऽत्र शब्दरूपेणैव कार्यं भवति। एकदा संस्कृतग्रन्थस्य भाषावैज्ञानिकेऽनुसन्धाने हिन्दी ग्रन्थस्य रूपरेखामनुसृत्य

केनचिद्विदुषा-एकोऽध्यायः सम्बन्धतत्त्वविचारः-इति-उपशीर्षकः प्रदत्तः। अतोऽनुकरणं विहाय विषयदिशा रूपरेखा निर्मातव्या। संस्कृतभाषायां विभक्त्या-एव 'ने, की, से के लिए हिन्द्यां, आङ्ग्लभाषायां च इन, आफ, आन' प्रभृति सम्बन्धतत्त्वस्य बोधो भवति। एवं सम्बन्धतत्त्वसदृशी कापि प्रक्रिया संस्कृतभाषायां नास्ति, अत्र विभक्तीनां प्रयोगो भवति। सम्बन्धसूचनार्थं षष्ठी विभक्तिः प्रयुज्यते।

शोधप्रबन्ध की रूपरेखा

नेत्रेन्द्रिय से ग्रहण किए जाने वाले गुण को रूप कहा जाता है। अतः शोधप्रबन्ध का स्वरूप निश्चित करने की इच्छा से पहले उसे रेखाङ्कित किया जाता है, जैसे किसी वस्तु के देखने पर उसका आकार मन में अंकित हो जाता है उसी प्रकार शोधप्रबन्ध के कथ्यों की परिकल्पना कर उसकी रूपरेखा बनाई जाती है॥१॥

जैसे चित्र बनाने के पहले रेखाओं को बनाकर उसमें तूलिका से उचित रंग भरकर चित्र की पूर्णता प्रदान की जाती है उसी प्रकार शोधकर्त्ता अपनी परिकल्पना के अनुसार अध्यायों के कथ्यों को रूपरेखा में प्रतिपादित करता है। आवश्यतानुसार छोटे बड़े आकार वाले अध्यायों में शोधप्रबन्ध का अपेक्षित उद्धरणों सहित लेखन कार्य करता है। जैसे रेखा की सीमा में ही चित्र में रंग भर जाता है उसी प्रकार एक सीमा में शोधच्छात्र विषयविशेष के कथ्यों को वर्गीकृत रूप में प्रस्तुत करता है॥२॥

किसी भवन के निर्माण में अभियन्ता पहले रेखाचित्र बनाकर उसकी रूपरेखा बना लेता है तदनुसार नीव खोदकर उचित कक्षों का निर्माण कराता है। उससे व्यवस्थित रूप से भवन का सुन्दर निर्माण होता है॥३॥

अपने विषय से सम्बद्ध जो पहले शोधप्रबन्ध लिखे गए हैं उनका अवलोकन कर उसी मार्ग का अनुसरण करते हुए रूपरेखा का निर्माण प्रायः किया जाता है॥४॥

जैसे भवन निर्माण के पहले मानचित्र बनाया जाता है उसी प्रकार शोधप्रबन्ध की रचना के पूर्व उसकी रूपरेखा बनाई जाती है। सभी शोधप्रबन्धों की रूपरेखा सर्वथा समान नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक रचनाकार कई बार मौलिक रचना में पूर्वाचार्यों या रचनाकारों का अनुगमन नहीं करता। अतः उसकी रचना के मूल्याङ्कन का मानदण्ड भिन्न भी हो सकता है।

रूपरेखा शोध करने वाले को आवेदन पत्र के साथ देने का नियम है, उसका सम्यक् रूप से अवलोकन करके शोधसमिति अनुमति प्रदान करती है। उसमें संशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन का सुझाव भी शोध समिति प्रदान करती है। अतः पूर्व प्रस्तुत अपने शोधविषय से सम्बद्ध शोधप्रबन्धों को देखकर ही रूपरेखा बनाई जाती है। जिस विषय पर शोध हो चुका है उसका भी अन्तर्जाल (इण्टरनेट) के माध्यम से जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए क्योंकि जिस विषय पर शोध हो चुका है उसकी अनुमति प्रायः शोधसमिति नहीं देती। सभी शोधप्रबन्धों के प्रारम्भ में उसकी विषयसूची तथा भूमिका में उसकी रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई रहती है। कवि और शास्त्रकार प्रायः सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हैं किसी नियम से वे प्रतिबन्धित नहीं होते, अतः जिस रचना पर शोध करना है उसका पहले सम्यक् अवलोकन कर उसकी मौलिकता या विशेषताओं को ज्ञात कर ही रूपरेखा बनानी चाहिए॥ प्राचीन कवि और शास्त्रकार किसी प्रविधि से अथवा प्रबन्ध लेखन के शास्त्रीय विधान से नियन्त्रित नहीं थे तथापि उनकी क्रमबद्ध और व्यवस्थित सर्जना दिखाई देती है।

इस समय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से विश्वविद्यालय नियन्त्रित हैं, कुलाधिपति, कुलपति उनकी समन्वय समितियाँ, नियमों और परिनियमों को निर्मित करती हैं। इन्हीं नियमों से विश्वविद्यालय संचालित होते हैं। अतः शोधप्रविधि के स्वरूप पर भी उन नियमों का प्रभाव है। बहुत प्राचीन काल से ग्रन्थों का लेखन हो रहा है उनमें एक व्यवस्थित क्रम है। अतः पहले प्राक्तन कवि और शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित और अनुसृत पद्धति की रूपरेखा स्थालीपुलाकन्याय से प्रस्तुत

की जा रही है। मेरे **'साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि'** ग्रन्थ में रूपरेखा के विषय में प्रस्तुत कारिकाएँ इस प्रकार हैं–

आशीर्वाद, देववन्दना अथवा वस्तुनिर्देश अथवा तीनों को सम्मिलित रूप में प्रस्तुत कर उसके बाद ग्रन्थों का प्रायः प्रारंभ किया जाता था, यह भारतीय परम्परा रही है। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए किया जाता है। वस्तुनिर्देश (वर्णनीय विषय का प्रतिपादन) किस प्रकार का मंगल है यह स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः वस्तुनिर्देश प्रायः ग्रन्थ की रूपरेखा का संकेत करता है। अतः इसको मंगलाचरण के रूप में मानने के लिए स्वीकार किया गया है।

वस्तुनिर्देश द्वारा ग्रन्थ की पूर्ति का मंगल इसलिए होता है क्योंकि उसमें नायक के स्वभावादि का निरूपण कर कवि उसी प्रकार उदात्त जीवन मूल्यों की रूपरेखा बनाकर वस्तुविन्यास में उसे अन्वित करता है–

जैसा कि आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में वस्तुनिर्देश है– 'रामायण के शुभारंभ में नेता **(नायक, कोन्वस्मिन् साम्प्रते लोके)** इत्यादि श्लोकों का रेखांकन किया है यह निरूपण प्रारंभ में चार श्लोकों में प्रस्तुत है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के मन में धर्मशास्त्रानुरूप नायक का स्वरूप है जो उदात्त जीवन मूल्यों पर आधारित है॥१६॥

वह वर्णन इस प्रकार है–

(तपःस्वाध्यायनिरत वाग्विदांवर मुनिपुंगव नारद से तपस्वी वाल्मीकि ने पूँछा–)

ऐसा कौन महापुरुष है जो इस लोक के लिए उचित (प्रेरणादायक) है, जो गुणों (उदात्तजीवन मूल्यों से युक्त है, जो पराक्रमी है जो धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य बोलने वाला है) जिसमें व्रत की दृढ़ता है॥ (वाल्मीकि रा. बालकाण्ड. १.२) और कौन चरित्रवान् है, सभी प्राणियों पर दया करने वाला है कौन विद्वान् है, कौन समर्थ है? कौन सबको प्यार से देखता है और किसे सब प्यार से देखते हैं? कौन आत्मशक्ति से युक्त है?

कौन क्रोध पर विजय प्राप्त करता है? और कौन दिव्य प्रभा से युक्त है? कौन किसी से द्वेष नहीं करता। युद्ध में क्रोध करने पर जिससे देवता भी डरते हैं। (वही- ३.४)

यह तपस्वी वाल्मीकि का भाषा पर असाधारण अधिकार रखने वाले, स्वाध्याय में निरन्तर संलग्न रहने वाले, मनन- चिन्तन में सर्वश्रेष्ठ और ज्ञान देने वाले **(नारं ज्ञानं ददातीति नारदः)** के समक्ष रखा गया प्रस्ताव है। वस्तुतः यह शोधनिर्देशक का लक्षण भी है (जो निरन्तर स्वाध्याय में लगा हो, जिसका भाषा पर असाधारण अधिकार हो जो मनन करने, मौलिक चिन्तन में श्रेष्ठ हो वही कवि या शोधच्छात्र का निर्देशक हो सकता है) वाल्मीकि के प्रस्ताव को सुनकर नारद ने बताया ऐसे नायक इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राम हैं। इस प्रकार नारद ने वाल्मीकि को नायक का स्वरूप बताया। इतना सुन्दर निर्देशक का लक्षण वाल्मीकि रामायण के प्रथम श्लोक में बताया गया है। तथा काव्यनायक का स्वरूप प्रथम काव्य रामायण में बताया है तथापि कोल आर्थ के मैनुवल ऑफ थिसिस राइटिंग पुस्तक के आधार पर आज शोधनिर्देशक और शोधप्रबन्ध लेखन के लिए रूपरेखा (सिनाप्सिस) का प्रचलन है। इसलिए श्रेष्ठ काव्यात्मक प्रबन्धरचना के सर्जन की स्थिति का सही निरूपण यहाँ किया गया है। अन्य रचनाकार कालिदास, श्रीहर्ष आदि महाकाव्यकार भी प्रारंभ में नायक के गुणों की रूपरेखा के रूप में पहले उनके गुणों का वर्णन कर उसी को अपनी रचना में अन्वित दिखाते हैं। महाकवि कालिदास भी वाल्मीकि की तरह रघुवंश के प्रारंभिक श्लोकों में रघुवंशी राजाओं के गुणों का वर्णन कर उसी की अन्विति अपने काव्य की कथावस्तु के विन्यास में दिखाते हैं। संस्कृत साहित्य की दृष्टि से चाहे काव्यसर्जन हो या शोधप्रबन्ध का सर्जन उसमें यह पद्धति ही परम उपयोगी है।–

'रघुवंश के आदि श्लोकों में रघुवंशी राजाओं के जिन गुणों का वर्णन कालिदास करते हैं' विशेष रूप से दिलीप से अतिथि तक उसकी अन्विति दिखाते हैं। अन्त में अग्निवर्ण की स्थिति का वर्णन कर

कालिदास यह प्रेरणा देना चाहते हैं इतने श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर जिसने अपने पूर्वजों के आचरित नियमों का पालन नहीं किया, वह दुर्गति को प्राप्त हुआ। आह्लाद और प्रेरणा कविता का मूलतत्त्व है अतः उसमें सत् और असत् दोनों प्रवृत्तियों का महाकवि चित्रण कर पाठक को अच्छे और बुरे कर्मों का ज्ञान कराकर उसे प्रेरणा देना चाहता है।

अब अन्य प्रशस्त रचनाओं की रूपरेखा का निरूपण किया जा रहा है–

माहेश्वर सूत्र **'अ इ उ ण्'** आदि तथा **पाणिनि की अष्टाध्यायी** महान् संस्कृत व्याकरण शास्त्र की रूपरेखा है। क्योंकि इन्हीं सूत्रों के आधार पर शब्दों की सिद्धि की गई है सन्धि के नियम आगे बताकर भाषा को एकरूपता प्रदान की गई है॥८॥

प्रमाण, प्रमेय, सिद्धान्त, दृष्टान्त अक्षपाद गौतम के सूत्र ही क्रमशः विस्तृत रूप से न्यायशास्त्र के विस्तार के आधार हैं, यह न्यायशास्त्र की रूपरेखा ही है। इसी प्रकार वैशेषिक में द्रव्यगुण-आदि सात पदार्थों का प्रथमतः उल्लेख कर उसकी विवेचना विस्तृत रूप से की गई है॥९॥

इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र में **अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन** आदि का प्रारंभ में वेदान्तसारादि ग्रन्थों में उल्लेखकर उसी क्रम में कथ्य को पल्लवित किया गया है।

काव्यशास्त्र में प्रायः काव्य लक्षण में उल्लिखित विषयों का ही पल्लवन करते हुए ग्रन्थ लिखे गए हैं-

यथा–

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्याषकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः॥'

यह कारिका आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण की है। जिसमें शब्दों, अर्थों, वाक्य विन्यास, शब्द शक्तियों रसादि, दोष और उत्कर्ष के हेतु गुण, अलङ्कारादि का विवेचन पूरे ग्रन्थ में किया गया है। यह

कारिका साहित्यदर्पण की रूपरेखा ही है। इसी प्रकार उचित क्रम से शोधप्रबन्ध के अध्यायों का विभाजन कर शोधप्रबन्ध की पूर्ति की जाती है।

इस प्रकार रूपरेखा में शोध के विषयों का विभाजन किया जाता है। यह भारतीय पद्धति है जिसके माध्यम से संस्कृत मनीषियों ने व्यवस्थित रूप से अपने ग्रन्थों की पूर्ति की है॥१०॥

इस प्रकार रूपरेखा में शोधप्रबन्ध के स्वरूप को भूमिका लिखने के बाद शोध-प्रबन्ध के अध्यायों का विभाजन किया जाता है। विषयों का विभाजन उनके शीर्षकों तथा उपशीर्षकों को लिख कर प्रस्तुत किया जाता है अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची भी दी जाती है जिनसे शोधच्छात्र शोधप्रबन्ध के प्रणयन में सहयोग प्राप्त करना है॥११॥

एक महाविषय की अनेक शाखाएँ होती हैं अतः शोधप्रबन्ध जिस शाखा में लिखना है, उसे ही चुनना चाहिए ॥१२॥

शोधविषय की सीमा भी इसमें निर्धारित की जाती है आदि वाक्यों में जिस प्रकार महान् ग्रन्थकारों ने प्रारंभ में सूत्र रूप में अपने प्रतिपाद्य विषय की सूचनाएँ दी है जैसा कि पूर्व उद्धृत कारिकाओं में सोदाहरण बताया गया है॥१३॥

मानसूत्र (घर आदि बनाने का मानचित्र) जिस प्रकार भवन की निर्मिति का आधार होता है उसी प्रकार रूपरेखा भी शोधप्रबन्ध के लेखन का आधार होती है॥१४॥

पहले गम्भीरतापूर्वक विचार करके शीर्षक का चयन किया जाता है उसके बाद उसकी रूपरेखा बनाई जाती है॥१५॥

रूपरेखा की भूमिका में सम्बद्ध विषय पर जो पूर्व में शोध किए गए हैं उन पर विमर्श करना चाहिए। पूर्व प्रणीत विषय शोधप्रबन्धों के स्वरूप और उद्देश्य की सम्यक् समीक्षा करनी चाहिए॥१६॥

प्रस्तावना और उपसंहार के मध्य में अपने शोध्य विषय का अध्यायों में विभाजन करके विस्तृत रूप से सप्रमाण प्रतिपादन करना चाहिए॥१७॥

प्रस्तावना– प्रस्तुत किए जाने वाले शोधप्रबन्ध की उस विषय के महाविषय में उसकी स्थिति से सम्बन्धित महत्त्व और उद्देश्य का कथन प्रस्तावना कहा जाता है॥१८॥

भूमिका– भूमिका आधार भूमि होती है जैसे नाटकों में बीज और आरंभ को नाटककार व्यक्त करता है जो पूरी रचना की प्रारंभिक सूचना की तरह व्यक्त की जाती है। जैसे नाटकों में उपसंहृति होती है उसी प्रकार उपसंहार होता है। उसमें पूरे शोधप्रबन्ध का सारांश प्रस्तुत किया जाता है। भूमिका में ऐसा कहा जायेगा और उपसंहार में ऐसा कहा गया है। प्रस्तुत किया गया है। प्रायः भूमिका और उपसंहार शोधप्रबन्ध के महत्त्वपूर्ण अंश हैं केवल उन्हीं को पढ़कर संक्षिप्त रूप में शोध के विषय को पाठक जानना चाहते हैं। अतः बड़ी सावधानी से अपने शोधप्रबन्ध का उद्देश्य और सार प्रस्तुत करना चाहिए॥१९॥

शोधप्रबन्ध के मुख्यतः तीन भाग होते हैं। पूर्व, (अग्र), मध्य तथा पश्च। अग्रभाग अर्थात् पूर्व भाग में शोधविषय का शीर्षक, उसकी भूमिका, प्रस्तावना, विषय सूची आदि देना होता है, मध्यभाग में अध्यायों का विभाजन उसके शीर्षक और उपशीर्षक दिए जाते है, पश्च भाग में उपसंहार, परिशिष्ट, छायाचित्र, सन्दर्भों (सहायक ग्रन्थों) की सूची आदि दी जाती है। मध्य में शोधप्रबन्ध का विस्तार किस प्रकार किया जायेगा? यह सब किसी योग्य निर्देशक के निर्देशन में लिखना चाहिए। सभी विषय एक प्रकार के नहीं होते न सभी शीर्षक के कथित विषयों पर अध्याय विभाजन या उसके कथ्य होते हैं अतः शोध्य विषय की दृष्टि से उसे प्रस्तुत करना चाहिए जो मौलिक हो। जैसा कि कहा गया है **लीक छोड़ तीनों चलें शायर, सिंह, सपूत।**॥२०-२२॥

सर्वप्रथम उपोद्घात उसके बाद विषय क्रम, ग्रन्थ संकेत सूची भी जाती है क्योंकि बार-बार उद्धृत करने के लिए ग्रन्थ का पूरा नाम लिखने से बचने के लिए रघुवंश की जगह रघु०, श्रीमद्भागवत की जगह श्रीमद्भा. आदि इसे संकेत सूची में दिया जाता है। इससे किस ग्रन्थ का उद्धरण है? यह पाठक को विदित हो जाता है॥२३॥

यदि शोधप्रबन्ध संस्थान या विश्वविद्यालय की उपाधि के लिए लिखा जा रहा है तब मौलिक शोधकार्य का प्रमाणपत्र भी प्रारंभ में दिया जाता है। शोधच्छात्र तथा शोधनिर्देशक दोनों देते हैं वह शोध के शीर्षक (मुख पृष्ठ के बाद सर्वप्रथम मुद्रित (टंकित) और हस्ताक्षरित होना चाहिए। उसे संस्था के विभागाध्यक्ष अथवा प्राचार्य द्वारा अग्रेसारित कराकर हस्ताक्षर के अधोभाग में संस्था की मुद्रा भी लगवानी चाहिए। छात्र और निर्देशक के प्रमाणीकरण अलग-अलग पृष्ठों में होना चाहिए। नए नियम के अनुसार शोधच्छात्र द्वारा लिखे गए शोधपत्रों की छाया प्रति भी देनी पड़ती है प्रायः एक से पाँच शोधपत्रों को शोधप्रबन्ध के अन्त में देना पड़ता है॥२४-२५॥ उचित होगा कि शोधच्छात्र अपना पता भी शोधप्रबन्ध अन्त में लिखें।

भूमिका के विषय में पहले बताया जा चुका है उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए पुनः दूसरे उपमान के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है– भूमिका आधार भित्ति के समान होती है जैसे गृहनिर्माण में जब नीव भर दी जाती है तब पता चल जाता है कितने बड़े या छोटे कक्ष बनेंगे इसी प्रकार शोध प्रबन्ध की भूमिका में शोधप्रबन्ध के अध्यायादि का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। घर या भवन के ऊपर लगी पताका के समान उपसंहार होता है जिससे किस प्रकार की विचारधारा इसमें व्यक्त है इसकी कल्पना कर ली जाती है। उसी प्रकार उपसंहार शोध का निष्कर्ष होता है॥२६॥

शोधप्रबन्ध के अन्त में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची, लेखक, प्रकाशक और वर्ष के साथ देना आवश्यक होता है॥२४॥

यदि शोधप्रबन्ध में परिशिष्ट अपेक्षित है तब उसे सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के पहले दिया जाता है इसमें अन्त में ग्रन्थ को सर्वोत्तम बनाने के लिए विशिष्ट साहित्यकारों और ग्रन्थों की अकारादि क्रम से सूची देकर किस पृष्ठ में उसका नाम आया है इसके पृष्ठों की संख्या लिखी जाती है। इससे पाठक को किस पृष्ठ में किसी आचार्य या ग्रन्थ का नाम किस प्रसंग या सन्दर्भ में दिया गया है इसकी त्वरित जानकारी प्राप्त करने में सुविधा होती है॥२९॥

पाण्डुलिपि की फोटो, छायाचित्र या रेखाचित्र भी यथास्थान दिया जाता है इससे पाण्डुलिपि या लेखक द्वारा उसके लिप्यंकन की विधि का ज्ञान प्रामाणिक रूप से कराया जाता है॥३०॥

यदि अन्य ग्रन्थ में इसे लिया जाता है तब कापीराइट होने पर अथवा अनुमति के विना न उद्धृत करने की बाध्यता है तब अनुमति लेकर ही उसका उपयोग कर्ता के नामोल्लेख के साथ देना आवश्यक होता है॥३॥

केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय शासन द्वारा अध्ययन, अध्यापन और शोध के जो नियम बनाए जाते हैं वे प्रायः सभी विषयों के लिए सामान्य रूप से बनाए जाते हैं। इसकी समितियों में सभी विषयों के विशेषज्ञ नहीं होते और इसमें कई बार अक्षम व्यक्ति भी इसमें रहते हैं अतः इनके बनाए गए नियम सभी विषयों के लिए सर्वथा उपयोगी नहीं होते। लेखनादि नियमों का महान् विद्वानों को भी मानने की विवशता होती है। अतः रूपरेखा के निर्माण में भी शोधविषय में प्रतिकूल परिस्थिति भी उत्पन्न होती है। संस्कृत वाङ्मय में भी विविध विषय हैं। वैदिक वाङ्मय में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के शोध में भी पृथक्-पृथक् पद्धति अपनानी पड़ती है। चतुर्दश विद्याओं में वेदांगों की भी स्थिति भिन्न-भिन्न है अतः एक रूप से निर्धारित मानदण्डों की परिधि में इनका अनुशीलन और शोध संभव नहीं होता। जो पद्धति वेदान्त के अनुशीलन की है वह योगशास्त्र में प्रयुक्त नहीं रखी जा सकती क्योंकि योग में योगासनों के चित्रादि भी देने पड़ते है संस्कृतवाङ्मय के वैज्ञानिक विषयों की पद्धति भिन्न होगी उसमें प्रयोग आदि करना आवश्यक होगा। नए विषय भाषा विज्ञान आदि में हिन्दी में सम्बन्ध तत्त्व ने, की, से, के लिए, में, पर के अध्ययन करेंगे किन्तु संस्कृत भाषा संश्लिष्ट है उसमें शीर्षक में विभक्तियो के लिए स्वादि प्रत्यय से शब्दों के सम्बन्धों का ज्ञान किया जायगा, वैदिक मन्त्रों के अध्ययन में स्वरों (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) के ज्ञान से अर्थबोध किया जायगा। किसी आधुनिक भाषाविज्ञानवेत्ता ने संस्कृत की कृति में सम्बन्ध तत्त्वों का अध्ययन

शीर्षक कर दिया इससे समस्या उत्पन्न हो गई क्योंकि संस्कृत में विभक्तियों का ज्ञान करना आवश्यक होता है। अतः पाश्चात्य अथवा अन्य भाषाओं के प्रभाव में आकर संस्कृत भाषा के ग्रन्थों के अनुशीलन में अत्यन्त सावधानी अपेक्षित है। आजकल नारी-विमर्श और दलित विमर्श पर भी शोधपत्र और शोधप्रबन्ध लिखे जा रहे हैं जबकि संस्कृत का प्राक्तन वाङ्मय प्राणिमात्र के प्रति संवेदनशीलता से भरा पड़ा है। अतः आधुनिकता के चक्कर में पड़कर संस्कृत के प्राक्तन वाङ्मय का अध्ययन और शोध करने में बाधाएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं॥

प्रथमाधिकरणे दशमोऽध्यायः

१०. अनुसन्धातुरवधानताविमर्शः

लोकोपकारमुद्दिश्यऽथवा ज्ञानस्य वृद्धये।
शोधकार्यं विधातव्यं पिष्टपेषणवर्जितम्।।१।।

पाश्चात्येन प्रभावेण शोधसंस्थासु साम्प्रतम्।
प्रायः पाश्चात्यशिल्पेन शोधकार्यं विधीयते।।२।।

जीविकायै पदप्राप्त्यै क्वचिच्छोधानिवार्यता।
अतः शोधप्रबन्धेषु गाम्भीर्यं नास्ति पूर्ववत्।।३।।

प्राप्तोपाधिप्रबन्धोऽयमतस्तस्यानुकारिता।
मा विधेया गुरुन् पृष्ट्वा तस्यार्हत्वं विमृश्यताम्।।४।।

अधीतविषये यत्र सम्यक्शोध्यं प्रतीयते।
तं विषयं समाश्रित्य शोधकार्यं विधीयताम्।।५।।

शोधेच्छुः प्रथमं लेखान् शोधपत्राणि संलिखेत्।
शोधस्य पत्रिकाः शोधप्रबन्धाँश्च विलोकयेत्।।६।।

लेखस्य वा निबन्धस्य शोधपत्रस्य वा यदि।
लेखने यः क्षमो नास्ति कथं शोधं विधास्यति।।७।।

'शत्रोरपि गुणाः वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।'
इत्युक्त्या हि विचार्येतामेतौ चेदति सङ्गतौ[१]।।८।।

बहोःकालाद्धि विख्याता ऋषयश्च मनीषिणः।
तेषां मतविरोधाय स्वाल्पज्ञत्वं विचिन्त्यताम्।।९।।

---

१. यथोक्तं कालिदासेन-
द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टतस्यार्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता।। (रघुवंशे-१.२८)

एकस्मै शोधपत्राय यथा यत्नो ह्यपेक्ष्यते।
क्वचित्तथाविधो यत्नः शोधबन्धेऽपिधाप्यते।।१०।।

प्रबन्धप्रणयनदिशाऽपि काव्यशास्त्रीयग्रन्थेषु काव्यदोषाः प्रतिपादिताः काव्यदोषेषु भाषादोषा अपि निरूपिताः। अतः शोधप्रबन्धप्रणयनेऽपि तेंऽशा शोधच्छात्रैरवलोकनीयाः भामहराजशेखरयोरत्र केचनांशाः स्थालीपुलाकन्यायेन प्रस्तूयन्ते–

विशेषरूपेण भामहीये काव्यालङ्कारे षष्ठपरिच्छेदेऽस्मिन् विषये सोदाहरणं निरूपणं प्राप्यते।

'नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयं गम्यमलं कर्तुमयं जनः।। का. ६/३
तस्य चाधिगमे यत्नः कार्यः काव्यं विधित्सता।
परप्रत्ययतो यत्तु क्रियते तेन का रतिः।।' का. ६/४

यस्य प्रयुक्ताः शब्दा अन्यप्रामाण्ये निर्भरास्तादृशी वाणी अन्येन धृता त्यक्ता च कुसुमावलीव विद्यते–

'नान्यप्रत्ययशब्दा वागाविभाति मुदे सताम्।
परेण धृतमुक्तेव सरसा कुसुमावली।।' का. ६/५
नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतः सम्मोहकारिणम्।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात्को हन्तिं गतिवाचिनम्।।
का. ६/२५

भामहो दुर्बोधापेशलग्राम्यनिरर्थकशब्दानां प्रयोगं हेयं मनुते–

'श्रौत्रादिं नतु दुर्बोधं न दुष्टादिमपेशलम्।
ग्राम्यं न पिण्डीशूरादिं न डित्थादिमपार्थकम्।। का. ६/२५
न शिष्टैरुक्तमित्येव न तन्त्रान्तरसाधितम्।
छन्दोवदिति चोत्सर्गान्न चापिच्छान्दसं वदेत्।। का. ६/२७
क्रमागतं श्रुतिसुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत्।
अतिशेतेह्यलङ्कारमन्यं व्यञ्जनचारुता।।' का. ६/२८
'न तवर्गं शकारेण क्वचित्संयोगिनं वदेत्।
यथैतच्छ्यामममाभाति वनं वनजलोचने!।।' का. ६/६०

शब्दप्रयोगविषये भामहस्य षष्ठपरिच्छेदोऽवलोकनीयः। राजशेखरस्य काव्यमीमांसा यद्यपि विशेषरूपेण कविशिक्षाया ग्रन्थस्तथापि लेखकानां कृते परमोपयोगीनि कथनानि ग्रन्थेऽस्मिन् प्राप्यन्ते। यथा पाठविषये-

विभक्तयः स्फुटा यत्र समासश्चाकदर्थितः।
अम्लानः पाठसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥ (अ.७)

न व्यस्तपदयोरैक्यं न भिदां तु समस्तयोः।
न चाख्यातपदम्लानिं विदधीत सुधीः पठन्॥ (तत्रैव)

यद्यपि काव्यमीमांसाया दशमेऽध्यायेऽपि कविशिक्षारूपेण राजशेखरो निरूपणं करोति किन्तु प्रबन्धरचनां कविरपि करोति शोधच्छात्रोऽपि। अतस्तत्कविचर्यानिरूपणं ध्यातव्यम्-

'गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपारायणे, अभिधान-कोशः, छन्दोविचितिः अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः। कलास्तु चतुःषष्ठिरुपविद्याः। सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः, देशवार्त्ता, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातरः, पुरातनकविनिबन्धाश्च किञ्च

स्वास्थ्यं प्रतिभाऽभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथाबहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

(काव्यमीमांसा अ०-१०)

पूर्वोद्धृतं भवभूतिकथनमपि बहुप्रेरणाप्रदं शोधच्छात्राणां कृते-

शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः,
प्रागल्भ्यमम्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्व-
मेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु।।

(मालतीमा.-३.११)

१०. अनुसन्धानकर्त्ता की सावधानी

लोकोपकार अथवा ज्ञान की वृद्धि के लिए शोधकार्य करना चाहिए किन्तु उसे पिष्टपेषणरहित (पूर्व ग्रन्थों या शोधप्रबन्धों में प्रस्तुत

किए गए तथ्यों की नकल नहीं होनी चाहिए॥१॥

पाश्चात्य प्रभाव से इस समय संस्थानों में प्रायः पाश्चात्य शिल्प में ही शोधकार्य किए जा रहे हैं॥२॥

जीविका और पदप्राप्ति के लिए कहीं-कहीं शोधोपाधि की अनिवार्यता है अतः किसी प्रकार अन्यलोगों से शोधप्रबन्ध लिखवाकर शोधोपाधि प्राप्त कर ली जाती है, अतः उनमें गम्भीरता नहीं रहती है। एक पृष्ठ भी शुद्ध संस्कृत न लिख पाने वाले भी संस्कृत विषय में शोधोपाधि प्राप्त कर चुके हैं॥३॥

अतः इस शोधप्रबन्ध पर उपाधि प्राप्त हो चुकी है इसलिए उसका अनुकरण करना उचित नहीं है, उसे गुरुजनों को दिखाकर गुणवत्ता की परख कर उसकी अर्हता है या नहीं, ऐसा निश्चित कर लेना चाहिए॥४॥

अपने अधीत विषय में जिस क्षेत्र में शोध करने योग्य सामग्री है, उस पर शोधकार्य करना चाहिए॥५॥

शोध करने के इच्छुक को पहले कुछ शोधपत्र-लेख आदि लिखना चाहिए। शोधपत्रिकाएँ और सम्बन्धित विषय के शोध प्रबन्धों को पढ़ना चाहिए॥६॥

लेख, निबन्ध अथवा शोधपत्र को लिखने का जो सामर्थ्य नहीं रखता वह शोधप्रबन्ध कैसे लिख पाएगा?॥१७॥

'शत्रुओं' के भी गुण का वर्णन करना चाहिए और गुरु में यदि दोष अर्थात् उसकी स्थापनाओं में कोई कमी हो तो, उसका भी उल्लेख करना चाहिए। यह प्राक्तन किसी आचार्य की अभ्युक्ति है। ऐसा तभी करना चाहिए जब यह उचित हो॥१८॥

बहुत प्राचीन काल से जो विख्यात है जो ऋषि और मनीषी हैं उनके मत का खण्डन करने के लिए अपनी अल्पज्ञता पर विचार कर लेना चाहिए॥१९॥

एक उदाहरण दिया जा रहा है। 'सकल ताड़ना के अधिकारी' अर्थात् पति, पत्नी, भाई, बहन, अधिकारी, मंत्री, राज्यपाल, राष्ट्रपति

सभी को ताड़ना (वाच) करना चाहिए। यह विश्वश्रेष्ठ सूक्ति वाक्य है इसका तात्पर्य इस प्रकार है– श्री राम के दर्शन से परम ज्ञानी हो जाने वाला सागर वेदान्त की पंक्ति- **'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथ्वी'** का (**गगन, समीर, अनल, जल, धरणी,** के रूप में उल्लेख कर भगवान् राम से कहता है **'इन कई नाथ सहज जड़ करनी'**) **तव प्रेरित माया उपजाए, सृष्टि हेतु सब ग्रन्थनि गाए॥** आपने ही तो पंचमहाभूतों की सृष्टि माया से कराई है–**'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई'** आप बाण मार देंगे तो जलतत्त्व मैं सूख जाऊँगा तब आपकी करायी गयी सृष्टि अभी समाप्त हो जायेगी। सभी महाभूत जड़ात्मक होते हैं इनका उचित उपयोग करना चाहिए– जैसे ढोल आकाश की तन्मात्रा शब्द को उत्पन्न करती है।' अतः उसे बजाने वाले को गायक के स्वरानुरूप ताड़ते हुए आवाज निकालनी चाहिए। हवा तो गँवार है ठण्डी हवा चल रही है तो खिड़की बन्द करनी पड़ेगी, आँधी को ताड़ लेने पर पेड़ से दूर होना पड़ेगा। गाड़ी में हवा भराते समय मीटर की सूई देखनी पड़ेगी नहीं तो टायर फट जायेगा। अग्नि की तन्मात्रा रूप है शूद्र उसका उदाहरण है यदि श्रमिक को नहीं ताड़ेंगे तो रेत और सिमेण्ट का सन्तुलन बिगाड़ देगा या काम नहीं करेगा, बैठा रहेगा। अतः उसे भी ताड़ना पड़ेगा। जल की तन्मात्रा रस है पशु स्वाद का लालची होता है गाय खेत चर लेगी, कुत्ता भोजनालय में घुस जायेगा, सुगर का मरीज मिठाई खाने से और बीमार हो जायेगा, जंगल में शेर खा जायेगा अतः उसे भी ताड़ना चाहिए॥ रावण नहीं ताड़ा कि उसकी बहन कहाँ जा रही है अतः देश से बाहर विदेश में आकर प्रणय प्रस्ताव करती रही, इससे लक्ष्मण ने उसकी नाक कान काटकर कुरूप कर दिया। बहन को न ताड़ने से रावण का सर्वनाश हो गया। सीता को जनक ताड़ते रहते थे अतः कुछ पहलवानों को बुलाकर रखाए गए धनुष को बाएँ हाँथ से उठाते देखकर प्रतिज्ञा कर ली कि जो वीर धनुष को चढ़ा लेगा उससे इसका विवाह करेंगे। अतः श्रीराम सीता के पति बने और राम और सीता की आज पूजा होती है, इस प्रकार वेदान्त शास्त्र के सृष्टि क्रम के ज्ञान के अभाव में तथा अवधी भाषा में ताड़ना शब्द समझ लेने, जान

जाने या 'देखते रहने' के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसका ज्ञान न होने से इस चौपाई की आलोचना की जाती है यह पाठकों की मूर्खता के कारण होती है। अतः किसी मनीषी, ऋषि या विद्वान् की रचना को पढ़ने में सावधान रहना चाहिए। इस प्रकार किसी की आलोचना या खण्डन करने के पूर्व अपनी अल्पज्ञता पर विचार कर लेना चाहिए। किसी ग्रन्थ की भाषा, उसके रचनाकाल और शास्त्रादि के ज्ञान के अभाव में उसकी ठीक समीक्षा नहीं की जा सकती। अतः सम्बद्ध विषय के शास्त्र और इतिहासादि का ज्ञान करना शोधच्छात्र के लिए आवश्यक होता है। इसके विस्तृत ज्ञान के लिए द्रष्टव्य है मेरी पुस्तक 'श्रीराम कथा और नारीविमर्श'॥१९॥

एक शोधपत्र लिखने के लिए प्रशस्त विद्वानों द्वारा जितना प्रयास किया जाता है कहीं-कहीं उतना प्रयत्न शोधप्रबन्ध लिखने के लिए नहीं दिखाई देता॥१०॥

प्रबन्ध प्रणयन की दृष्टि से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में जो काव्यदोष बताए गए हैं। उन दोषों से शोधच्छात्रों को भी बचने का प्रयास करना चाहिए। अतः स्थालीपुलाकन्याय से भामह, राजशेखर के कुछ अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं। भाषा की शुद्धि के साथ शुद्ध भाषा में भी प्रसंगानुकूल अर्थक्षम शब्दों का प्रयोग करने का शोधप्रबन्ध लेखक को प्रयास करना चाहिए।

इस व्याकरण के सागर को जो पार किए बिना यह पुरुष (कोई व्यक्ति) शब्दरत्न तक पहुँनने में समर्थ नहीं हो सकता (भामह ६/३) वाक्यपदीय (१.१३) में भी कहा है– **'तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते'।** काव्यरचना के अभिलाषी को इस व्याकरण के अवगम के लिए प्रयास करना चाहिए। दूसरे के प्रयोगों को देखकर उसे प्रमाण मानकर शब्दादि का प्रयोग करना नहीं चाहिए। व्याकरण के नियम से उसका परीक्षण करके ही प्रयोग करना चाहिए। जैसे-'महानता' का प्रयोग न कर 'महत्ता' का प्रयोग करना, इस प्रकार अनेक शब्द प्रचलन में हैं। यथा–

अशुद्ध शब्द	**शुद्ध शब्द**
सृजन	सर्जन/सर्जना
श्रेष्ठतम	श्रेष्ठ
सुस्वागतम्	स्वागतम्
उपरान्त	अनन्तर
तदोपरान्त	तदनन्तर
श्रीमान	श्रीमान्
श्रीमति	श्रीमती
अनुग्रहीत	अनुगृहीत
पौर्वात्य	पौरस्त्य
मनोकामना	मनःकामना
मनमोहक	मनोमोहक
वाङ्मय	वाङ्मय
घन्टा	घण्टा
महान् कृपा	महती कृपा
सौजन्यता	सौजन्य
सौन्दर्यता	सौन्दर्य
सौम्यता	सौम्य
मिष्ठान	मिष्टान्न
जन्मदिन	जन्मतिथि
कान से सुना है	कानों से सुना है
अन्तर्राष्ट्रीय	अन्ताराष्ट्रिय
आर्शीवाद	आशीर्वाद
आवागमन	गमनागमन

चरण की कृपा से	चरणों की कृपा से
सुप्रभात	नमस्ते/प्रणाम
आपके मुखारविन्दों से	मुखारविन्द से
जूता लेना है	जूते लेने हैं
हमने पुस्तक देखा है	हमने पुस्तक देखी है

'ने' की उत्पत्ति तृतीया से हुई है 'बालकेन' का बालक ने हो गया है, 'ने' हिन्दी में जाने पर केवल भूत काल में ही प्रयुक्त होता है।

ने का प्रयोग होने पर कर्मवाच्य होने से कर्म के अनुसार ही हिन्दी में क्रिया में लिंग है। संस्कृत में क्रिया में लिंग नहीं होता।

शोधप्रबन्ध में प्रयुक्त शब्द व्याकरणेतर प्रमाणों पर आधारित नहीं होने चाहिए। इस प्रकार अन्य प्रमाणों पर आधारित शब्दों का प्रयोग उसी प्रकार है जैसे किसी ने फूलों की माला पहन कर फेक दी हो उसे उठाकर किसी ने पहन ली हो। भामह ६।१५

जो अप्रयुक्त शब्द हों, ऐसे मन में भ्रम उत्पन्न करने वाले शब्दों (क्रियाओं) का प्रयोग नहीं करना चाहिए जैसे हन् धातु का हिंसा और गति दोनों अर्थ है अतः 'हन्ति' का प्रयोग गमनार्थक धातु के अर्थ में नहीं करना चाहिए वहाँ 'गच्छति' ही लिखना चाहिए॥भामह ६।२५॥

भामह दुर्बोध और अपेशल और निरर्थक शब्दों का प्रयोग उचित नहीं मानते॥भामह॥२५॥

वैदिक, दुर्बोध और श्रुतिकटु, अकोमल शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, ग्राम्य पिण्डीशूर आदि और डित्थादि व्यर्थ शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ (भा.६.२७) किसी शिष्ट कवि या विद्वान् ने किसी शब्द का प्रयोग किया है उसका प्रयोग यदि भ्रमपूर्ण लगे या पाणिनि व्याकरण सम्मत न हो किसी भिन्न मत से वह सिद्ध हो तब भी उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि भाषा की एकरूपता उसे चिरंजीविनी बनाती है॥ छन्दोवत् ऐसा कहते हुए उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए जैसे 'न' वेद में इव के अर्थ में प्रयुक्त होता है 'उपेक्षितव्यम्' निरुक्त

में समीप से देखने के अर्थ में है किन्तु लौकिक संस्कृत में यह तिरस्कार के अर्थ में प्रयुक्त होता है॥भा. ६.२७॥

क्रमागत (प्रायः प्रयुक्त होने वाले) कानों को सुनने में अच्छे लगने वाले शब्दों के प्रयोग करने चाहिए जो वाक्य के अर्थ बोध में सहायक हों। वर्णों का सुन्दर प्रयोग बिना अलंकार के भी अच्छे लगते हैं॥भा. ६.२५॥

तवर्ग का शकार के साथ प्रयोग शुद्ध होने पर भी कर्णकटु लगता है अतः ऐसे सन्धियुक्त पद का प्रयोग नहीं करने चाहिए जैसे **यथैतच्छ्याममाभाति** यहाँ एतत् और श्याम में सन्धि होने से एतच्छ्याम हो गया है जो अच्छा नहीं लगता। **'वनं वनजलोचने।** या **हे वनजलोचने!** यह श्याम वन (जल) शोभित होता है, कमललोचने! प्रचलित प्रयोग है वन, जल का वाचक है जंगल के अर्थ में अधिक प्रयुक्त वनजलोचने! का वन में उत्पन्न लोचन से युक्त अर्थ सामान्य पाठक के लिए भ्रामक है अतः ऐसे प्रयोग नहीं करने चाहिए॥ (भा. ६.६०) शब्दप्रयोग के विषय में भामह ने काव्यालङ्कार के षष्ठ अध्याय में सोदाहरण सुन्दर विवेचन किया है अतः संस्कृत में शोधप्रबन्ध या शोधपत्र लिखने वालों को उसे अवश्य पढ़ना चाहिए। विस्तारभय से कुछ ही कारिकाओं को यहाँ उद्धृत किया गया है।

शब्द प्रयोग के लिए भामह के काव्यालङ्कार के कुछ उद्धरण पहले दिए गए हैं। राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी काव्यशिक्षा का विशेष विवेचन है तथापि सामान्य लेखकों के लिए उपयोगी बातें वहाँ बताई गईं हैं। यथा पाठ के विषय में–

जिसकी विभक्तियाँ स्फुट हों समास कदर्थित न हो अर्थात् स्पष्ट अर्थाभिव्यक्ति क्षम हों, पदों की सन्धियाँ भी सुस्पष्ट हों, वह पाठ उत्तम होता है॥ काव्यमी.७॥

विद्वान् को चाहिए कि पृथक् पदों को एक साथ मिलाकर न पढ़े और समस्त पदों को व्यस्त कर न पढ़े। क्रियापदों को स्पष्ट रूप से पढ़े यह सुधी का कर्तव्य है। (वही. अ.७)

यद्यपि काव्यमीमांसा के दशम अध्याय में भी राजशेखर काव्यशिक्षा का ही निरूपण करते हैं किन्तु प्रबन्ध रचना कवि भी करता है और लेखक भी, अतः कविचर्या दोनों के लिए उपयोगी है–

विद्याओं (चतुर्दश विद्याएँ वेद और वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष और छन्द) मीमासा, न्याय तथा अन्य दर्शन धर्मशास्त्र और पुराण और उपविद्याएँ उपपुराण गान्धर्ववेदनाट्यशास्त्रादि) आदि का ज्ञान कर काव्यक्रिया में प्रयत्न करना चाहिए (यहां ध्यातव्य है जब काव्यकर्ता इतने ग्रन्थों का अध्ययन कर रचना करेगा तब किसी काव्य की समीक्षा करने वाला शोधप्रबन्ध लेखक जब इन शास्त्रों का ज्ञान नहीं रखता तब वह यह कार्य कैसे कर पाएगा। नामधातु का पारायण, अभिधानकोष, छन्दोविचिति, अलंकार तन्त्र ये सब काव्य विद्याएँ हैं। कलाएँ चौसठ हैं, ये उपविद्याएँ हैं। सुजनोपजीव्य कवि का साहचर्य, राष्ट्र की परिस्थियों (प्राक्तन और नूतन दोनों) का ज्ञान, विद्वानों के वाद-विवाद, लोकव्यवहार, संगोष्ठियों में सक्रिय सहभागिता, ये सभी काव्य तथा प्रबन्ध लेखन की माताएँ हैं। इनके ज्ञान से ही कवि और लेखक बनना संभव है। ऐसा ज्ञान रखने वाले ही श्रेष्ठ कवि और लेखक बन पाते हैं। कवित्व की आठ माताएँ है-

१. उत्तम स्वास्थ्य २. नवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा ३. निरन्तर लेखनादि का अभ्यास, ४. विषय और गुरु के प्रति भक्ति भावना, ५. विद्वानों की कथाएँ ६. बहुश्रुतता (अनेक शास्त्रों का ज्ञान) ७. स्मृति की दृढ़ता और ८. उत्साह। ये आठ कवि और लेखक के लिए माँ के समान हैं।

पूर्व में उद्धृत महाकवि भवभूति का कथन भी लेखन के हेतु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है–

शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान, उनका सम्यक् अवबोध, कथन की निर्भीकता, भाषा पर पूर्ण अधिकार रखने वाली वाणी, युगबोध, प्रतिभा की नवीनता ये सभी गुण शोधकर्त्ता या लेखक के लिए कामधेनु के समान उपयोगी होते हैं॥ मालती माघव ३.११

प्रथमाधिकरणे एकादशोऽध्यायः

११. अनुसन्धानसामग्रीसङ्ग्रहविमर्शः

द्विधा शोधस्य सामग्री साऽनिवार्या सहायिका।
शोधस्याधारभूतैका चान्यातदुपकारिका।।१।।

यथा काव्यस्य शोधाय चास्ते तदनिवार्यता।
काव्यशास्त्रेतिहासादिसहाय्येनानुशील्यते।।२।।

मुद्रिताऽमुद्रिता वा सा शिलालेखादिरूपिणी।
सामग्री शोधकार्याय यथायोग्यं प्रयुज्यते।।३।।

एकस्मै शोधकार्याय या सामग्री सहायिका।
तामेवाश्रित्य शोधे सा त्वनिवार्या भविष्यति।।४।।

साहित्ये शोधकार्याय द्विधा सङ्ग्रहपद्धतिः।
एका पत्रात्मिका[१]चान्या टिप्पणी पद्धति[२]र्मता।।५।।

प्रबन्धाध्यायदृष्ट्या सा पत्रकेषु पृथक्-पृथक्।
सङ्गृह्यते तदा सैव पत्रपद्धतिरुच्यते।।६।।

सौविध्यमनयेदं यत् पत्रं यत्रोपयोगि तत्।
परिच्छेदाय संयोज्य यथायोग्यं प्रयुज्यते।।७।।

प्रत्यध्यायमपेक्ष्या या विद्यते टिप्पणी कृता।
परिच्छेददिशालेख्या पञ्जिकायां पृथक् पृथक्।।८।।

---

१. पत्रात्मिका (कार्ड सिस्टम) पोस्टकार्ड के आकार के मोटे कागज के टुकड़े काटकर उसमें सन्दर्भों को लिखा जाता है और अध्याय के हिसाब से जमा लिया जाता है।

२. मोटे रजिस्टर में प्रत्येक अध्याय के नाम लिखकर सादे पन्ने रखे जाते हैं और सन्दर्भों को नोट कर लिया जाता है।

त्र्यङ्गुलित्यक्तभागैकपृष्ठे लेखनं वरम्[१]।
सौविध्यं येन जायेत शोधने परिवर्तने।।९।।

यदि शोधप्रबन्धेभ्यः सामग्रीसङ्ग्रहः कृतः।
उद्धृतांशस्य सत्यत्वं स्वतोऽपि पुष्यतां ध्रुवम्।।१०।।

अनुसन्धानसामग्री संग्रह विमर्श–

शोध सामग्री दो प्रकार की होती है–

१. अनिवार्य और २. सहायक

अनिवार्य सामग्री शोध की आधारभूत होती है जैसे रघुवंश पर शोध करना है तो स्थायी रूप से शोधकर्ता के पास इसका होना अनिवार्य है। सहायक सामग्री इतिहास, भूगोल, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि विषयों की पुस्तके हैं। अन्तर्जाल (इण्टरनेट) कोषग्रन्थ आदि भी सहायक सामग्री के वर्ग में हैं। इनका उपयोग भी शोधच्छात्र के लिए आवश्यक होता है॥१॥

जैसे काव्यग्रन्थ के शोध में उसका होना अनिवार्य है काव्यशास्त्र इतिहासादि के ग्रन्थ सहायक रूप से अनुशीलनीय होते हैं॥२॥

मुद्रित अथवा अप्रकाशित ग्रन्थ शिलालेख, दानपत्र, गजट, पाण्डुलिपियाँ भी सहायक हैं इनका भी उपयोग यथावसर छात्रों को करना चाहिए॥३॥

साहित्यिक शोध में तथ्यों का संग्रह दो प्रकार से किया जाता है– १. पत्रात्मक पद्धति (कार्डसिस्टम) २. पंजिका में सन्दर्भाङ्कन। कार्डसिस्टम में प्रत्येक अध्याय के अलग-अलग कार्ड बनाए जाते हैं। पृष्ठादिसहित उन पर सम्बद्ध अध्याय की सामग्री के उपयोगी तथ्य संकलित किए जाते हैं। पुनः उचित क्रम से लगाकर शोधप्रबन्ध के अध्यायों में उनका उपयोग किया जाता है उससे लाभ यह होता है कि कौन सन्दर्भ पहले

---

१. बगल में जगह खाली रहने से निर्देशक उसमें अपने निर्देश लिख देता है। तथा एक तरफ सादा होने पर पन्नों को दूसरी जगह करने में सुविधा होती है तथा लिखित अंश दूसरी जगह पेष्ट किया जा सकता है।

या बाद में देना है इसमें सुविधा रहती है। ग्रन्थ तैयार हो जाने पर लेखक और ग्रन्थ के नामों को अकारादि क्रम से संयोजित करके उनकी सूची भी अन्त में उद्धरण की पृष्ठ संख्या के साथ दे दी जाती है॥७॥

पंजिका (रजिस्टर) बनाकर प्रत्येक अध्याय तथा उसके उपशीर्षक लिखकर पृष्ठ खाली रखे जाते हैं। प्रत्येक उपशीर्षकों की उपयोगी सामग्री को ग्रन्थ पृष्ठ संख्या अध्याय का उल्लेख करते हुए उनमें लिख लिया जाता है। इसी प्रकार इण्टरनेट वाट्सअप की सामग्री का संकलन भी किया जाता है उसे रिकार्ड (संग्रहीत) कर सुरक्षित कर लिया जाता है। इसी प्रकार समाचारपत्रों और शोधपत्रिका की सामग्री का संकलन किया जाता है। अभिनन्दन और स्मृतिग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण निबन्ध विद्वानों के छपे रहते हैं। यदि अपने विषय से सम्बद्ध कोई महत्त्वपूर्ण व्याख्यान सुन रहे हैं तो उसे टेप कर संगृहीत किया जा सकता है॥८॥

शोधप्रबन्ध लिखने के लिए एक पृष्ठ का ही उपयोग करना चाहिए जिससे सामग्री ऊपर नीचे करनी हो तो उसे काट कर उसे दूसरे पन्ने पर क्रम से पेष्ट कर सकते हैं। हमेशा शोधप्रबन्ध का लेखन बाईं ओर तीन अंगुलि के बराबर स्थान छोड़कर लिखना चाहिए जिससे निर्देशक उसमें उचित मार्गदर्शक बातें लिख सकें॥९॥

यदि शोधसामग्री का संग्रह किसी ग्रन्थ या शोधग्रन्थ से किया जाता है तब उसमें दिए सन्दर्भों का मूलग्रन्थ से सत्यापन कर लेना चाहिए। जैसे– **'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** इसे वाल्मीकि रामायण का कथन मानकर उद्धृत किया गया है किन्तु उसमें नहीं मिलता। **'सत्यमेव जयते'** को उद्धृत किया जाता है किन्तु उपनिषद् ग्रन्थ में यह 'सत्यमेव जयति' के रूप में है। 'वि' उपसर्ग लाने पर 'विजयते' बनेगा किन्तु उपसर्गरहित होने पर 'जयति' ही शुद्ध है। कई बार उद्धृत पृष्ठ संख्याओं में गलती रहती हैं। अतः मूलग्रन्थ पृष्ठ और श्लोक संख्या मिला लेनी चाहिए। **'शतं वद नैकं लिख'** यह अभ्युक्ति ध्यान में रखनी चाहिए। अब तो मोबाइल और सी.सी.टी.वी. केमरे में चित्र सहित आपका कथन भी सुरक्षित किया जा सकता है अतः व्यावहारिक जीवन में भी बोलते समय भी सावधानी रखनी चाहिए॥१०॥

प्रथमाधिकरणे द्वादशोऽध्यायः

१२. प्रबन्धप्रणयनक्रमविमर्शः

प्रबन्धशीर्षके काचित्समस्या चिह्निता भवेत्।
सङ्क्षिप्तं शीर्षकं कुर्याच्छोधवस्त्वावबोधकम्।।१।।

त्रिधा विभज्यतां बन्धः पूर्वो मध्यश्च पश्चकः।
अत्र पूर्वानुबन्धस्य प्राक्कथने न युज्यते।।२।।

कस्यचिच्च प्रशंसा वा निन्दा विज्ञापनात्मिका।

महाविषयसम्बद्धः कोऽंशो ग्रन्थे विवेचितः।
तदुद्देश्यं च नावीन्यं किं कथमिति लिख्यते।।३।।

विषयेऽस्मिन् प्रणीतेभ्यो ग्रन्थेभ्योऽस्य विशेषता।
प्रतिपाद्या भवत्यत्र प्राक्कथनेऽनिवार्यतः।।४।।

विषयानुक्रमो लेख्यः परिच्छेदांशशीर्षकैः।
अध्यायानां तदंशस्य पृष्ठसङ्ख्याऽपि दीयताम्।।५।।

पुनः सन्दर्भसङ्केतसूची देया तथाविधा।
यथा बन्धेऽल्पसङ्केतैः ग्रन्थास्ते हि समुद्धृता।।६।।

यथा रघ्वितिसङ्केते रघुवंशस्य सूचना।
श्रीमद्भेति च मात्रेण श्रीमद्भागवतं स्मृतम्।।७।।

मध्येऽनेकपरिच्छेदैः शोध्यं सम्यग्विलिख्यताम्।
तद्विन्यासो यथायोग्यं प्रमाणैश्च विधीयताम्।।८।।

एकग्रन्थस्य सन्दर्भोऽव्यवहितो भवेत्पुनः।
कृत्वा 'तत्रैव' सङ्केतं तत्पृष्ठादील्लिखेत्तदा।।९।।

पश्चबन्धे तु बन्धस्य सन्दर्भग्रन्थसूचिका।
पारिभाषिकशब्दानां महतां नामसङ्ग्रहः।।१०।।

वर्णानुक्रमतो देया सन्दर्भग्रन्थसूचना।
ग्रन्थकारस्तथा स्थानं ततो वर्षादि लिख्यताम्।।११।।

प्रस्तावना प्रबन्धस्य ह्यादौ भवति किन्तु सा।
लिख्यते प्रायशश्चेयं प्रबन्धे पूरिते बुधैः।।१२।।

यतः प्रस्तुतशोधे किं कृतं कीदृशमस्ति तत्।
इति सर्वं समासेन चास्यां वै प्रतिपाद्यते।।१३।।

द्विकृत्यो लेखनीयः स्यात्प्रबन्धो येन सर्जने।
पुनरुक्त्यादि दोषाणां जायतां परिमार्जनम्।।१४।।

'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते।'
अभ्युक्तिर्मल्लिनाथस्य शिरोधार्यास्तु लेखकैः।।१५।।

प्रत्येकमक्षरं सम्यग् द्रष्टव्यं बहुयत्नतः।
'अंसः'-अंशो' न जायेत 'रक्षतु' स्यान्न 'भक्षतु'।।१६।।

प्रबन्धे नव्यतथ्यानामुन्मेषो हि विधीयताम्।
उपलब्धं च तथ्यं यन्नूतनत्वेन योज्यताम्।।१७।।

ज्ञानसीम्नश्च विस्तारे स्वोपज्ञत्वं प्रणीयताम्।
प्रतिपादनशिल्पञ्च मनोहारि प्रकल्पताम्।।१८।।

सुधियां लेखकानाञ्च शोधे सम्पादने सताम्।
राष्ट्रे लब्धप्रतिष्ठानां सम्पर्को हितकारकः[१]।।१९।।

---

१. आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिना सह शोधच्छात्रावस्थायां पद्यबद्धपत्रव्यवहारः प्रचलन्नासीत्। एकदा सागरिकापत्रिकायां मयाऽऽडम्बरपूर्णया भाषयैकं शोधपत्रं प्रेषितं तद्दृष्ट्वोत्तरे तेन व्यलेखि-
शोधप्रबन्धे क्रियते न भाषा कदापि विज्ञैर्जटिला तथापि।
विशेषणैर्यत्प्रतिपाद्यते तद्वाक्यैः पृथक्कृत्य समर्पणीयम्।।
विशेषणत्वेऽपि निरर्थकत्वं दूरेण वर्जं विदुषां वरेण।
शोधप्रबन्धे न हि भक्त्यभक्ती ताटस्थ्यमेकं तु परात्परं स्यात्।।
राजशेखरोऽपि काव्यमीमांसायां प्रतिपादयति-
प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे

प्रबन्ध प्रणयन विमर्श–

प्रबन्ध शीर्षक में कोई समस्या (किए जाने वाले कार्य का संक्षिप्त संकेत) आरेखित होना चाहिए जिससे शोध की विषयवस्तु करतलामलकवत् स्पष्ट हो॥१॥

शोधप्रबन्ध मुख्यतः तीन भागों में विभक्त होना चाहिए, पूर्वभाग, मध्यभाग और पश्चभाग। यहाँ पूर्वबन्ध (प्रथमतः लिखे जाने वाले भाग) में किसी की प्रशंसा या निन्दा की भूमिका में विज्ञापन नहीं करना चाहिए। इसे प्रायः 'प्राक्कथन' कहा जाता है॥ महाविषय से सम्बद्ध किस अंश को शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसको शोधप्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत करने का उद्देश्य क्या है? इसमें नवीनता या मौलिकता क्या है? यह क्यों लिखा जा रहा है, अन्य ग्रन्थों या प्रस्तुत शोधप्रबन्धों से इसकी क्या विशेषता है? इस प्रकार इन सभी प्रश्नों का समाधान करते हुए (पूर्वबन्ध) प्राक्कथन लिखा जाता है॥२,३॥

इस विषय में लिखे गए प्रबन्धों की तुलना में इसकी विशेषता क्या है? इसे प्राक्कथन में बताना अनिवार्य होता है॥४॥

इसके लिखने के बाद विषयानुक्रम लिखा जाता है जिसे विषयसूची भी कहते हैं।

मध्यभाग के लिए विषयसूची में जो शीर्षक दिये गए हैं उनके भी उपशीर्षक देने चाहिए। कई बार छोटे उपशीर्षक शोधप्रबन्ध लिखने

तदनुजनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं यदेकमुखोदयं
सहपरिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते।। (का.मी.च.अ.)
प्राक्तनकाले शोधनिर्देशकसदृशी कापि व्यवस्था नासीत्। गुरुशिष्यसम्बन्ध आसीत्। काव्यमीमांसायां चतुर्थेऽध्याये। राजशेखरेण बुद्धिमानाहार्यबुद्धिरितिरूपेण द्विधा शिष्यविभाजनमकारि। तच्छोधच्छात्राणां कृतेऽपि परमोपयोगि–तद्यथा– तयोर्बुद्धिमान् शुश्रूषते शृणोति गृह्णीते धारयति विजानात्यूहतेऽपोहति तत्त्वं चाभिनिविशते। आहार्यबुद्धेरप्येत एव गुणाः किन्तु प्रशास्तारमपेक्षते। अहरहःसुगुरूपासना तयोः प्रकृष्टोगुणः। साहि बुद्धिविकासकामधेनुः।।

के समय सूझते हैं अतः रूपरेखा में जो अध्यायों के उपशीर्षक दिये गए हैं उनसे कुछ बढ़ा-घटा भी सकते हैं अतः पूरा प्रबन्ध लिखने के बाद उनकी पृष्ठ संख्या देकर तब विषयसूची का अन्तिम रूप से टंकण किया जाता है॥५॥

(शोधप्रबन्ध के अनुसार शीर्षक या उपशीर्षक बनाएँ जाते समय साहित्यकृति के शोध में कथावस्तुसार वस्तुविन्यास समीक्षा, लोकोत्तराह्लादक तत्त्व (रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि) पात्र चित्रण में नारी पात्र, पुरुषपात्र कहीं कहीं नायक पक्षीय पात्र, प्रतिनायक पक्षीयपात्र, वर्णनात्मकता, भौगोलिक प्राकृतिक वर्णन, संवाद सूक्तियाँ और राष्ट्रभावना आदि के रूप में उपशीर्षक बनाए जाते हैं। दार्शनिक अथवा सांस्कृतिक अनुशीलन में भिन्न प्रकार के उपशीर्षक बनाए जाएँगे। इसके पूर्व उपाधि प्राप्त श्रेष्ठ शोधप्रबन्धों का अवलोकन करना चाहिए॥)

पश्चभाग के लिए– अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी जाती है जिसमें लेखक ग्रन्थनाम, प्रकाशन, संस्था की सूची और प्रकाशन वर्ष का भी उल्लेख किया जाता है। जिनका उल्लेख ग्रन्थ (शोधप्रबन्ध) के प्रारंभ में अल्पसंकेतों से (नाम) दिया गया है–रघु. से रघुवंश महाकाव्य श्रीमद्भा. से श्रीमद्भागवत महापुराण आदि॥१६॥

मध्य में अनेक अध्यायों में शोध्य विषय का मौलिक लेखन करना चाहिए। शोधप्रबन्ध का विन्यास उचित प्रमाणों के देने के साथ करना चाहिए॥४॥

एक ही ग्रन्थ का सन्दर्भ उसी ग्रन्थ के उद्धृत सन्दर्भ के ठीक बाद आता है तब तब 'तथैव' या 'वही' लिखकर उसकी पृष्ठ संख्या अथवा श्लोक संख्या लिखनी चाहिए। काव्यादि की पृष्ठ संख्या न लिखकर सर्ग और पद्य संख्या लिखनी चाहिए क्योंकि अनेक संस्करणों में उसकी पृष्ठ संख्या प्रायः बदल जाती है॥ (शोधप्रबन्धों के लेखन में अपने मौलिक प्रतिपादन में वही उद्धरण लिखना चाहिए जिसे लेखक यह चाहता है कि मूल रूप में भी पाठक इसे पढ़े ही जिससे अपने प्रतिपादन की तत्काल पुष्टि हो जाय। उद्धरण की दूसरी विधि यह है

कि अपने लेखन में वाक्य से पूर्णविराम के ऊपर अंक डालकर उसे मूल रूप में उद्धृत कर ग्रन्थ और लेखक का नाम पृष्ठ संख्या या श्लोक संख्या लिख दें। यह द्वितीय स्तर का उद्धरण होता है। तृतीय प्रकार का उद्धरण ऐसा होता है जिसमें ग्रन्थ का नाम लिखकर केवल उसकी पृष्ठ संख्या या श्लोक संख्या लिखी जाती है वह इसलिए कि पाठक चाहे तो देख ले। वस्तुतः बहुत अधिक उद्धरण मध्य में देने से अपने मौलिक लेखन का प्रवाह टूट जाता है। काव्यशास्त्रादि के ग्रन्थ लेखन में अपनी परिभाषा बनाने के तत्काल बाद पद्यादि को पूरा उद्धृत किया जाता है और आवश्यक होने पर पद्य में तत्त्वों की अन्विति भी पद्यादि के बाद लिख दी जाती है जैसा कि प्रायः सभी शास्त्रीय ग्रन्थकारों ने दी है, यही भारतीय परम्परा रही है। इस प्रकार उद्धरण देने के लिए उक्त त्रिविध शिल्पों का अनुकरण करना चाहिए।)॥९॥

पश्चबन्ध में शोधप्रबन्ध के सन्दर्भग्रन्थों की सूचना दी जाती है। इसी भाग में पारिभाषिक शब्दों का परिचय और शोधप्रबन्ध में उल्लिखित श्रेष्ठ विद्वानों के विषयों की पृष्ठोल्लेख के साथ सूची दी जाती है॥१०॥

यह सूची अकारादि क्रम से दी जाती है। हिन्दी की लिपि बोध कराने वाली पुस्तकों में क्ष, त्र और ज्ञ को अन्तस्थ (य,र,ल,व आदि वर्णों) के बाद मुद्रित कर दिया गया है वस्तुतः ये सभी संयुक्त वर्ण हैं—क्+ष+अ=क्ष, त्+र्+अ=त्र और ज्+ञ्+अ=ज्ञ अन्य वर्ण भी संयुक्त रूप से प्रयुक्त होते हैं किन्तु उनमें दो ध्वनियों जैसे क्+क्+अ=क्क किन्तु तीनों की लिपियों में सुस्पष्टता नहीं है किन्तु इनका प्रयोग भाषा में प्रायः होता रहता है अतः छोटे बच्चों की सुविधा हेतु हिन्दी के पढ़ने वाले बच्चों के लिए उक्त तीन संयुक्ताक्षरों को भ्रान्ति न हो इसलिए ऐसा सिखाया जाता है संस्कृतपञ्चसन्धियों को पढ़ाने का विधान है तब भी हिन्दी के अभ्यास के कारण उच्च कक्षा के छात्र भी 'ह' के बाद का वर्णक्रम समझ कर गलती कर देते हैं। वर्णानुक्रम में क के बाद और ख के पहले क्ष रहेगा इसी प्रकार ज के बाद झ के पहले 'ज्ञ' रहेगा और 'त्र' थ के पहले ही रहेगा। यह अकारादि क्रम से शब्दों की

सूची बनाते समय ध्यान रखना अनिवार्य है। इस प्रकार शोधप्रबन्ध के पश्च (अन्तिम) भाग में शब्दों के प्रथमाक्षर को रखना चाहिए। सूची बनाते समय ग्रन्थकार का नाम तब ग्रन्थनाम उसके बाद प्रकाशक तब प्रकाशन वर्ष इन चार का उल्लेख करना चाहिए॥११॥

प्रस्तावना—प्रस्तावना शोध प्रबन्ध की रूपरेखा बनाते समय भले ही पहले लिखी जाती हो किन्तु शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करते समय बाद में उसे परिष्कृत और परिवर्धित रूप में करना पड़ता है प्रायः ऐसा करना पड़ता है॥१२॥

क्योंकि प्रस्तुत किए जाने वाले शोधप्रबन्ध में कौन अध्याय किस प्रकार है इसकी सूचना उसमें दी जाती है। लगभग पूरे शोध प्रबन्ध में क्या किया गया, इससे उसकी सूचना दी जाती है। इसमें विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का उद्देश्य और महत्त्व भी प्रतिपादित किया जाता है॥१३॥

शोधप्रबन्ध को दो बार लिखना चाहिए। यद्यपि शोधप्रबन्ध को नए ढंग से नहीं लिखा जायगा किन्तु दुबारा लिखने से उसकी भाषा परिष्कृत हो जाएगी और सन्दर्भों की त्रुटियों में सुधार किया जा सकता है। साहित्यकार भी एक बार लिखने बाद अधिक भावाभिव्यक्ति में समर्थ पदों को उसमें रखने के लिए प्रायः दो बार लिखते हैं। उसमें पुनरुक्ति दोषों को दूर किया जाता है, यदि कुछ छूट गया जो बाद में ध्यान में आया है उसे जोड़कर शोधप्रबन्ध व्यवस्थित कर दिया जाता है॥१४॥

प्रशस्त टीकाकार मल्लिनाथ की अभ्युक्ति है 'मूल को छोड़ लिखना उचित नहीं होता और लेखन में जो अनपेक्षित है उसे नहीं लिखा जाता।' इस मल्लिनाथ की अभ्युक्ति का लेखक (प्रबन्ध कर्त्ता) को ध्यान रखना चाहिए॥१५॥

एक-एक अक्षर (साथ ही पद वाक्य और अर्थ) पर ध्यान देना चाहिए। जैसे 'अंश' का अंस न हो जाय 'अंश' का अर्थ 'भाग' (हिस्सा) है और 'अंस' का अर्थ कन्धा होता है। 'रक्षतु' के स्थान पर 'भक्षतु' होने से विपरीत अर्थ हो जायगा। दुबारा लिखने पर ऐसी गलतियाँ नहीं होंगी॥१६॥

शोध प्रबन्ध में नए तत्त्वों और तथ्यों का उन्मेष होना चाहिए। जो उपलब्ध तथ्य हैं उनकी युगानुरूप नई व्याख्या करके उसे प्रस्तुत करना चाहिए॥१७॥

उपलब्ध ज्ञान की सीमा का विस्तार करना चाहिए जो शास्त्रज्ञ, समाज और राष्ट्र के लिए कल्याणकारी हो उसमें अपना कुछ अवदान करने का प्रयास शोधकर्त्ता को करना चाहिए। प्रतिपादन शिल्प भी मनोहारी होना चाहिए॥१८॥

शोधच्छात्र को निर्देशक के अतिरिक्त विषय के श्रेष्ठ विद्वानों, लेखकों, श्रेष्ठ शोधकर्त्ताओं के ग्रन्थों और सम्पादकों से मिलकर अपने शोधविषय को बताकर उनका भी मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए यह हितकारक होगा। अपने विषय की शोधसंगोष्ठियों में जाना चाहिए प्रयास करना चाहिए कि स्वयं भी शोधपत्र पढ़ें उसमें श्रेष्ठ विद्वानों का मार्गदर्शन स्वयं प्राप्त होगा। उसमें आप अपनी योग्यता को प्रदर्शित कर प्रतिष्ठित होने का मार्ग भी प्रशस्त कर सकते हैं॥१९॥

प्रथमाधिकरणे त्रयोदशोऽध्यायः

१३. लेखकदोषविमर्शः

शास्त्रज्ञानाक्षमत्वेऽपि लिखित्वा तत्प्रकाशनम्।
अविचारितरम्यैश्च वाक्यैर्लेखादिसर्जनम्।।१।।

चमत्कृत्या च भाषाया मुधा शिल्पप्रदर्शनम्।
वैकल्येऽपि प्रमाणानां शोधपत्रादिसर्जनम्।।२।।

असमर्थप्रमाणेन पूर्वसिद्धान्तखण्डनम्।।३।।

अप्रयुक्तैश्च शब्दैर्हि चेतः सम्मोहनं सताम्।
तत्त्वभेदेष्वसामान्यभेदानां परिकल्पनम्।।४।।

असंस्कृतप्रयोगैश्च नवधाराप्रवर्तनम्।
भक्तिभावं विना भक्तिग्रन्थानां समवेक्षणम्।।५।।

अन्यैरुद्धृतसन्दर्भैः शोधपत्रादिसर्जनम्।
सामग्र्येणापठित्वापि कृतेरालोचनं सताम्[१]।।६।।

---

१. महाकाव्यसदृशरचनायाः समग्रकथावस्तुपठनाभावे तत्तात्पर्यं ज्ञातुं न शक्यते, तथैव व्याकरणशास्त्रेऽष्टाध्याय्याः सूत्रक्रमं सर्वथाऽज्ञात्वा प्रयोगादिसिद्धिर्न सम्भाव्यते यथा 'पूर्वत्रासिद्धम्' तथा चापवादसूत्राणां सम्यक् स्मरणाभावे विषमा दृश्यमानाः प्रयोगाः कथं ज्ञायन्ते। यथा रामचरितमानसस्य सुन्दरकाण्डे 'ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी। अत्र 'ताड़ना' शब्दः सम्यगवलोकनस्य-आभासकरणस्य निरीक्षणस्य वा वाचकः यथा पञ्चमहाभूतान् दृष्ट्वा तेषामुपयोगः सावधानेन करणीयं भवति। पूर्वलिखितचतुष्पदी कथ्यमेवं विद्यते-'गगन समीर अनल जल धरनी। इनकैनाथ सहज जड़करनी।' वस्तुतः ढोलगवाँरादीनि क्रमशः पञ्चभूतानामुपमानभूतानि वर्तन्ते किन्तु एकां चतुष्पदीमाश्रित्य समीक्षणे चतुःशतवर्षतो भ्रान्तिः प्रचलति समग्राऽध्ययनाभावे। एतदर्थं 'द्रष्टव्यं मम लघु पुस्तकं' श्रीरामकथा और नारी विमर्शः इति।

अन्यस्य चिन्तनं काव्यं शोधं भावं च नूतनम्।
अकृत्वा तस्य चोल्लेखं स्वनाम्ना तत्प्रकाशनम्।।७।।

शुद्धां वाचं सतां रीतिं धर्मं संस्कृतेः सृतिम्।
आगमं च तिरस्कृत्य लेखनं नाभिनन्द्यते।।८।।

असाधुशब्दप्रयोगैर्ग्रन्थादिप्रणयनं सर्वथाऽनुचितम्। अतो भाषाज्ञान-मावश्यकम्। काव्यशास्त्रीयेषु प्रायः सर्वेषु ग्रन्थेषु काव्यदोषाः निरूपिताः सन्ति, तान् दृष्ट्वा लेखनदोषा निवारणीयाः। कानिचिदुद्धरणानि प्रस्तूयन्ते-

निगूढ़मर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्रयुक्तम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धिशब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः।।

नाट्शा०-१७.८८

नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढ़शब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्यते।।

भामह-काव्या.-१.३७

नेयार्थं नीयते युक्तो यस्यार्थः कृतिभिर्बलात्।
शब्दन्यायानुपारूढः कथञ्चित्स्वाभिसन्धिता।।

(१.३८ एवं काव्यालङ्कारे-१.४७ कारिकायां चत्वारो दोषाः द्वितीयपरिच्छेदे-३९-६४, चतुर्थपरिच्छेदे पञ्चदश दोषाणां वर्णनं प्राप्यते। दण्डिमम्मटादिभिरपि दोषाणां वर्णनं क्रियते तेषां ग्रन्था अवश्यमलोकनीयाः।

इमान् दोषान् परित्यज्य शोधपत्रादिसर्जनैः।
नूनं साहित्यसेवायां प्रवृत्तिः स्यान्मुदे सताम्।।९।।

लेखकदोषविमर्श-

शास्त्रज्ञान में अक्षम होने पर भी कुछ लिखकर प्रकाशित करना, अविचारित रमणीय वाक्यों द्वारा लेखादि लिखना, चमत्कार पूर्णभाषा द्वारा व्यर्थ नवीन शिल्प का प्रदर्शन करना, उचित प्रमाणों के अभाव में शोधपत्र की रचना करना॥१,२॥

असमर्थ प्रमाणों से पूर्व सिद्धान्त का खण्डन, पूर्व में अप्रयुक्त शब्दों द्वारा पाठक के चित्त को संमोहित करना, तत्त्वों के भेद जो पहले से व्यवस्थित हैं उनका अनपेक्षित विस्तार करना, असंस्कृत प्रयोगों द्वारा नई धारा का प्रवर्तन करना, भक्तिभाव के बिना भक्तिपूर्ण ग्रन्थों की असम्बद्ध समीक्षा करना॥३-५॥

अन्यों द्वारा उद्धृत सन्दर्भों को बिना मूल ग्रन्थ में देखे अपने ग्रन्थ या लेखादि में उद्धृत करना, किसी कृति को पूर्णरूप से बिना पढ़े आलोचना करना, अन्य के चिन्तन, काव्य, शोध, भाव और नूतन स्थापना को बिना उसके उल्लेख के अपना बताते हुए लिखना और प्रकाशित करना॥६-७॥

उक्त सभी कारिकाओं में लेखक के दोषों का निरूपण है, इनसे बचने का प्रयास करना चाहिए। किसी के मौलिक अनुसन्धान की चोरी करने पर उपाधि भी निरस्त की जा सकती है। इस समय सभी शोध प्रबन्धों की सी.डी. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के निर्देशानुसार शोधगंगा के पोर्टल में भेजनी होती है वहाँ इसकी परीक्षा की जाती है यदि नकल करना सिद्ध होता है तब उपाधि निरस्त कर दी जाती है॥

शुद्ध भाषा, साधुपुरुषों की रीतियाँ, धर्म, सांस्कृतिक मार्ग और आगम का तिरस्कार करने वाला लेखन अभिनन्दनीय नहीं होता॥८॥

असाधु शब्दों का प्रयोग करते हुए ग्रन्थादि का प्रणयन सर्वथा अनुचित होता है। अतः भाषा का सम्यक् ज्ञान करना आवश्यक होता है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्यदोषों का निरूपण किया गया है, वे सभी लेखक दोष ही हैं, उन्हें देखकर अपने लेखनदोषों को सुधारना ही श्रेयस्कर है। यहाँ कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं–

निगूढ़, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्रयुक्त, न्याय से रहित, विषम और विसन्धिशब्दच्युत ये दश काव्यदोष होते हैं। (नाट्यशा. १७-८८)

नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, गूढशब्दाभिधान कवि नहीं प्रयुक्त करते। भामह काव्या. १७

नेयार्थ उसे कहते हैं जिसे कृतिकार बलात् खीचकर प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसा करना उचित नहीं होता। शब्दन्याय से जो उपारूढ़ नहीं है उसे नहीं प्रयुक्त करना चाहिए। भामह-१.३८

काव्यालंकार में १.४७ कारिका में चार दोष, द्वितीय परिच्छेद में ३९-६४ चतुर्थ परिच्छेद में पन्द्रह दोषों का वर्णन प्राप्त होता है। दण्डी और मम्मट आदि ने भी दोषों का वर्णन किया है, उनके ग्रन्थों को भी लेखकों को ध्यान से पढ़कर दोषों का ज्ञान करना चाहिए।

इन दोषों का परित्याग करके शोधपत्रादि का लेखन करने से निश्चित ही साहित्य से सज्जनों को प्रसन्नता प्राप्त होगी॥९॥

प्रथमाधिकरणे चतुर्दशोऽध्यायः

१४. सम्बद्धसाहित्यसर्वेक्षणम्

शोधस्य शीर्षकीभूता समस्या या सुनिश्चिता।
तत्सम्बद्धः कृतश्चान्यैः शोधः सम्बद्ध उच्यते।।१।।

ग्रन्थाः शोधप्रबन्धाश्च ज्ञानकोषाश्च पत्रिकाः।
शास्त्रग्रन्थाभिलेखाश्च शोधकार्ये सहायकाः।।२।।

शोधस्य रूपरेखायां शोधबन्धे च ते समे।
सङ्क्षेपेण समीक्ष्या वै बन्धादौ च प्रयत्नतः।।३।।

पुस्तकालयसूचीतः संस्थाशोधविभागतः।
पत्रिकातश्च विद्वद्भ्यः समं साहित्यमाप्यते।।४।।

कोलकातास्थितेऽन्यच्च राष्ट्रिये पुस्तकालये।
प्रायः मुद्रितसामग्री सुलभा विद्यते परा।।५।।

साहित्यं यच्च सम्बद्धं तस्याध्ययनतः प्रधीः।
प्रत्ययं धारणां चैव पुष्णाति विषये स्वके।।६।।

सम्बद्धे विषये शोधः कृतः कियाँश्च कीदृशः।
इति ज्ञात्वा स्वशोधस्य लभते महती सृतिः।।७।।

अनुसन्धानमार्गः कस्तत्प्रभावश्च कीदृशः।
समस्यायाश्च सीमा का कीदृशी परिकल्पना।।८।।

एतत्सर्वं परिज्ञाय सृतिः शोधस्य लभ्यते।
अतः पूर्वानुसन्धानसाहित्यावेक्षणं वरम्[१]।।९।।

---

१. अवेक्षणं केवलमवलोकनं न भवति। अपितूचितानुचितविवेकपूर्वकं पदानां सन्धानमपसारणं वा भवति। यथोक्तं वामनेन काव्यालङ्कारसूत्रे (१.३.१५) पदस्याधानं न्यासः, उद्धरणमपसारणम्, तयोः खल्ववेक्षणम्। यथोक्तम् आधानोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः, पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त! सिद्धा सरस्वती। यत्पदानि त्यजन्त्येवं परिवृत्ति सहिष्णुताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।। इति।

१४. सम्बद्ध साहित्य का सर्वेक्षण–

शोध के लिए निर्धारित शीर्षक के रूप में जो समस्या सुनिश्चित की गई है, उससे सम्बद्ध अन्य लोगों द्वारा किए गए शोध सम्बद्ध साहित्य कहे जाते हैं। केवल शोधप्रबन्ध ही नहीं जो उपाधि के लिए लिखे गए हैं श्रेष्ठ विद्वानों की भी अनेक शोधपूर्ण पुस्तकें, शोधनिबन्धों के संग्रहों की पुस्तकें प्रकाशित हैं जैसे 'कालिदास से साक्षात्कार' डॉ. विद्यानिवास मिश्र, 'चित्रनिबन्धावली' पं. रघुनाथ शर्मा, 'कालिदास अपनी बात' आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, 'स्वाध्याय पर्व' 'समीक्षा सौरभम्' अभिराज प्रो. राजेन्द्रमिश्र, भट्टमधुरानाथ शास्त्री (मंजुनाथ) की राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान से प्रकाशित अनेक पुस्तकें इत्यादि। इन श्रेष्ठ विद्वानों के शोध निबन्धों और ग्रन्थों में प्रायः साहित्य में शोध करने वालों को प्रभूत सहायता मिल सकती है। संस्कृत में प्रकाशित गिरिधर शर्मा की 'चतुर्वेदि रचनावली', प्रो. रहस बिहारी द्विवेदी की पुस्तक 'साहित्यविमर्शः' भी शोधच्छात्रों के लिए उपयोगी हैं॥८॥

ग्रन्थ, शोधप्रबन्ध, ज्ञानकोष, पत्रिकाएँ और उनके विशेषांक, शास्त्रीय ग्रन्थ, अभिलेख, शोधकार्य में सहायक हैं॥२॥

शोधप्रबन्ध की रूपरेखा में तथा शोधप्रबन्ध के लेखन में इन सभी सम्बद्ध सामग्रियों की शोधप्रबन्ध के प्रारंभ में संक्षिप्त समीक्षा की जानी चाहिए। (इससे शोधप्रबन्ध लेखन में गति प्राप्त होगी तथा इनका परिचय भी पाठकों को प्राप्त होगा।)॥३॥

नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता तथा अन्य बड़े पुस्तकालयों के ग्रन्थों की सूची (इनडैक्स) शोधसंस्थाओं के शोधविभाग, पत्रिकाओं और विषयसम्बद्ध विद्वानों से सम्बद्ध साहित्य प्राप्त होगा अथवा उनकी जानकारी मिलेगी॥४॥

जो साहित्य शोधविषय से सम्बद्ध हैं उनके अध्ययन और अनुशीलन से प्रतिभाशाली (शोधच्छात्र) अपने विश्वास और अवधारणा को पुष्ट कर अपने विषय का प्रमाणिक विद्वान् बन जाता है। अतः अपने विषय से सम्बद्ध व्यापक जानकारी के प्रति उसकी जिज्ञासा निरन्तर बनी रहनी चाहिए॥६॥

अपने सम्बद्ध विषय में कितने कार्य हुए हैं इनकी जानकारी के साथ यदि उनका अध्ययन भी कर लिया जाय तब शोधप्रबन्ध प्रणयन तो अच्छा होगा ही अपने विषय के अधिकारी विद्वान् के रूप में उसे प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी॥७॥

उक्त रूप में प्रयास करने पर अनुसन्धान का क्या मार्ग है? उसका प्रभाव क्या है? समस्या की (शोधशीर्षक की) सीमा (परिधि) क्या है? किस प्रकार की परिकल्पना है? इन सभी का ज्ञान करके शोध के श्रेष्ठ मार्ग (शिल्प) का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः पूर्व में किए गए अनुसन्धानों का सम्यक् अवलोकन निश्चित ही कल्याणकारी होता है॥ अवलोकन केवल देखना ही नहीं है अपितु उचितानुचितविवेकपूर्वक पूर्व प्रणीत साहित्य का ज्ञान करना है। पदों और वाक्यों के प्रयोग और विषय प्रतिपादन की समीक्षा की भावना से उसे देखा जाता है॥९॥

प्रथमाधिकरणे पञ्चदशोऽध्याय

१५. शोधप्रशिक्षणाधाराः

सम्प्रति शोधस्य पात्रतापरीक्षामुत्तीर्य शोधच्छात्राः शोधसंस्थानेषु षाण्मासिकं प्रशिक्षणं प्राप्नुवन्त्विति नियमः। तस्मिन्ननुभविभिर्विद्वद्भिः शोधच्छात्राः प्रशिक्ष्यन्ते। प्रशिक्षणपूर्तावपि परीक्षा भवति। छात्रास्तां परीक्षामुत्तीर्य शोध-पञ्जीयनेऽर्हा भवन्ति लब्धप्रशिक्षणाश्छात्राः। अत्र ये विद्वांसः प्रशिक्षयितु-मायान्ति ते प्रायशः प्रतिष्ठिता विद्वांसो भवन्ति, अतस्ते चैकस्मिन् विषये विशेषज्ञाः सन्तोऽपि बहुज्ञा भवन्ति। अतस्तेषां कृते केचन विन्दवो यथामति प्रस्तूयन्ते-

शोधार्हाणां कृते देयं शोधपूर्वं प्रशिक्षणम्।
अस्मिन् प्रश्नाः समाधेया प्रशिक्षकबुधैर्यथा।।१।।

कः शोधश्च समस्याका शीर्षकं कीदृशं भवेत्।
प्राक्कथने च किं लेख्यं भूमिकायां च किं लिखेत्।।२।।

पूर्वेषां कृतशोधानां कीदृशं स्यादवेक्षणम्[१]।
सङ्क्षप्ते शीर्षकेऽपि स्यात् कीदृशं शोध्यबोधनम्।।३।।

पूर्वस्थो मध्यभागश्च पश्चभागश्च कीदृशाः।
मध्ये शोधस्य विन्यासस्तदध्यायेषु कीदृशः।।४।।

प्रमाणानां च सन्दर्भा मध्यगाः पश्चगाश्च के।
अस्वीकृतं मतं चान्यं स्वीकृतं कीदृशं न्यसेत्।।५।।

प्रमाणोद्धरणं मध्ये कथ्यसिद्धौ हि किं लिखेत्।
पादगायां च टिप्पण्यां कीदृक् सन्दर्भसूचनम्।।६।।

---

१. पदस्याधानं न्यासः, उद्धरणमपसारणं तयोः खल्ववेक्षणम्। वामनकाव्यलङ्कारसूत्रे-१. ३.१५

उभयत्र प्रमाणानां कथमास्तेऽनिवार्यता।
नूतना रचना रम्या नोचेत्पूर्वानुगामिनी।।७।।

न हेया सा कथं विज्ञैः सदसद्व्यक्तिहेतुभिः[१]।
वैदिकानामृषीणाञ्च शास्त्रोद्भवकृतां तथा।।८।।

मतानां खण्डने ध्येया कथं स्वल्पज्ञता स्थितिः[२]।।
आवश्यकं प्रमाणं किं खण्डने वान्यथा मते।।९।।

पारिभाषिकशब्दार्थाः दिश्यन्ते केन हेतुना।।
सन्दर्भग्रन्थसूची च शोधान्ते कीदृशी भवेत्।।१०।।

बन्धान्ते परिशिष्टं च रेखाचित्रादि कीदृशम्।।
शोधप्रबन्धविन्यासे प्रायोऽनिवार्यताङ्गताः।।११।।

प्रश्ना एते समाधेयाः प्रशिक्षकमहोदयैः।।
सर्वेषां विषयाणां वै नैका शोधस्य पद्धतिः।।१२।।

साहित्यस्य च शोधाय प्रश्नाः केचित्पुरस्कृताः।।
तुल्यात्मके च शास्त्रीये साहित्यस्यापि शोधने।।१३।।

काव्यशास्त्रेतरा काचित्पद्धतिर्हि प्रयुज्यते।।

पूर्वैः कृतप्रबन्धानां सन्दर्भाणाञ्च सूचना।।
प्रशिक्षकैः प्रदातव्या या हि शोधोपयोगिनी।।१४।।

शोध प्रशिक्षण के आधार–

इस समय शोध करने की पात्रता परीक्षा भी स्नातकोत्तर उपाधि उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर देनी पड़ती है उसमें उत्तीर्ण होने पर शोध संस्थाओं द्वारा चयनित छात्रों की छह महीने का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। उसके बाद शोधच्छात्र का पंजीयन किया जाता है इसकी भी परीक्षा

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

२. सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।। कालिदासमालविकाग्निमित्रे-१.२
तथा- तं सन्तं श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।। कालिदासरघुवंशे-१.३

होती है नियमित रूप से प्रशिक्षण में उपस्थित न रहने पर छात्र परीक्षा देने का पात्र नहीं माना जाता यह भी छात्र को ध्यान रखना होता है। प्रशिक्षण सम्बद्ध विषय के संस्थान के अतिरिक्त विद्वानों को विशेषज्ञ के रूप में व्याख्यान देने के लिए बुलाया जाता है। प्रशिक्षण में किन बिन्दुओं को समझाना होता है? वे आधार बिन्दु इस प्रकार है-

शोध के अर्ह (योग्य) छात्रों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। प्रशिक्षण में विशेषज्ञ विद्वानों को अधोलिखित प्रश्नों के समाधान करने होते हैं॥१॥

क्या शोध की समस्या है? अर्थात् शीर्षक का चयन किस प्रकार किया जाता है? उसका स्वरूप किस प्रकार होना चाहिए। (जितना संभव हो शोधशीर्षक जितना हो सके कम शब्दों का होना चाहिए। वाक्य के रूप में शीर्षक अच्छा नहीं माना जाता।) प्राक्कथन में क्या लिखा जाय? भूमिका किस प्रकार लिखी जाय। इनको बताना आवश्यक है॥२॥

पूर्व में किए गए अनुसन्धान कार्यों का किस प्रकार अवेक्षण (पदाधान/वाक्य-विन्यास) किस प्रकार किया जाता है? संक्षिप्त शीर्षक में भी किस प्रकार शोधप्रबन्ध का विषय आरेखित हो सकता है?॥३॥

शोध प्रबन्ध का पूर्वभाग, मध्यभाग और पश्चभाग किस प्रकार होता है? मध्य में शोधप्रबन्ध के अध्यायों का विभाजन कर उसमें शोधविषय के अध्यायों का विभाजन कर उसमें शोधविषय का प्रतिपादन किस प्रकार होता है?॥४॥

प्रमाणों के सन्दर्भों को किस प्रकार रखा जाता है? कुछ प्रबन्धों के विवेचन के मध्य में ही मूल रूप में उद्धृत कर दिया जाता है कुछ को फुटनोट में उद्धृत किय जाता है कुछ को उसके ग्रन्थनाम के साथ श्लोक संख्या या पृष्ठ संख्या मात्र से संकेतित किया जाता है, ऐसा क्यों किया जाता है? अन्य द्वारा प्रस्तुत मत का खण्डन, स्वीकृत मत का समर्थन करने के लिए प्रमाण देकर औचित्य को बताना क्यों आवश्यक है?॥५॥

प्रमाणों का उद्धरण मध्य में ही क्यों रखा जाता है? पादटिप्पणी में दिए जाने वाले अंश क्यों आवश्यक होते हैं? उन सन्दर्भों की स्थिति कैसी होती है?॥६॥

दोनों स्थितियों वाले प्रमाणों की अनिवार्यता क्यों होती है? नवीन रचना यदि रम्य है किन्तु पूर्व परम्परा से भिन्न है तब उसकी उपेक्षा न करके सत् और असत् पर विचार करने वाले विद्वानों को उसे क्यों स्वीकार कर लेना चाहिए। जैसा कि कालिदास ने कहा है–**पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।** वैदिक ऋषियों और श्रेष्ठ मनीषियों के मतों या सिद्धान्तों के खण्डन में अपनी अल्पज्ञता का भी ध्यान क्यों रखना चाहिए? आवश्यक प्रमाण क्यों खण्डन करने में दिया जाता है?॥६-९॥

जो पारिभाषिक शब्द शोधप्रबन्ध में प्रस्तुत किए गए हैं उनके अर्थ परिशिष्ट में क्यों देना आवश्यक होता है? सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची शोध-प्रबन्ध में देना क्यों आवश्यक है और उसे किस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए?॥१०॥

शोधप्रबन्ध के अन्त में कभी-कभी परिशिष्ट और रेखाचित्र और छायाचित्र आदि क्यों दिए जाते हैं और उन्हें किस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए। शोधप्रबन्ध लेखन और प्रस्तुतीकरण में अनिवार्य होने वाले तत्त्वों को सम्यक् रूप प्रशिक्षकों को बताना चाहिए। इस प्रकार शोध के विषय में संभावित सभी प्रश्नों का समाधान प्रशिक्षण देने वाले विद्वान् को करना चाहिए क्योंकि सभी विषयों के लेखन की पद्धति भिन्न-भिन्न होती है॥११,१२॥

पूर्व में साहित्य के शोधप्रबन्ध के लेखन के लिए कुछ प्रश्न प्रस्तुत किए गए हैं। अब इससे जुड़े होने पर भी कुछ भिन्न प्रकार के शोध के लिए कुछ तथ्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं–तुलनात्मक अध्ययन शास्त्रीय साहित्य ग्रन्थों का भी किया जाता है जो काव्यशास्त्र असम्बद्ध नहीं होता किन्तु विशुद्ध काव्यशास्त्रीय अध्ययन से भिन्न होता है। इसकी वस्तु, नेता और आह्लादकता से भिन्न पद्धति होती है। तुलनात्मक समान कथा या सिद्धान्त पर आधारित दो कृतियों की तुलना की जाती है।

शास्त्रीय अध्ययन किसी एक प्रशस्त कृति को आधार बनाकर। चतुर्दश विद्याओं, चार वेद, छह वेदाङ्ग-निरुक्त, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष और छन्दःशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण और मीमांसा-न्याय आदि भारतीय दर्शनों की कृति में खोजकर उन पर कवि के दृष्टिकोण को उन्मीलित किया जाता है। यह शोध भले ही साहित्यिक कृति पर हो किन्तु साहित्यिक समीक्षा या आलोचना से भिन्न पद्धति से शोधकार्य किया जाता है॥

पूर्वकृत शोधप्रबन्धों और सन्दर्भित ग्रन्थों की सूचना भी प्रशिक्षण देने वाले विद्वान् को देनी पड़ती है जिससे उपयोगी सूचना प्राप्त कर शोधच्छात्र सम्यक् रूप से अपने शोधप्रबन्ध के प्रणयन में सफल हो सके॥१३,१४॥

प्रथमाधिकरणे षोडशोऽध्यायः

१६. नव्यसाहित्यानुसन्धानविमर्शः

काव्यशास्त्रदिशा शोधे साहित्ये समपेक्ष्यते।
काव्यशास्त्रीयतत्त्वानां ज्ञानं पूर्वं च नूतनम्।।१।।

रसो रीतिरलङ्कारो ध्वनिर्वक्रोक्तिरौचिती।
शब्दशक्तिर्गुणादोषा वस्तुविन्यासपद्धतिः।।२।।

लोकशास्त्रेतिहासादिसम्पृक्तिः काव्यगा च या।
एतत्सर्वमधीत्यैव ततः शोधो विधीयताम्।।३।।

अन्यसाहित्यसम्पर्कान्नव्यसाहित्यसाधकैः।
अद्य बिम्बः प्रतीकञ्च राष्ट्रभक्तिश्च चेतना।।४।।

प्रक्षोभाक्रोशसन्त्रासान्योक्तिनार्यादिसंस्थितिः।
भ्रष्टाचारश्छलञ्चेति शोषणं वञ्चनन्तथा।।५।।

राष्ट्रस्य धूर्तनेतृणाञ्चरित्रं वञ्चनामयम्।
पर्यावरणचिन्ता च साधुरूपेषु धूर्तता।।६।।

छायाप्रगतिवादादिप्रवृत्तिर्नूतनैःश्रिता।
छन्दोविधाननावीन्यं विदेशानुकृतं च यत्।।७।।

क्षणिकाबिल्वपत्रा[१]दि काव्यक्षेत्रेऽवतारितम्।
नव्यानां साधु काव्यानां नूतन्यो याः प्रवृत्तयः।।८।।

---

१. जापानीयकाव्यविद्या 'हाइकू' इत्यस्य नाम मया बिल्वपत्रं कृतम्। एतदर्थं मम नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसाग्रन्थोऽवलोकनीयः। नव्यकाव्यशास्त्रस्य ग्रन्था अन्येऽपि सन्ति। यथा- प्रो० राधावल्लभत्रिपाठिनः 'अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्, प्रो० अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य-अभिराजयशोभूषणम् डॉ० हर्षदेवमाधवस्य च 'वागीश्वरी-कण्ठामृतम्।

तासां स्वरूपं ज्ञात्वा शोधबन्धो विधीयताम्।

साहित्यिकेऽनुसन्धाने प्रोक्ततथ्यानि जानतः।
कर्तुः शोधप्रबन्धस्य मङ्गलं जायते ध्रुवम्।।९।।

नवीन साहित्यानुसन्धानविमर्श

साहित्य में काव्य शास्त्र की दृष्टि से शोध करने के लिए प्राचीन और नवीन काव्यतत्त्वों का ज्ञान आवश्यक होता है॥१॥

रस, रीति, अलङ्कार ध्वनि, वक्रोक्ति, और औचित्य का तथा– शब्दशक्तियों (अभिधा, लक्षण तथा व्यंजना), वस्तु विन्यास पद्धति काव्यवस्तु दो प्रकार की होती है ऐतिहासिक और कविकल्पित। इनका भी वस्तु, नेता और अभिव्यंना की दृष्टि से विवेचन आवश्यक होता है इसके लिए प्राक्तन प्रशस्त काव्यों में नाट्यसन्धियों की दृष्टि से वस्तु-विन्यास की समीक्षा करनी होती है, अलंकार, वर्णनात्मकता, प्रकृतिचित्रण, भौगोलिक वर्णन, राष्ट्रचेतना, सूक्ति आदि का भी अन्वेषण करके प्रतिपादन आवश्यक होता है॥२॥

लोक और शास्त्र, इतिहास की जो सम्पृक्ति साहित्यिक रचना में दिखाई देती है। इनका सम्यक् ज्ञान करके ही किसी कृति पर शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है तभी उसमें उक्त विषयों की अन्विति और कवि के दृष्टिकोण को उन्मीलित किया जा सकता है॥३॥

अन्य साहित्य के (विश्वव्यापी) सम्पर्क के कारण संस्कृत साहित्य साधकों ने विविध नवीन विधाओं में साहित्य सर्जन किया है। बिम्ब, प्रतीक, राष्ट्रभक्ति, राष्ट्रचेतना, प्रक्षोभ, आक्रोश, सन्त्रास, अन्योक्ति, नारियों की स्थिति, शोषण, भ्रष्टाचार, छल, वंचकता, राष्ट्र के धूर्त नेताओं का वञ्चनापूर्ण चरित्र, पर्यावरण की चिन्ता, साधु का वेश बनाकर धूर्तता करना, छायावाद, प्रगतिवाद आदि अनेक प्रवृत्तियों की स्थिति आधुनिक संस्कृत साहित्य में भी दिखाई देती है। छन्दोविधान में भी नवीनता दिखाई देती है विदेशी अनुकरण पर जैसे क्षणिका, (हाईकू) जिसे मैंने बिल्वपत्र कहा है क्योंकि इसमें पहले पाँच अक्षर बीच में सात

अक्षर और अन्त में पाँच अक्षर होते हैं। सीजोकाव्य, टुप्कथा, स्पशकथा आदि नूतन विधाएँ नूतन रचनाकारों द्वारा सर्जित हैं।॥४-८॥

इन नई विधाओं का ज्ञान करना आवश्यक है यदि नए रचनाकारों की कृतियों की समीक्षा करनी है तब इन के स्वरूप के लिए प्रो. रहस बिहारी द्विवेदी की पुस्तक नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा, प्रो. अभिराजराजेन्द्रमिश्र की पुस्तक अभिराज यशोभूषणम्, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी की पुस्तक अभिनव काव्यालङ्कारसूत्रम् और डॉ. हर्षदेव माधव की पुस्तक वागीश्वरीकण्ठामृतम् इन ग्रन्थों में नवीन विधाओं के स्वरूप दिए गए हैं। अतः इन ग्रन्थों से विधाओं का ज्ञान प्राप्त कर नवीन रचना या रचनाओं पर शोधप्रबन्ध लिखा जा सकता है। नूतन रचनाओं पर शोधपत्र भी लिखे जा सकते हैं। साहित्यिक अनुसन्धान के लिए उक्त तथ्यों के ज्ञान से शोधप्रबन्धकर्ता का अवश्य ही मार्ग मंगलमय होगा॥ ८-९॥

द्वितीयाधिकरणम्

१. साहित्याध्ययनावबोधस्य प्रविधयः

नूतनानामपि रचनानामनुशीलनं चेत्ताः प्राक्तनकाव्यशिल्पमनुसृत्य प्रणीतास्तर्हि तासां प्राक्तनकाव्यशास्त्रदिशाऽध्ययनं क्रियते किन्तु नूतनानामुपन्यासमहाकाव्यखण्डकाव्यमुक्तककाव्यसङ्ग्रहकथानिका-टुप्कथा-स्पशकथा यात्रावृत्तान्तादीनां समीक्षणे प्रतिपदं टीकाव्याख्यादीनां परम्परा सम्प्रति मल्लिनाथ-नारायण-वल्लभदेव हेमाद्रिप्रभृतिसदृशी नास्ति। यद्यपि सम्प्रत्यापि-आचार्यरमाकान्तपाण्डेय[१]-सदृशा आचार्याः प्राचीनशिल्पेन नव्यकृतीनां व्याख्यानं कुर्वन्तो दृश्यन्ते। समीक्षाऽनुशीलनशब्दौ प्राचीनेवाङ्मयेऽपि प्रयुक्तौ दृश्येते किन्तु 'क्रिटिकलस्टडी' व्याख्याप्रवृत्तेरनुवादरूपेणाङ्लहिन्दीभाषातः संस्कृतभाषायामपि प्रयुज्यमानौ स्तः। प्राक्तनकाव्यशास्त्रीयग्रन्थेषु सम्प्रति यथा शोधविषयस्योत्तरपदे-समीक्षात्मकमध्ययनम्, समीक्षा, अनुशीलम् इत्यादि शब्दाः प्राप्यन्ते तथा न दृश्यन्ते। यद्यपि सम्प्रत्यपि समीक्षणेऽनुशीलने वा वस्तुविन्यासे पात्रचित्रणे, रसभावादिनिरूपणे, गुणालङ्कारनिरूपणे, सन्धिसध्यङ्गनिरूपणे समेषां मूलाधाररूपेण प्राक्तना नाट्यशास्त्रग्रन्थाः काव्यशास्त्रग्रन्था एव प्रयुज्यन्ते। शास्त्रीये, भाषावैज्ञानिके, सांस्कृतिके, पर्यावरणीये, समाजराजनीत्यादिदिशाऽनुशीलने यथोचितं तानि शास्त्राणि सहायानि भवन्ति।

प्राक्तनी नूतना च प्रवृत्तिरधुना दृश्येतेऽतो मया स्वकीये साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधौ द्वितीये भागे साहित्यावबोधप्रविधिप्रकारा निरूपिताः सन्ति तैः सहान्येऽपि प्रविधयो विषयभेददिशा निरूप्यन्ते।

---

१. म.म.गङ्गाधरशास्त्रिणोऽलिविलापसंलापः, म.म.गोकुलनाथोपाध्यायस्य-शिवशतकम्, अभिनवगुप्तदशस्तोत्री, आचार्यराधावल्लभस्य अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्, वक्रोक्तिजीवितभाष्यम् प्रभृतिग्रन्था अस्य विद्यन्ते।

अनुवादोऽथ टीका च व्याख्या भाष्यं समीक्षणम्।
वृत्तिश्च विवृतिच्छाया मीमांसा चानुशीलनम्।।१।।

अवेक्षणं विमर्शश्चालोचनपरिशीलने।
तात्पर्यं पदकृत्यञ्च टिप्पण्यर्थस्त्रिधा कृतः।।२।।

दीपिका पञ्चिका चूर्णिः फक्किका पद्धतिस्तथा।
एते प्रविधयः प्रायः प्रज्ञावद्भिः प्रकल्पिता।।३।।

१. अनुवादः - 'अनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्' प्रभृतिप्रयोगेषु कस्यचित् कथनस्य तथैव कथनमिति ध्वन्यते। सम्प्रति यथावत्परिवर्तने शब्दोऽयं प्रसिद्धः।

मूलस्य ग्रन्थकारस्य भावरक्षणपूर्वकम्।
तयाऽन्यभाषया वाऽयमनुवादो विधीयते।।१।।

अनुवादेऽन्यभाषायां मूलं कथ्यं यथा तथा।
लिख्यते नात्र तात्पर्यविन्यासो वै विधीयते।।२।।

भाषाप्रकृतिरक्षाऽपि विधेया चात्र सूरिभिः।
यथा हिन्द्यां भवे'न्ने'[१]चेत् कर्मवाच्या क्रियोचिता।।३।।

'ने' तृतीया विभक्तेर्वै जातमित्यवबुध्यताम्।
'जाताहै' गच्छतीत्यत्र गच्छन्नस्तीति जारहा।।४।।

---

१. 'ने' हिन्दी का सम्बन्ध तत्त्व है। इसकी उत्पत्ति तृतीयाविभक्ति से हुई है। बालकेन का बालक ने हो गया है। संस्कृत में कर्मवाच्य क्रिया होने पर वह कर्म के अनुसार होती है। 'ने' (तृतीया विभक्ति से जब निकलकर) हिन्दी में गया तब केवल वहाँ भूतकाल के वाक्यों में प्रयुक्त होने लगा, किन्तु अपनी कर्मवाच्यता उसने नहीं छोड़ी, हिन्दी में क्रिया में भी लिंग होता है किन्तु संस्कृत में केवल कर्ता में लिंग होता है, क्रिया में लिंग होता ही नहीं। सः गच्छति सा गच्छति। वह जाता है, वह जाती है, हिन्दी में यदि सकर्मक क्रिया है तभी 'ने' का प्रयोग होगा और केवल भूतकाल में ने रह सकता है। वर्तमान और भविष्यकाल के वाक्यों में 'ने' का प्रयोग कभी नहीं होगा।

जा रहा था हि भूते च गच्छन्नासीत्तदोचितम्।
एवं भाषानुवादे च तद्वाच्यार्थस्य साधने।
भाषायाः प्रकृतिस्त्वेवं रक्षणीया यथायथम्।।५।।

२. टीका-

यथासम्भवमर्थस्य टीकनं ग्रन्थसम्मतम्।
टीकाग्रन्थस्य शब्दानां दुर्बोधानुप्रवेशिनी।।१।।

अतो व्याकृतिकोषाणां शास्त्राणामुद्धृतिः क्वचित्।
यथापेक्ष्यं सुधीमद्भिष्टीकाकृद्भिर्विधीयते।।२।।

टीकायां क्लिष्टशब्दानां सन्दर्भाणां समन्वितिः।
व्युत्पत्याधारसूत्राणि समुद्धृत्य विलिख्यते।।३।।

रसोरीतिरलङ्कारोध्वनिर्वक्रोक्तिरौचिती।
छन्दो भावस्य साम्यञ्च न्यस्यन्ते काव्यटीकने॥४॥

तद्यथा टीकाकृतामभ्युक्तयः-

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।

गया, गयी, खेला, खेली, रोयी, रोया, सोया, सोयी, जागा, जागी आदि में भूतकाल रहने पर भी ने का प्रयोग नहीं होता। हमने पुस्तक पढ़ी, हमने कहा उसने कहा मैने लाइब्रेरी देखी, हमने ग्रन्थालय देखा। 'मैं कह दिया हूँ, यह गलत है 'मैंने कह दिया है' सही है। वह बोली ठीक है। उसने बोला ठीक नहीं होगा। इस प्रकार भूतकाल में भी कई बार ने का प्रयोग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि हिन्दी में यदि ने का प्रयोग किया गया हो तो संस्कृत के अनुवाद में प्रथमा में कर्ता कभी नहीं हो सकता। संस्कृत का अनुवाद सिखाने वाली पुस्तकों में कर्ता कारक का चिह्न 'ने' बताया गया है जो सर्वथा गलत है। इसी का दुष्परिणाम है कि अहिन्दी भाषी प्रदेशों के लोग विशेषरूप से पंजाब, दिल्ली हरियाणा के लोग 'अपने जाना है' ऐसा बोलते हैं। इसमें गलती व्याकरण की तथाकथित पुस्तक-लेखकों की है। जिन्होंने कर्ता-'ने', 'कर्म' 'को' आदि का उदाहरण दिया है।

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते।।–मल्लिनाथः

अनल्पकविकल्पनाऽखिलसदर्थमञ्जूषिकां
सदन्वयविवोधिकां विबुधसंशयोच्छेदिकाम्।

उदाहरणयोजनाजननसञ्जनाह्लादिका-
मुदाहरणचन्द्रिकां भजत वैद्यनाथोदिताम्।।

–काव्यप्रकाशस्य प्रदीपटीकाकारः

यत्र प्रतिभाशालिनामपि नृणां सञ्चारमातन्वतः
सन्देहैः प्रतिभाकिरीटपटली सद्यः समुत्सार्यते।

नीरन्ध्रं विषमप्रमेयविटपिव्रातावकीर्णं सदा
तस्मिंस्तर्कपथेयथेष्टगमना जज्ञे मदीया मतिः।।

–काव्यप्रकाशस्य प्रकाशटीकाकारो माणिक्यचन्द्रः

टीकाकाव्यप्रकाशस्य दुर्बोधानुप्रवेशिनी।
क्रियते विश्वनाथेन कविराजेन धीमता।।

उक्तेषु टीकाकारकथनेषु टीकास्वरूपं स्फुटी भवति।।

३. व्याख्या-

व्याख्यायां कथ्यतात्पर्यं पदच्छेदार्थविग्रहैः।
वाक्ययोजनयाऽक्षेपसमाधानैर्विधीयते।।१।।

या लीनमर्थं प्रथते सुबोधं
लुप्तं सदर्थं स्फुटितं विधत्ते।
अल्पं च शास्त्रं विदधात्यनल्पं
व्याख्यासमार्थैर्विवृतिः पदैः सा।।२।।

३.१ व्याकरणशास्त्रम्-

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहोवाक्य योजना।
पूर्वपक्षसमाधानं व्याकरणे विशेषतः।।३।।

न्यायशास्त्रम्-

उद्देशो[१]लक्षणं तस्य पुनः सम्यक् परीक्षणम्।
न्याये तत्त्वावबोधाय त्रिधावृत्तिर्निभाल्यते।।४।।

तत्त्वं नाम तदुद्देशो लक्ष्मासामान्यधर्मता।
लक्षितस्योपपत्तौ च विचारस्तत्परीक्षणम्।।५।।

प्रमाणैरर्थतत्त्वस्य परीक्षा न्याय उच्यते।
व्याख्यायामर्थतत्त्वानि व्याख्यायन्तेऽत्र सूरिभिः।।६।।

प्रमाता-प्रमितिश्चात्र प्रमाणं च प्रमेयता।
चतस्त्रश्च विधा ह्येता अर्थतत्त्वविधायिका।।७।।

३.२ वेदान्तशास्त्रम्-

वेदान्ते सूत्रमाश्रित्य तत्पदानां विभाजनम्।
पदार्थयोश्च सम्बन्धस्ततश्चात्रावधार्यते।।७।।

इत्थं शाङ्करवेदान्ते प्रायशः प्रविधिःश्रितः।
द्वैताद्वैतप्रवृत्तित्वाद् व्याख्याभेदोऽपि दृश्यते।।८।।

३.३ काव्यशास्त्रम्-

काव्यशास्त्रे प्रतिज्ञातमादौ वै काव्यलक्षणम्।
एकैकं घटकं तस्य स्फुटितार्थैर्निगद्यते।।९।।

३.४ आगमः-

ज्ञानयोगक्रियाचर्यादृष्टितश्चागमे बुधाः।
एकमीशत्वमद्वैतम् गुह्यवादोऽत्र तन्यते।।१०।।

---

१. प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयवतर्कवादजल्पवितण्डाछल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। इति गौतमन्यायस्यादिमे सूत्रे तत्त्वानि प्रतिपादितानि।

३.५ निरुक्तम्-

आगमं व्यत्ययं वर्णे विकारश्च विनाशनम्।
धातोरतिशयो योगो निरुक्ते वर्णदर्शने।।११।।

यथोक्तं पूर्वसूरिभिः-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च
द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तर्थातिशयेन योगः
तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

३.६ मीमांसा-

मीमांसा कर्मकाण्डाय वैदिकमन्त्रसम्मता।
न्यायानां नियमानाञ्च व्यवस्थापनमिष्यते।।१२।।

लक्षणञ्च विधिर्मन्त्रो नामधेयं निषेधनम्।
अर्थवादश्च तात्पर्यमत्र व्याख्याक्रमोऽन्वितः।।१३।।

३.७ साङ्ख्यम्-

साङ्ख्ये त्रीणि तत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञरूपतः।
सत्तत्त्वं पुरुषश्चात्र चेतनो विद्यते परः।।१४।।

मूला प्रकृतिरव्यक्ता त्रयोविंशतिभेदतः।
तस्या विकृतयः सप्त महदाद्या हि वर्णिताः।।१५।।

षोडशका विकाराश्च तत्परिणामरूपिणः।
पञ्चविंशतितत्त्वानां सैषा चात्र प्रकल्पना।।१६।।

महाभूतादितत्त्वानि नित्यानीति विदुर्बुधाः।
न्यायादौ, किन्तु साङ्ख्ये वै स्थूलरूपाणि मेनिरे।।१७।।

महाभूतादितत्त्वेषु चिन्तने दृष्टिभिन्नता।
सूक्ष्मभेदमतो ज्ञात्वा व्याख्या साङ्ख्ये विधीयताम्।।१८।।

३.८ छन्दःशास्त्रम्-

छन्दःशास्त्रे हि वर्णानां पद्येषु कीदृशी स्थितिः।
तामाधृत्य हि वर्णानां सङ्ख्यां लघुगुरुस्थितिम्।।१९।।

मात्राणां च स्थितिं ज्ञात्वा ह्रस्वदीर्घादिरूपिणीम्।
यथायथं हि वृत्तानां ज्ञानं सम्यगपेक्ष्यते।।२०।।

वार्णिकानां 'यमाताराजभानसलगा' क्रमैः।
यकारादग्रिमौ वर्णौ[१]लघुदीर्घाप्तिसूचकौ।।२१।।

मात्रिकेषु च मात्राणां गणनातोऽहि निश्चितिः।
मात्रिकच्छन्दसां ज्ञानं तेन सम्यग् विधीयताम्।।२२।।

वैदिके त्रिष्टुभादौ च वर्णसङ्ख्या हि गण्यते।
एवं छन्दोविधिं ज्ञात्वा तस्योन्मीलनमीह्यताम्।।२३।।

---

१. य। माऽ ताऽ राऽ ज। भाऽ न।
यगण मगण तगण रगण जगण मगण नगण
।ऽऽ ऽऽऽ ऽऽ। ऽ।ऽ ।ऽ। ऽ।। ।।।
→ → → → → → →
स। ल। गाऽ
सगण लघु गुरु
।। ऽ । ऽ
→
प्रतीकचिह्ने-लघु पूर्णविरामवत् (।) दीर्घम् अवग्रहवत् (ऽ)
प्रायो वृत्तरत्नाकरादिग्रन्थेषुच्छन्दोलक्षणमपि तस्मिन्नेवच्छन्दसि कृतं विद्यते-यथा-
भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः
। ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ। ऽ ऽ द्र० वृत्तरत्नाकरम्।

३.९ शिक्षाशास्त्रम्-

सम्प्रतिशिक्षाशास्त्रतोऽध्यापनप्रशिक्षणशास्त्रस्य बोधो भवति। षड्वेदाङ्गेषु-शिक्षाऽपि वेदाङ्गमेकं विद्यते। 'तत्र वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिर्निष्पत्ति-निर्णयिनी शिक्षा, आपिशाल्यादिका।' एवं राजशेखरेण काव्यमीमांसायां (द्वि.अ.) प्रत्यपादि। लघुसिद्धान्तकौमुद्यां **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १.१. ९** इति सूत्रविवेचने सर्ववर्णोच्चारणस्थानप्रयत्नादिवर्णनं साधुकृतं तत्सम् पूर्णं कण्ठस्थीकरणमनिवार्यं शोधच्छात्राणां कृते विद्यते।

सम्प्रति विषयश्चायं ध्वनिविज्ञाननामतः।
भाषाविज्ञानिभिः सर्वैर्विस्तरेण निरूप्यते।।२४।।

आङ्लभाषायां फोनोलॉजी (Phonology) अथवा (Phonetics) फोनेटिक्स इति कथ्यते। संस्कृतस्य वर्णाः यथालिख्यन्ते तथैव पठ्यन्तेऽतो विश्वश्रेष्ठेयं भाषा मन्यते। बट (But) पुट (Put) सदृशी समस्या नास्ति। भाषणध्वन्यङ्कनयन्त्रे यानि अक्षराण्युच्चारितानि तान्येव तत्र मुद्रितानि भवन्ति, संस्कृतभाषा आदिकालतोऽद्यावधिपर्यन्तमेकरूपाऽपि विद्यते। पाणिन्यादिभि-र्विकृतिरहिता कृताऽतोऽमराऽजरा चिरनूतनाऽपि विद्यते। स्वकीये भाषिकी-कारिकाग्रन्थे मया ध्वनिविज्ञाननिरूपणे ध्वनेः स्थितिरेवं निरूपिता-

उच्चारणं च सञ्चारो ग्रहणञ्च ततः परम्।
त्रयीगतिर्ध्वनेरस्य वाग्विद्भिर्हि विचार्यते।।२५।।

ध्वनेरौच्चारिकी पूर्वा ततः साञ्चारिकी मता।
श्रौतिकी च तृतीयाऽऽस्ते शाखा सर्वत्र सम्मता।।२६।।

१. औच्चारिक्यां ध्वनेस्तस्य समुत्पत्तिर्विचार्यते।
वागिन्द्रियाणि चाश्रित्य ध्वनिभेदोऽत्र बुध्यते।।२७।।

२. ध्वनिश्वासतरङ्गाणां श्रोतारं गच्छतां खतः।
क्रियतेऽध्ययनं यस्यां सा च साञ्चारिकी मता।।२८।।

३. श्रवणे प्रविशन्तीनां स्वनोर्मीणां गतेर्यया।
क्रियतेऽध्ययनं यस्यां श्रौतिकी सोच्यते बुधैः।।२९।।

वाग्यन्त्रम् (उच्चारणस्थानानि)

स्वनोत्पत्तिसहायानि वपुषोऽङ्गानि तान्यतः।
वागिन्द्रियाणि कथ्यन्ते वाग्यन्त्रं वा समासतः।।३०।।

वागिन्द्रियाण्येवोच्चारणस्थानानि कथ्यन्ते। पाणिनीयशिक्षायामष्टौ स्थानानि प्रतिपादितानि–

'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।।'

आधुनिकैर्भाषाविज्ञानिभिरेतेषामेव विभाजनं कृत्वा प्रायशो विंशतिस्थानानि प्रतिपादितानि केचनेतोऽप्यधिकानि स्थानानि मन्वते। मया प्रतिपादितानि विंशतिस्थानानि सन्ति। तानि चैवम्–

ओष्ठौदन्ताश्च वर्त्सश्च तालु पुष्टं च कोमलम्।
अलिजिह्वा च जिह्वाणि जिह्वायाः फलकं तथा।।३१।।

जिह्वाया अग्रिमो भागो मध्यः पश्चश्च विद्यते।
जिह्वामूलं च नासाया द्वारं ग्रसनिका तथा।।३२।।

काकलः स्वरयन्त्रं च स्वरतन्त्री ततोऽन्तिमम्।
उरः स्वीक्रियते येन श्वशनः सम्प्रवर्तते।।३३।।

विस्तरभयात् स्वरयन्त्रादिचित्रस्य विस्तृतं विवेचनमत्र च न प्रस्तूयते। सम्प्रति भाषाविज्ञानं स्वतन्त्रो विषयः। स्नातकोत्तरकक्षायां तदध्ययनव्यवस्था विश्वविद्यालयेषु विद्यतेऽतोऽत्रशोधच्छात्रसामान्यज्ञानाय सङ्क्षिप्तमत्र विवेचनं कृतम्। मध्यप्रदेशहिन्दीग्रन्थाकादमीतः प्रकाशिते 'अर्थगौरवमिति स्वसम्पादिते ग्रन्थे' (यः स्नातकतृतीयवर्षकक्षायाः छात्राणां कृते निर्धारितः) मया संस्कृतच्छात्राणां कृते भाषाविज्ञानस्य परिचयोऽदायि। तत्र हिन्दीभाषामाध्यमेन सुस्पष्टं विवेचनं कृतमस्ति। तस्मिन् वाग्यन्त्रस्य चित्रमपि स्थाननिर्देशपूर्वकं प्रकाशितमस्ति। शिक्षावेदाङ्गं प्राक्तनं विद्यते साम्प्रतिकी का स्थितिरिति बोधायोक्तं विवेचनमत्र कृतम्।

शिक्षाशास्त्रस्य व्याख्यायां नव्यप्राञ्चमतानि वै।
सन्निरीक्ष्य विधातव्या व्याख्यातत्त्वावबोधिनी।।३४।।

३.१० ज्योतिर्विज्ञानम्-

ज्योतिषे वै तिथिं वारं नक्षत्रं करणं तथा।
योगं ध्यात्वा च तद् व्याख्या कार्या सर्वावबोधिका।।३५।।

गणितं फलितं चास्य द्वौ भेदौ हि कृतौ बुधैः।
गणिते गणनामुख्या फलितं ग्रहफलोक्तिगम्।।३६।।

३.११ शैवदर्शनम्-

अद्वैतं शाङ्करे शैवे चोभयत्र प्रतीयते।
सच्चिदानन्दरूपत्वं ब्रह्मणि च शिवे समम्।।३७।।

शिवं शक्तिं च मत्वाऽपि शैवाद्वैतं प्रकल्पते।
एकमेवाद्वितीयं च ब्रह्माद्वैते विराजते।।३८।।

यथोक्तं शिवदृष्टौ-

'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।।'

वेदान्ते शाङ्करे नूनं मायाकर्तृत्वधारिणी।
ब्रह्माधिष्ठानरूपं च साक्षिकर्तृ च चिन्मयम्।।३९।।

कियत्साम्यं च वैषम्यं व्याख्याकार्ये सुधीमता।
अद्वैतत्वे समानेऽपि भेदत्वं परिचिन्त्यताम्।।४०।।

३.१२ काव्यम्-

काव्यव्याख्यासु चीयन्ते मल्लिनाथादिसूरिभिः।
सन्दर्भोऽथ प्रसङ्गश्च विग्रहश्चाऽन्वयक्रमः।।४१।।

कवेरिष्टाश्च शब्दार्थ गुणालङ्काररीतयः।
आह्लादकानि तत्त्वानि शास्त्रसन्दर्भसूचना।।४२।।

छन्दःकोषादिसङ्केतो भावसाम्यं तदन्यतः।
इत्येतान्येव तत्त्वानि यथा लब्धानि काव्यतः।।४३।।

काव्यस्याध्यापने तद्वद्व्याख्याने प्रतिपाद्यताम्।
प्राय एतानि तत्त्वानि चाद्रियन्ते मनीषिणः।।४४।।

३.१३ पुराणम्-

सर्गश्च प्रतिसंहारं कल्पं मन्वन्तरं च यत्।
वंशं चापि समाधृत्य पुराणमनुशील्यते।।४५।।

अत्रावतारभक्ती च तदाध्यात्म्यं प्रयोजनम्।
पुराणादौ हि चीयन्ते प्रायो व्याख्याविदो बुधाः।।४६।।

३.१४ धर्मशास्त्रम्-

श्रुतिस्मृती समाश्रित्य धर्मशास्त्रे मनीषिणः।
तद्विधिं तन्निषेधं च व्याख्याने हि वितन्वते।।४७।।

रिलीजनेति शब्दोऽसौ सम्प्रदायस्य वाचकः।
विश्वमानवकर्तव्यबोधे धर्म उदीरितः।।४८।।

धर्माधारो यथा मनुस्मृतौ-

'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।'

-मनुस्मृतौ-२/१२

वस्तुतो धर्मो विश्वे मानवकर्तव्यबोधका एते भारतीयधर्मशास्त्रीया आधाराः।

अत्र धर्मस्य घटकाश्च-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। तत्रैव-६.९२

अस्मिन् धर्मलक्षणे काचित्सीमा नास्ति। धर्मलक्षणमिदं विश्वस्य कोऽपि न्यायाधिपो देशजातिसम्प्रदायपन्थसम्बद्धं प्रमाणीकर्तुं न शक्यते। यतो हि केवलमत्र मनुष्यस्य लक्षणं प्रतिपादितम् अस्याभावे मानवं भर्तृहरिर्नीतिशतके पशुसमानं कथयति-

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

धर्मशास्त्रे कर्मकाण्डविधानवर्णादीनां विषयेऽपि विचारः कृतो विद्यते किन्तु तस्य मूलोद्देश्यमुक्तयोः श्लोकयोः धर्मलक्षणरूपेण प्रतिपादितमतो धर्मशास्त्रग्रन्थस्य व्याख्यायामिमौ श्लोकौ सदाध्यातव्यौ।

३.१५ योगः

योगस्य मूलो ग्रन्थः पातञ्जलयोगसूत्रमस्ति। 'मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य चेत्यादिरूपेण भट्टोजिदीक्षितेन येषां त्रिमुनीनामुल्लेखः कृतः तेषु (पाणिनिकात्यायनपतञ्जलिषु) एकः पतञ्जलिर्योगसूत्रस्यापि कर्त्ता वरीवर्ति येन विश्वप्रसिद्धं व्याकरणमहाभाष्यं व्यधायि। तद्विषये प्रणतिपरकमिदं पद्यम्-

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

पातञ्जलयोगसूत्रे चत्वारः पादाः-१. समाधिपादः, २. साधनपादः, ३. विभूतिपादः, ४. कैवल्यपादश्च।

तत्र चाष्टाङ्गानि यमनियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान समाधयः।

चित्तवृत्तेर्निरोधो यः स योगः कथ्यते बुधैः।
निदिध्यासनमेवाऽस्ते योगोऽयं नाऽत्र संशयः।।४९।।
साङ्ख्ये योगान्वयेनैव चैत्तिकं तत्त्वमङ्गते।
आभ्यन्तरं च बाह्यञ्च द्वे तत्त्वे जगति स्थिते।।५०।।
तदेकं चेतनं तत्त्वं बाह्यं सर्वं जडात्मकम्।
व्यापारो बुद्धितः साङ्ख्ये प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका।।५१।।
बुद्धेर्वास्तविकं ज्ञानं योगेनैव हि जायते।
साङ्ख्ययोगौ पृथक्तेन मन्यन्ते न मनीषिणः।।५२।।
साङ्ख्ये च तत्त्वविज्ञप्तिर्योगः प्रायोगिको मतः।
भवसङ्गमविच्छदो योगे वृत्तेर्निरोधतः।।५३।।

अष्टाङ्गानि च योगस्य पतञ्जलिमहर्षिणा।
प्रोक्तानि योगसूत्रेषु तानि प्रायोगिकानि वै।।५४।।

व्याख्यायां योगशास्त्रस्य हठयोगादिचित्रतः।
प्रायोगिकमपि ज्ञानं पाठकेभ्यः प्रदीयते।।५५।।

प्रायोगिके विधानेऽत्र योगसूत्रा[१]नुसारतः।
न्यादर्श[२]च चरं[३] श्रित्वा शोधकार्यं विधीयते।।५६।।

परीक्षणस्य यन्त्रै[४]श्च प्रश्नावल्यादिमाध्यमैः[५]।
साङ्ख्यिक्यादि[६]प्रयोगैश्च निष्कर्षः प्रतिपाद्यते।।५७

३.१६ वैशेषिकम्-

न्याये वैशेषिके प्रायः समानत्वं प्रतीयते।
न्याये किन्तु प्रमाणादेरभिकल्पनमिष्यते।।५८।।

वैशेषिके च बोधाय प्रमेयसरणिः श्रिता।
द्रव्यं गुणश्चकर्माथ सामान्यं च विशेषकः।।५९।।

समवायो ह्यभावश्च पदार्थाः सप्त चासते।
अन्नंभट्टेन संक्षिप्य पदार्थानां विभाजनम्।।६०।।

लक्षणं च कृतं रम्यं द्रष्टव्यं तर्कसङ्ग्रहे।
न्यायं वैशेषिकं श्रित्वा ग्रन्थाः केचन निर्मिताः।।६१।।

यथा श्रीविश्वनाथेन न्यायमुक्तावली कृता।
अतो वैशिषकव्याख्या न्यायान्वितिमयी क्वचित्।
अत्र साम्यं च वैषम्यं सूचयता विधीयताम्।।६२।।

---

१. पातञ्जलयोगसूत्रम्
२. Semple (सेंपिल) उदाहरणम्
३. Variable (वैरियेबिल) विचलम्
४. Tools of Research (टूल्स ऑफ रिसर्च) परीक्षणयन्त्र
५. Questionnaire (क्वेश्चेनियर) प्रश्नावली
६. Use of Stastics (स्टेटिक्स) सांख्यिकी

व्याख्याविवेचनविषये निवेदनम्-

वाङ्मयं संस्कृतस्यास्ते विविधं विस्तृतं परम्।
तद्व्याख्यानविधिं वक्तुं क्षमोऽनास्मीति जानता।।६३।।

मया छात्रोपकारार्थं यत्नोऽकारि यथामति।
यदुचितं तदादाय समादधतु सज्जनाः।।६४।।

एकस्मिन् विषये शोधे सर्वशास्त्रावधारणा।
ज्ञातव्येति मया प्रोक्ताः मुख्यशास्त्रप्रवृत्तयः।।६५।।

४. भाष्यम्-

आक्षिप्यभाषणाद्भाष्यं शास्त्राणां सूरिसम्मतम्।
द्रढीकर्तुं स्वशास्त्रस्य मतं सम्यक् प्रभाष्यते।।६६।।

पतञ्जलिमहाभाष्यं शब्दशास्त्रे कृतं महत्।
तदादर्शं समाश्रित्य शास्त्रभाष्यं विधीयताम्।।६७।।

पूर्वपक्षं समुद्भाव्य तत्समाधिपुरस्सरम्।
सूत्रात्मकस्य शास्त्रस्य विस्तृतिरत्र साध्यते।।६८।।

क्वचित्स्वमतपोषार्थं शास्त्रभाष्यं विधीयते।
गीतोपनिषदादीनां शङ्करेण व्यधायि तत्।।६९।।

यथोक्तं राजशेखरेण काव्यमीमांसायाम् (अ०२) 'आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्।' प्रदीपोद्योतच्छायारम्भे भाष्यस्य साधुपरिभाषा कृता विद्यते-

सूत्रार्थो वण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो जनाः।

विशिष्टाश्चिन्तका मनीषिणः शास्त्रसिद्धान्तप्रवर्तकाः प्रायः मितं च सारं च वचो हि वाग्मितेति सिद्धान्तमनुसृत्य सूत्ररूपेण (सूक्ष्मरूपेण) स्वाभिमतं प्रकाशयन्ति। अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभ-मनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः। एषा सूत्रपरिभाषा। सूत्रात्मक भाषया लिखितानां ग्रन्थानां भाष्यमावश्यकं भवति। माघोऽपि स्वसङ्क्षिप्तवाक्यं प्रति कथयति-

सङ्क्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यार्थस्य गरीयसः।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे।।

(शिशुपालवधे-२/२५)

(**तथा च**- परिभाषाऽपि लघ्वी भवति तस्या अपि भाष्यं क्रियते)-

परितः प्रमिताक्षराऽपि सर्वं विषयं व्याप्तवती गता प्रतिष्ठा।
न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित् परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा।

(तत्रैव-१६.८०)

वेदसंहितायाः भाष्यम्-

ऋषिं च देवतां छन्दः सूक्तं चाश्रित्य भाष्यते।
मन्त्राणां बहुधाऽन्वर्थं वेदभाष्यं सुधीवरैः।।७०।।

सायणवेङ्कटादीनां कृतं रम्यं विलोक्यते।
सातवलेकरादीनां हिन्द्यामपि च विद्यते।।७१।।

प्रसिद्धानां तदंशानां प्रायशः सुधियां कृतम्।
हिन्द्यामाङ्ग्ल्यां च भाषायां कृतं भाष्यं विराजते।।७२।।

कृतभाष्यं विलोक्यादौ भाष्ये कृतमतिर्बुधः।
स्वाधीतविषये सम्यग् भाष्यं कर्तुं हि कल्पताम्।।७३।।

भाष्येषु भेददृष्ट्याऽपि शोधः सम्भाव्यते क्वचित्।
यथा वेदान्तदृष्ट्या वै द्वैताद्वैतादिभिन्नता।।७३।।

प्रायः स्नातकस्नातकोत्तरकक्षासु पाठ्यक्रमे नियतानां मन्त्राणां व्याख्यासु स्वरनिर्देशो न दृश्यते। एवं कदापि न कर्तव्यम्। यतो हि स्वराङ्कनं विना वेदमन्त्रोच्चारणं साधु न भवति। स्वरापराधविषयकमुदाहरणं महाभाष्ये प्रथमाह्निके प्रदत्तम्। तद्यथा-

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।।'

अतो वेदमन्त्रपाठो भवतु वा तल्लेखनं तत्र स्वरसङ्केतविधिर्नूनं पालनीयः। महाभाष्यस्य प्रदीपटीकाकारो लिखति- तत्रेन्द्रस्य शातयिता

शमयिता भवेति क्रियाशब्दोऽत्र शत्रुशब्द आश्रितो न तु रूढ़िशब्दः, तदाश्रयणे हि बहुव्रीहितत्पुरुषयोरर्थाभेदः। तत्रेन्द्रामित्रत्वे सिद्धे सतीन्द्रस्य शत्रुर्भवेत्यत्रार्थे प्रतिपाद्येऽन्तोदात्ते प्रयोक्तव्य आद्युदात्त ऋत्विजा प्रयुक्त इत्यर्थान्तराभिधानादिन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्नः। इन्द्रशत्रुत्वस्य च विधेयत्वात्सम्बोधन-विभक्तेरनुवाद्यविषत्वादिहाभावः॥

५. समीक्षा

अन्तर्भाष्यं समीक्षा[१]स्ते राजशेखरसम्मता।
अर्थमुन्मील्य तं सम्यक् स्वानुभूत्या समीक्ष्यते।।७४।।

सन्निरीक्ष्य कृतिं तस्यां प्रस्तुतो विषयस्ततः।
लोकशास्त्रदिशा सम्यग् बुधैरस्यां विचार्यते।।७५।।

निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्।
ईक्षणस्य च पर्यायाः स्वयं तद्वृत्तिबोधकाः।।७६।।

समुपसर्गपूर्वत्वात्समभावैः समीक्षणम्।
ईर्ष्यानुरागराहित्यं कृतेर्मूल्याङ्कने वरम्।।७७।।

तत्त्वान्वेषी कृतीमूढः सज्जनश्च समीक्षकाः।
कालिदासमते[२]प्रोक्ता राजशेखरसम्मता[३]।।७८।।

---

१. अन्तर्भाष्यं समीक्षा, अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा। का.मी. अ. २

२. पुराणमित्येत्व न साधुसर्वं न चापिकाव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।। (मा.-१.२)
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। रघु.-१.१०

३. 'ते च द्विधाऽरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च-इति मङ्गलः। कवयोऽपि भवन्ति-इति वामनीयाः। चतुर्धा-इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च। तत्र विवेकिनः पूर्वं तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः इति वामनीयाः। अरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकी हि संस्कारशतेनापि रङ्गमिवकालिकां न ते न जहति। ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकितावृत्तिरेव' इति यायावरीयः।
-काव्यमीमांसाचतुर्थेऽध्याये।

शास्त्रे हि केवलानन्दे परस्य प्रत्यये ततः।
सदसतोर्विवेके च लग्ना एते यथाक्रमम्।।७९।।

न मित्रं नैव शत्रुर्वा समीक्षायां विचार्यताम्।
ताटस्थेन समीक्षा या सैव सर्वोत्तमा मता।।८०।।

६. आलोचना-

लोचनं लोचतेऽनेन लोचधातोर्ल्युडः पदम्।
पूर्वमाङुपसर्गेण चालोचनमितीरितम्।।८१।।

पर्यालोचयतीत्यर्थे लोचना लोचते हि सा।

सा लोचनाऽऽसमन्तात्स्यात् तदा साऽऽलोचना मता।।८२।।

प्रभावग्रहणं पूर्वं चास्यां विश्लेषणं ततः।
मूल्याङ्कनं तृतीयं स्यात्तत्त्वं निर्णयात्मकम्।।८३।।

प्रमातरि प्रभावो यः कृतेरध्ययने स्थितः।
तस्य प्रतिक्रिया व्यक्तिर्बुधैरालोचनोच्यते।।८४।।

आलोच्यार्थविशेषज्ञैर्मोहद्वेषादिवर्जितैः।
समर्थैः सदसद्व्यक्तौ सद्भिरेषा विधीयताम्।।८५।।

७. आलोचकलक्षणम्-

'सम्यग् विषयमालोच्य रहस्यं येन गद्यते।
आलोचक इति ख्यातः स सदा विदुषां मतः।।'

(शब्दार्थविमर्शग्रन्थे प्रो. अमरनाथपाण्डेयः)

'सहृदयलक्षणम्- येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। -ध्वन्यालोकलोचनेऽभिनवगुप्तः

शास्त्रे काव्ये समानास्ति समालोचनपद्धतिः।
शास्त्रे तत्त्वगता दृष्टिः काव्ये च कल्पनान्वितिः।।८६।।

मूलशास्त्रस्य सिद्धान्ते खण्डनं मण्डनं ततः।
सन्निवेशोऽपसारो वा शास्त्रे प्रस्तूयते बुधैः।।८७।।

वस्तु पात्रं रसो रीतिर्ध्वनिर्वक्रोक्तिरौचिती।
गुणाः सौन्दर्यमित्यादीन्यालोच्यान्यत्र सन्ति वै।।८८।।

सम्प्रति वस्तु देशं च पात्रं कालं परिस्थितिम्।
शोषणं वञ्चनादीनि ह्याश्रित्यालोच्यते बुधैः।।८९।।

आलोचनादिशा समीक्षादिशा वा शोधस्य स्थितिः–

व्युत्पत्तिदृष्ट्या सम्यगवलोकनमालोचना, आलोचनम् तथा च सम्यगीक्षणं समीक्षा निःशेषेणेक्षणं निरीक्षणम्। निरीक्षणे गुणदोषादिज्ञानं क्रियते। 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।' निरीक्षणशब्दो सम्प्रति लौकिककार्याद्यवलोकने रूढः। समीक्षाऽऽलोचनाशब्दौ शास्त्रकाव्यादिकृतौ विचारदिशा प्रयुज्यमानौ प्रायशः प्राप्येते। यथा महाकाव्यखण्डकाव्यमुक्तककाव्येषु परस्परमाकार दिशाभेदो दृश्यते तथैव समीक्षाऽऽलोचनयोरपि-चाकार-भेदो विलोक्यते। अतः समीक्षाऽऽलोचना च शोधौ स्तो न वेति विचारः क्रियते। प्रबन्धस्वरूप-विवेचने मया प्रोक्तम्-

'लघुदीर्घप्रबन्धेषु विधावस्त्वादिवर्त्मना।
खण्डकाव्यमहाकाव्यभेदवद् वर्ततेऽन्तरम्।

शोधपत्रं प्रबन्धस्य चैकांशाधृतमश्नुते।
युक्ताध्यायविभागैश्च प्रबन्धो लिख्यते परः।।'

प्रयागतः प्रकाशमानायां दृक्पत्रिकायां प्रायः प्रकाशिताः समीक्षा लघ्वाकारा अतस्ता ग्रन्थपरिचयात्मिका भवन्ति। एवमेव सागरतः प्रकाशितायां सागरिकापत्रिकायां दिल्लीतः प्रकाशितायां संस्कृतप्रतिभापत्रिकायाञ्चापि प्रायशः पत्रिकाया अन्तिमेंऽशे पुस्तकसमीक्षाः प्रकाश्यन्ते ता न शोधपत्ररूपाः।

अतः समीक्षा चतुर्धा भवति-१. पुस्तकपरिचयरूपा २. शोधपत्ररूपा ३. लघुशोधप्रबन्धरूपा ४. शोधप्रबन्धरूपा च।

यथा मुक्तकमपि काव्यं भवति किन्तु न प्रबन्धकाव्यं तत्कथ्यते तथैव लघ्वाकारत्वात्सङ्क्षिप्तरूपेण लिखिता पुस्तकपरिचयदात्री समीक्षा

शोधपत्ररूपेण न मान्या भवति किन्तु सूचनाप्रदानदृष्ट्या तस्या महत्त्वं भवति। पुस्तकसमीक्षायां ग्रन्थनाम, प्रणेतुर्नाम, विषयः, विधा तन्मूल्यं प्रकाशनसंस्थानाम प्राप्तिस्थानं, तदाकारः, तन्नावीन्यमित्यादीनि प्रतिपादनीयानि भवन्ति। परिचयात्मिका समीक्षा चेद् बृहदाकारा वर्तते यस्यां ग्रन्थस्य नूतनोन्मेषस्य गुणदोषप्रदर्शनपूर्वकं तदुपयोगितानिरूपणपूर्वकं वा न्यूनतमषष्ठ-पृष्ठादधिकं मौलिकं विवेचनं कृतं विद्यते तर्हि शोधपत्ररूपेण सा स्वीकरणीयेति।

सम्प्रति समीक्षात्मकमालोचनात्मकाध्ययनरूपेण लघुशोधप्रबन्धाः शोधप्रबन्धा अपि रच्यन्ते। अतः बृहद्रूपा समीक्षाऽऽलोचना वा विश्वविद्यालय-शोधसंस्थायाः शोधसमित्या वा ग्रन्थस्य शोधच्छात्रस्य च स्तरं दृष्ट्वा शोधप्रबन्धाय लघुशोधप्रबन्धाय वा स्वीक्रियते। सहस्राधिकाः शोधप्रबन्धाः सम्प्रति समीक्षात्मकानुशीलने-आलोचनात्मकानुशीलने वोपाधये स्वीकृता दृश्यन्ते। अतः समीक्षा शोधो नास्तीति कथनं न साधु। लघ्वीपुस्तकसमीक्षा नूनमेव शोधकोटौ न गण्यते। व्याख्याटीकासमीक्षासु भेदो न विद्यते। समीक्षाऽऽलोचने प्रायः समरूपे दृश्येते। व्युत्पत्तिदिशा भेदो विद्यते-सम्+ईक्ष्+टाप्=समीक्षा, आङ्+लोच्+लुङ् टाप्=आलोचना

सम्प्रति हिन्द्यामालोचना शब्दो निन्दाऽर्थेऽपि प्रयुज्यतेऽतः शोधदिशा समीक्षाशब्दप्रयोगो भवेदित्युचितं प्रतीयते।

६. वृत्तिर्वार्तिकञ्च

सूत्राणां पूर्णसारस्य स्फुटं विवरणं यया।
दीयते तत्त्वबोधाय सा वृत्तिः सर्वबोधिका।।९०।।

'तुल्यास्ये'ति च सूत्रस्य[१] वृत्तिस्'ताल्वादि'तो यथा।
केचित्तु कारिकाकाराः सन्ति वृत्तिकृतोऽपि ते।।९१।।

काव्यप्रकाशकारेण मम्मटेन कृता यथा।
वृत्तिविवरणं मन्ये शास्त्रस्यार्थावबोधने।।९२।।

---

१. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१.१.९) ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेदेतद्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

वृत्तौ ठक् प्रत्यये जाते वार्तिकमिति[१] कथ्यते।
उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ताकारि तु वार्तिकम्।।९३।।

कैश्चित्तु कारिकाकारैः स्वतः सङ्ग्रहकारिकाः।
लिख्यन्ते मूलबोधाय वृत्तिरूपाश्च ता मताः।।९४।।

सङ्ग्रहकारिकायाञ्च वार्त्तिके चाप्यपेक्षितम्।
सूत्रे च कारिकायां यन्नोक्तं तदपि कथ्यते।।९५।।

छाया-

मध्यकालिकभाषोक्ताः पालि-प्राकृतपङ्क्तयः।
संस्कृते तत्समैः शब्दैः प्रस्तूयन्तेऽत्र सूरिभिः।।९६।।

सामान्यानां च पात्राणां प्राकृतं संस्कृतीकृतम्।
सर्वेषां रूपकाणां वै विद्यते साम्प्रतं तथा।।९७।।

धम्मो>धर्मो यथा पालेः, उअ>पश्येति प्राकृते।
अपभ्रंशे यथाजातं शक्नोमीति च < शक्कमि।।९८।।

७. मीमांसा-

व्याख्यापद्धतिनिरूपणे मीमांसादर्शननिरूपणं ग्रन्थेऽस्मिन् विद्यते। मीमांसा चैकाऽर्थावबोधस्यापि प्रक्रिया विद्यते अतः पुनस्तच्चर्या क्रियते-

---

१. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः।।
तथा च महर्षिपाणिनिकृतसूत्रेषु कात्यायनेन (वररुचिना) कृतं वार्तिकं प्रसिद्धतमं वरीवर्ति। सम्भवतोऽयमेव वार्तिकस्य प्रवर्तकः।
(१) कुन्तकस्य वक्रोक्तिजीविते सङ्ग्रहकारिकाः सन्ति याभिः कारिकाया-मनुक्तमप्युक्तं दृश्यते। प्रथमोन्मेषे यथा-
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसौ।
अन्योन्यानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। अस्य संग्रहकारिका पदादिवाक् परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते।
(२) आधुनिककाले-आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदिनः (सनातनस्य) काव्यालङ्कार-कारिकायामपि सङ्ग्रहकारिकाः समायोजिता दृश्यन्ते।

मानविस्तर-इत्याख्ये धातो सन्निति योगतः।
विचारणेति मीमांसा दर्शनमपि कथ्यते।।९९।।

दर्शने ब्रह्ममीमांसा मीमांसाऽन्या च कर्मणः।
अर्थविस्तरतः सैषा विचारार्थेऽद्यसङ्गता।।१००।।

यथा यायावरेणास्या अर्थव्याप्तिः प्रमाणिता-

'इयं नः काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्।
इयं सा काव्यमीमांसा मीमांस्यो यत्र वाग्लवः।।

व्याकरोत्काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः।'

समग्रेण च तत्त्वोक्तिर्वेदाद्याधारमाध्यमैः।
विचार्यते सुधीमद्भिर्मीमांसेति च कथ्यते।।

व्युत्पत्या[१]चास्य शब्दस्य ह्यवबोधो यथा तथा।
परिभाषाऽपि चान्वर्था विद्यते नात्र संशयः।।

४. परिभाषा (लक्षणम्)

प्रमिताक्षरसम्प्रोक्ता विषयज्ञापिका परा।
सङ्क्षिप्ता सूत्ररूपा सा परिभाषा गरीयसी।।१०१।।

लक्षणं त्वसाधारणधर्मवचनम् यथा, गोः सास्नादिमत्वम् तर्कभाषायाम् महाभाष्यकारोऽपि-आक्षेपाणां समाधानं कुर्वन्-येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलक-कुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। महाभाष्यकारः परिभाषा स्वरूपमपि प्रतिपादयति-परिभाषा ह्येकदेशे स्थिताऽपि सर्वशास्त्रमभिज्वलयति। माघेनापि शिशुपालवधे (१६.८०) साधु प्रत्यपादि-

---

१. मीमांसते (विस्तरेण) विचार्यतेऽनवेति मीमांसा। अतः शास्त्रीयविषयस्य विचारेऽपिक्वचिन्मीमांसा शब्दः प्रयुज्यते।।

परितः प्रमिताक्षराऽपि सर्वं विषयं प्राप्तवती गता प्रतिष्ठाम्।
न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित्परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा।

व्याकरणशास्त्रे सूत्रप्रकारेष्वेकं परिभाषासूत्रम्–

'संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्।'

एषु परिभाषासूत्रम्-अव्यवस्थायां सुव्यवस्थासम्पादकम्- भवति। यथा-**आदेः परस्य, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।**

९.१ अनुशीलनम्परिशीलनञ्च

अनुशीलनम्-

शीलाद्भावे लुटोजातः शब्दो वै शीलनं श्रुतम्।
अनूपसर्गयोगत्वादभ्यासोऽस्ति निरन्तरम्।।१०२।।

मुहुर्मुहुरतोऽभ्यासैः शास्त्रकाव्यादिबोधतः।
विश्लेषणविधानं यत्तच्चैवास्तेऽनुशीलनम्।।१०३।।

यथाशास्त्रं हि तत्त्वं यत्करामलकवत् कृतम्।
तन्नवोन्मेषतश्चात्र प्रस्तुतीक्रियते बुधैः।।१०४।।

परिशीलनम्-

शीलनमस्ति शास्त्रादेरभ्यासः सततं परम्।
परितः शीलनं तच्चेत्परिशीलनमुच्यते।।१०५।।

केवलमेकशास्त्रस्य ह्यनुगं चानुशीलनम्।
अन्यैः शास्त्रैश्च संयुक्तं परिशीलनमुच्यते।।१०६।।

शुचौ चरितेशीलनमित्यमरः। तथा च काव्यमीमांसायां (पदवाक्यविवेके चतुर्थेऽध्याये) राजशेखरः व्यनक्ति–'अभ्यास इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। सा केवलं काव्य हेतुरिति यायावरीयः। (यायावरो राजशेखरः) ध्वन्यालोकलोचनेऽभिनवगुप्तः

सहृदयस्य (अध्येतुः पाठकस्य भावकस्य वा) स्वरूपं प्रतिपादन् लिखति- 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-भवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। एवं कस्यचिदपि ग्रन्थस्य मुहुर्मुहुरध्ययनमनुशीलनं कथ्यते।

१०. विवृतिः-

विपूर्वकस्य वृ धातोः क्तिन् प्रत्ययसमागमे।
विवृतिर्विस्तरेऽर्थस्य प्रयुक्ता दृश्यते बुधैः।।१०७।।

वस्त्रावरणराहित्ये क्लीबे च विवृतं पदम्।
वागङ्गोद्घाटनं चापि विवृतं स्वरनिर्गमे।।१०८।।

शक्तिगृहेऽर्थसंज्ञाने विवृति[१]र्गणिता बुधैः।
व्युत्पत्तावितिहासादेः सङ्केतश्चात्र जायते।।१०९।।

'ज्योतिरत्रेरिवे[२]'त्यादौ चन्द्रबोधोऽनया समैः।
विवृत्या मल्लिनाथस्य रघुवंशेऽवगम्यते।।११०।।

एकाधिकैश्च शास्त्रैर्वै विवृतिः क्रियते बुधैः।
शास्त्रैकस्मिन् समायुक्ता वृत्तिस्तत्त्वावबोधिनी।।१११।।

नाट्ये वृत्तिः[३] प्रवृत्तिश्च भाषाऽभिनयवेशतः।

---

१. शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।।

२. अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः।
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।। (रघुवंश २.७५)
अत्र-अत्रिमहर्षेर्नयनसमुत्थं ज्योतिर्महाकविना कालिदासेन व्यलेखि। 'चन्द्र' इति ज्ञानं टीकाकर्तुर्मल्लिनाथस्य विवृत्या ज्ञायते। एवमेव नैषधीयचरिते (श्रीहर्षस्य) बालरामायणे (राजशेखरस्य) अभ्युक्तयो विवृत्यैव ज्ञायन्ते। अतः सङ्केतग्रहनिरूपणे विवृतेरपि परिगणना कृता। एवमवबोधप्रविधौ विवृतिरपि केति शोधच्छात्रैर्ज्ञातव्या।

३. वृत्तिः सर्वथा पृथक् शब्दस्तथापिच्छात्राणां भ्रान्तिनिवारणाय तदुल्लेखोऽयं कृतः।

विचार्यते हि नाट्यस्य तत्त्वबोधे यथायथम्।।११२।।

११. अवेक्षणम्-

रचनायां पदाधानं नोपयुक्तं ततः पदम्।
समुद्धृत्य पुनस्तस्य पदाधानमवेक्षणम्।।११३।।

अवेक्षणं परीक्षास्ते कृतेः सम्यङ्निरीक्षणम्।
विमर्शः क्रियते चास्मिन् दृशा पदपदार्थयोः।।११४।।

तद्यथा-'पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्। काव्यालङ्कारसूत्रम् वामनस्य-१.३.१२

पदाधानं न्यासः, उद्धरणमपसारणम्, तयोः खल्ववेक्षणम्। तत्र श्लोकौ-

आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।।

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।।

कः पुनः पाकः सुपतिङां श्रवः (प्रि?) या व्युत्पत्तिः।
सौशब्दमेतत्। पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः।।

का.मी. राजशेखरः अ.५

१२. तात्पर्यम्-

तत्परस्य च भावो यस्तात्पर्यं हि ष्यञान्वितम्।
वक्तुरुक्तेरभिप्रायस्तात्पर्यमिति कथ्यते।।११५।।

आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिवशात्पदसमन्वये।
अपदार्थोऽपि वाक्यार्थस्तात्पर्यार्थो भवत्यसौ।।११६।।

यः शब्दो यत्परः प्रोक्तः स शब्दार्थोऽत्र मन्यते।
इषोर्व्यापारवच्चात्र दीर्घदीर्घतरा गतिः।।११७।।

मीमांसकमतं चैतच्छास्त्रस्यार्थविचारणे।
तात्पर्यार्थं न मन्यन्ते साहित्ये व्यङ्ग्यवादिनः।।११८।।

तात्पर्यमाशयस्यापि ह्यर्थे प्रायः प्रयुज्यते।
शास्त्रव्याख्या प्रसङ्गेऽपि तात्पर्यमाशयार्थकः।।११९।।
कोषे तत्परशब्दोऽयं प्रसक्तार्थः ष्यञा विना।
-तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः।

तत्परस्तत्कालस्य (१.१.७०) इति सूत्रे तत्परः पदं वर्णदिशा प्रयुक्तम् एतेन पदेन तः परो यस्मात्स च तात्परश्चोच्चार्यमाणः समकालस्यैव संज्ञाबोधकः। अदेङ्गुणः (१.१.२) इति सूत्रे एङ् पदमस्ति, एङ्तकार-परेऽस्ति-अतः 'ए' 'औ' च समकालस्य बोधकौ स्तः। अर्थाद्दीर्घौ (द्विमात्रकौ) 'ए' 'औ' चेत्यनयोर्गुणसंज्ञा न तु त्रिमात्रचतुर्मात्रयोः। अत्र तत्परपदस्यायमाशयः। तात्पर्यपदे 'तत्' शब्दः सर्वनामेति रूपेण प्रयुक्तो न तु वर्णरूपेण। भवतुनाम तत्कालपूर्वोक्तेनैव-अत्रापि सम्बद्धता। सामान्यवाक्ये प्रयुक्तस्य तात्पर्यशब्दस्यापि तत्कालकथनानन्तरं य आशयो लभ्यते सोऽपि तात्पर्यरूपेण गृह्यते न त्वन्यत्र कथनस्य तात्पर्यं गृह्यते। मन्ये तात्पर्य-मित्यस्य-आशय इत्यर्थे प्रयोगः पाणिनेः-'**तत्परस्तत्कालस्य** (१.१.७०) इति सूत्रादेव लोकव्यवहारेऽद्य प्रचलितोऽस्ति।

---

१. श्रीमद्भागवते विमर्शनशब्दप्रयोगो यथा-
कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।।
अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम्।।६.१.११।।
वस्तुतः कर्मणैव कर्मणो निर्बीजं नाशो न भवति। यतो हि कर्मणोऽधिकारी-अज्ञानो भवति, अज्ञाने सति पापवासनाः सर्वथा नष्टा न भवन्ति। अतोवास्तविकं प्रायश्चित्तं तत्त्वज्ञानं (शास्त्रविमर्शः) अस्ति। एवं सच्छात्रेषु विमर्शकरणेन क्षेमप्राप्तिर्भवति। अत्रैव द्वितीयतो विंशतिश्लोकं यावत् तपोब्रह्मचर्यशमदमादीनां वर्णनं कृत्वा भगवद्भक्तिं निरुपयति शुकदेवः-
सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः।। (६.१.१९)
अत्र राज्ञा परीक्षिता सह शुकदेवस्य विमर्शः।

१३. विमर्शः

विमृशेति घञा सिद्धो विमर्शोऽसौ विचारणा।
उन्नयनं वितर्कः स्यात् परामर्शो विमर्शनम्[१]।।१२०।।

वक्तुः श्रोतुर्मिथः कस्मिन्नपि तथ्ये विचारतः।
निष्कर्षनिश्चितिं कर्तुं विमर्शोऽयं विधीयते।।१२१।।

वेदोपनिषदां प्रायः पुराणानां च वर्णने।
प्रश्नोत्तरविधानेन विमर्शो दृश्यते परः।।१२२।।

वाङ्मयस्य रहस्यानां समुन्मीलयितुं स्वतः।
स्वाधीतविषये नूनं विमर्शः क्रियते क्वचित्।।१२३।।

साहित्यस्य विमर्शे[१] मे ग्रन्थे चैवं विमर्शतः।
निबन्धाः प्रस्तुताः सर्वे विज्ञाः पश्यन्तु तां कृतिम्।।१२४।।

१४. टिप्पणी-

टिपूधातधोर्लुटि प्राप्ते ङीपि स्त्रीप्रत्यये कृते।
टिप्पणी स्वल्पशब्दोक्तिर्विशिष्टार्थावबोधिका।।१२५।।

प्रायशष्टिप्पणी शब्दोऽधुना लोके प्रयुज्यते।
तस्यार्थोऽपि तथैवाद्य विद्वद्भिरपि गृह्यते।।१२६।।

ग्रन्थसम्पादने प्रायो दीयते पादटिप्पणी।
प्रतिरूपीयपाठानां भिन्नत्वं प्रतिपाद्यते।।१२७।।

क्वचिन्नैजं मतं वात्र ह्यन्यैश्च प्रस्तुतं क्वचित्।
भेदाभेदविचारार्थं सङ्क्षेपेण विलिख्यते।।१२८।।

१५. पदकृत्यम्-

प्रयुक्तं यत्पदं शास्त्रे तत्कृत्यं वै प्रयोजनम्।
पदसङ्गतियुक्तित्वं पदकृत्ये निगद्यते।।१२९।।

---

१. सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयतः प्रकाशितोऽयं ग्रन्थः।

इदमेव पदं कस्माच्छात्रकारेण योजितम्।
एवं विचार्य चास्मिन् वै पदस्फोटो विधीयते।।१३०।।
पदकृत्यं कृतं रम्यं ग्रन्थे वै तर्कसङ्गहे।
महाभाष्ये निरुक्ते च प्राय एष विधिः श्रितः।।१३१।।

१६. अर्थः

वाक्यं श्रुत्वा पठित्वा वा यत्किञ्चिदवभासते।
तदेवार्थो हि वाक्यस्य यः सन्दर्भेण सङ्गतः।।१३२।।
वाच्यो लक्ष्यस्तथा व्यङ्ग्यस्त्रिधा साहित्यवाङ्मये।
मीमांसादिषु वाच्यार्थस्तात्पर्याद् बहुधाऽश्नुते।।१३३।।
सामान्यतोऽनुवादोऽद्य ह्यर्थरूपेण कथ्यते।
तदर्थे ह्यद्य चार्थोऽपि ह्यनुवाद इतीर्यते।।१३४।।
आशयश्चाभिधेयश्च ह्यभिप्रायः प्रयोजनम्।
पुरुषार्थो द्वितीयश्च वाग्भेदे भाति मध्यमा।।१३५।।

शब्दार्थविषये वाक्यपदीयकारोक्तिः –

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।' १.१

पाणिनीयशिक्षायाम्–

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसिच्चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।'
वाग्विद्भिः प्रक्रिया ह्येषा प्रोक्ता शब्दार्थयोः परा।
यया शब्दार्थयोः सम्यक् संस्थितिश्चावगम्यते।।१३६।।
धातूनां प्रत्ययानाञ्च ह्युपसर्गसमृद्धितः।
समाभिव्यक्तिसामर्थ्यं संस्कृते परिदृश्यते।।१३७।।
व्याकरणस्य वैशिष्ट्यादल्पैरेवाक्षरैर्बुधैः।
अन्यभाषानुवादोऽस्यां यथार्थं संविधीयते।।१३८।।

शब्दद्वयेन यद्वाक्यं साध्यते ह्यन्यभाषया।
गच्छाम्यत्र समुच्चारे कर्ताऽहं संस्कृतेऽन्वितः।।१३९।।
अनुवादः परः सम्यक्संस्कृतेनैव साधितः।
प्रज्ञावद्भिरनेकासां कृतीनां साधु विद्यते।।१४०।।
कामायनी प्रसादस्य तुलसीदासमानसम्।
उमरखय्यांकाव्यं च मधुशाला बच्चनस्य च।।१४१।।
गुरुदेवरवीन्द्रस्य गीताञ्जलिरनूदिता।
कबीरस्य च दोहाश्च सतसईबिहारिणः।।
कृष्णायनान्तिमः सर्गो ग्रन्थाश्चान्येऽप्यनूदिताः।।१४२।।

प्रबन्धनिरूपणे वाक्यादि स्वरूपमपि मया प्रत्यपादि। सुप्तिङन्तं पदं भवति। पदैरेव वाक्यनिर्मितिर्भवति येनार्थबोधो भवति। पदानां पञ्चवृत्तयो भवन्ति-कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपा पञ्चवृत्तयः। मीमांसाशास्त्रं वेदमाधृत्य प्रवर्तते। अतः - वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति रूपेणार्थस्य स्थितिं प्रतिपादयति। कवयोऽभिप्रायः शब्दार्थविषये व्यङ्ग्याव्यङ्ग्याभ्यां स्वविचारं प्रकटयन्तो दृश्यन्ते। यथा-कालिदासः-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। रघुवंशे-१.१

कालिदासो शब्दार्थौ न कथयति यतो हि ऋग्वेदे **'मधुवद्वचोऽशंसीत् काव्यः कविः** (८.८.११) इत्येवं काव्याधिकरणं वचः प्रोक्तम्। वचसि परापश्यन्तीमध्यमावैखरीतिरूपा चतुर्विधा वागेवोन्मेषानुभूतौ ह्यन्विता भवति। **तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वमिति** तेनैवोक्तत्वात्। अर्थसन्निवेशदिशा भारविणा प्रोक्तम्-

सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्।
स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतपृथगर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्।।
(किरात०-२.२६)

अनेकार्थप्रतिपादनाय श्लिष्टपदानि प्रयुज्यन्ते कविभिः। यथा-**आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्?** (नैषधे ३.६९) माघोऽपि **शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।'**

इत्येवं कथयति (शिशु.-२.८६) अर्थविषयेऽनेकेषां शास्त्रकाराणां कवीनां कथनानि दृश्यन्ते विस्तरभयादत्र नोद्धृयन्ते। जिज्ञासूनां कृते दिङ्मात्रनिर्देशोऽत्र प्रेरणार्थं प्रदत्तः। कवीनां भाषाविषयको विचारः मम साहित्यविमर्श-ग्रन्थेऽवलोकनीयः।

संस्कृतव्याकरणेऽर्थयुक्तशब्दानां विशिष्टं विवेचनं कृतमस्ति। अर्थवन्तः शब्दा प्रतिपादिकाः कथ्यन्ते। प्रातिपदिकसंज्ञाविधायके द्वे सूत्रे वर्तेते ते चैवम्-

१. **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकम् तथा च कृत्तद्धित-समासाश्च।** अनयोः सूत्रयोः प्रातिपदिकसंज्ञा भवति। रामादिशब्दानां सुपादिप्रत्ययै- र्विभक्तिवचनपरिवर्तनेनार्थपरिवर्तनमपि भवति। उपसर्ग-संयोगतोऽप्यर्थपरिवर्तनं भवति। एतादृशो व्यापकरूपेण विचारः कस्याऽपि भाषायां न प्राप्यते। आङ्ग्लभाषायामेतदर्थम्-MORPHOLOGY (मॉर्फालॉजी) इति कथ्यते। आङ्लभाषा तादृशीसमृद्धा व्याकरणादिनियमेन दृढं सम्बद्धा न विद्यते। संस्कृतवाङ्मये शब्दविचारेऽर्थविचारोऽपि सन्निहित इति, शब्दब्रह्मार्थभावेन विवर्तत इति भर्तृहरिमतं स्फुटमेव।

१७. दीपिका-

दीपिकानाम्नाऽपि कैश्चिच्छात्रावबोधाय प्रयासोऽकारि। अतोऽवबोध-प्रविधिदिशा तस्या अपि स्वरूपं प्रतिपाद्यते। दीप्यते प्रकाश्यते शास्त्रार्थोऽनयेति दीपिका।

अन्धकारे स्थितं वस्तु यथा दीपेन काश्यते।
तथा शास्त्रगतं तथ्यं दीपिकया वितन्यते।।१४३।।

युक्तितात्पर्यतत्त्वादि पूर्वपक्षमयी क्वचित्[१]।
दीपिका लिखिता कैश्चिच्छास्त्रविज्ञैश्च सूरिभिः।।१४४।।

---

१. यथा-मेघदूते जगद्धरस्य-रसदीपिका, कमलाकरस्य-शृङ्गारसदीपिका, साङ्ख्य-कारिकायां युक्तिदीपिका, महाभारते ज्ञानदीपिका। एवं प्रो० प्रभुनाथद्विवेदिना स्वशोधप्रविधिग्रन्थे प्रतिपादितम्। अनेन विदुषा मेघदूतस्य टीकानां सम्पादनमपि व्यधायि।

१८. फक्किका–

शब्दकल्पद्रुमे फक्किकाविषयेविवेचनमेवमस्ति–

फक्किका 'स्त्री'-फक्क+धात्वर्थनिर्द्देश्ये ण्वुल् वक्तव्यः।

इति वार्त्तिकोक्त्या ण्वुल् टापि अत इत्वम्।

तात्पर्यायः चोद्यम्, देश्यम्, पूर्वपक्षः-इतिशब्दरत्नावली।

यथा-नैषधे-फणिभाषितभाष्यफक्किका विषया कुण्डलनामवापिता। २.९५

न्यायसम्बन्धिव्याख्या-यथा

श्रीमता मथुरानाथतर्कवागीशधीमता।
विषदीकृत्य दर्श्यन्ते द्वितीयामपि फक्किकाम्।।

–इति–अनुमानखण्डटीकाकरणे मथुरानाथः

श्रीहर्षस्य पूर्वोद्धृतपद्ये नारायणटीकायां–फणिभाषिता शेषोक्ता भाष्य–फक्किकाग्रन्थस्तद्वद् विषया दुर्ग्रहा शेषव्यतिरिक्तेन ज्ञातुमशक्या। यथा भाष्यफक्किका वररुचिना कुण्डलितेति प्रसिद्धिः। एवं विशिष्टशास्त्रार्थमयी रचना फक्किका कथ्यते। इयं विशिष्टविदुषां कृत एवावबोधगम्या।

१९. पञ्चिका–

पञ्चि+स्वार्थे कन्+टाप्=पञ्चिका। तूलनालिका, टीकाविशेषः यथाह हेमचन्द्रः–

टीकानिरन्तरव्याख्या पञ्चिका पदभञ्जिका। शास्त्रे प्रयुक्तपदानां विभाजनकर्त्री पञ्जिकेति कथ्यते। पञ्जिकाशब्दोऽपि प्राय एतदर्थमेव प्रयुज्यते–राजशेखरेण काव्यमीमांसायां प्रोक्तम्–**विषमपदभञ्जिका पञ्जिका।**

दैवज्ञाः पञ्चाङ्गकृतेऽपि क्वचित् पञ्चिकेति कथयन्ति।

तद्यथा–

वारो हरति दुःस्वप्नं नक्षत्रं पापनाशनम्।
तिथिर्भवति गङ्गाया योगः सागरसङ्गमः।।

करणं सर्वतीर्थानि श्रूयन्तां दिनपञ्चिका।

निःशेषपदव्याख्यात्री, तिथिवारादिज्ञापिका, आयव्ययलिखनार्था पञ्जिका (रजिस्टर-इति) अमरकोशे। अवबोधप्रविधिदिशा प्रत्येकपदविश्लेषण-विधानरूपा पञ्चिका पञ्जिका वा भवति।

चूर्णिः-

कठोरान्नं यथा पिष्ट्वा चूर्णीकृत्वोपभुज्यते।
तथा वाक्यं विभज्यार्थो बोधगम्यो विधीयते॥१४५॥

सत्तुर्यथाजलेनापि सारल्येनोपभुज्यते।
तथा चूर्ण्याऽल्पशास्त्रज्ञः शास्त्रज्ञाने प्रकल्पते॥१४६॥

चूर्णशब्द इन् प्रत्ययात् स्त्रीलिङ्गे चूर्णिरिति। चूर्णयति खण्डयति-अशेषपण्डितानां तर्कमिति। चूर्ण+सर्वधातुभ्य इन् (उणा. ४.११०) इति इन् पातञ्जलमहाभाष्यम् (व्याकरणग्रन्थः) चूर्णिका (स्त्री०) चूर्णः क्षोदोऽस्यास्तीति। चूर्ण+'अत इनिठनौ' (५.२.११५) इति ठन्। चूर्णशब्दस्य भूरिप्रयोगः। यथा चणकयवादिकं पिष्ट्वा पक्वभोजनसामग्रीसदृशं कुत्रापि भोक्तुं शक्यते तथैव क्लिष्टव्याकरणादिशास्त्रसूत्राणां भाष्येण (सरलशब्दैर्व्याख्यानेन) सद्य एवावबोधगम्यता साध्यते। बिहारे काश्चन 'तुरन्ता भोजनालये'ति पट्टिका दृश्यते, तत्र सक्तूनां परिवेषणं भवति। अतः चूर्णिश्चूर्णिकेति शब्दौ सरलभाष्यार्थे प्रयुज्यमानौ वर्तेते। सम्भवतो व्याकरणभाष्यमस्यावबोधप्रकारस्य प्रथममुदाहरणम्। अतो भाष्यं चूर्णिः कथ्यते। भाष्यविवेचनं ग्रन्थेऽस्मिन् पूर्वं कृतमस्ति।

साहित्य के अध्ययन अवबोध की प्रविधियाँ–

नूतन कवियों (साहित्यकारों) द्वारा प्रणीत रचनाएँ यदि प्राचीन शिल्प पर आधारित हैं तब प्राक्तन काव्यशास्त्र की दृष्टि से ही उनका अध्ययन और शोध उचित है, किन्तु नवीन दृष्टि से प्रणीत उपन्यास अथवा महाकाव्य, खण्डकाव्य, टुप् कथा, स्पश् कथा, यात्रावृत्तान्त आदि के समीक्षण में प्रतिपद टीका व्याख्यादि की परम्परा मल्लिनाथ, नारायण वल्लभदेव और हेमाद्रि की तरह आज नहीं है। यद्यपि आज भी आचार्य

रमाकान्त पाण्डेय सदृश आचार्य प्राचीन शिल्प 'अलिविलाससंलाप' जैसी कृति को पूर्वाचार्यों की तरह व्याख्या करते हुए पाए जाते हैं। **'समीक्षा'** और **'अनुशीलन'** जैसे शब्द संस्कृत व्याकरण की व्युत्पत्ति की दृष्टि से सही है। इनका प्रयोग भी संस्कृत वाङ्मय में अनेकधा उपलब्ध है। शब्द कल्पद्रुम में श्रीमद्भागवत का प्रयोग उद्धृत है। ध्वन्यालोक की लोचन टीका में अभिनव गुप्त ने भी अनुशीलन शब्द का प्रयोग किया है–**'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन् योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः'**

इस प्रकार विचार, विमर्श और अनुभूति के सन्दर्भ में इन शब्दों का प्रयोग प्रचलित था इसमें सन्देह नहीं है किन्तु आङ्ग्ल भाषा के 'क्रिटिकल स्टडी' के अनुवाद के रूप में विशेष रूप से हिन्दी के शोधप्रबन्धों में इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। अतः प्रायः संस्कृत के शोधप्रबन्धों में भी इनका प्रयोग हो रहा है। वस्तुतः वर्तमान में इन शब्दों का प्रयोग उचित प्रतीत हुआ, अतः हिन्दी शोधप्रबन्धों को देखकर इनका अनुकरण संस्कृत शोधप्रबन्धों में भी हो रहा है तथापि समीक्षा (समीक्षण) और अनुशीलन की दृष्टि से संस्कृत की कृतियों के शोध प्रबन्धों में पात्रचित्रण, वस्तुविन्यास, रसभावादि, गुणालङ्कारादि, सन्धि-सन्ध्यङ्ग निरूपण में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का ही सहारा लिया जाता है। शास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक, सांस्कृतिक, पर्यावरणीय और समाजशास्त्रीय अध्ययनो में भारतीय प्राक्तन शास्त्रों और पश्चात्य पद्धतियों का भी सहारा लिया जाता है जो अनुचित नहीं है।

प्राक्तन और नवीन प्रवृत्तियाँ संस्कृत साहित्य में प्रवर्तमान हैं, अतः मैंने अपने ग्रन्थ साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि में साहित्य के अवबोध प्रकारों का आधुनिक रचनाओं की समीक्षा, आलोचना के लिए भी निरूपण किया है। इनकी परिभाषाओं को दृष्टि में रखकर साहित्यिक रचनाओं का यथायोग्य मूल्यांकन किया जा सकता है। यह भी ध्यातव्य है कि साहित्यकार मौलिक रचना करता है। अतः एक निश्चित मानदण्ड

पर आधारित रहकर सभी की उचित समीक्षा नहीं की जा सकती। अतः समीक्षक को नई रचना के मूल्यांकन के लिए स्वयं के विवेक का भी उपयोग करना चाहिए। जैसा कि कालिदास ने कहा है–**'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'।** यह भी ध्यान रखना है कि शास्त्रविरुद्ध अभारतीय, असंस्कृत प्रयोगों को महत्त्वहीन बताने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि के द्वितीय भाग में साहित्यबोधक प्रकारों का निरूपण है उसके साथ विषयभेद की दृष्टि से अन्य प्रकार भी यहाँ निरूपित किए गए है–

'अनुवाद टीका, व्याख्या, भाष्य, समीक्षा, वृत्ति, विवृत्ति, छाया, मीमांसा, अनुशीलन, अवेक्षण, विमर्श, आलोचना, परिशीलन, तात्पर्य, पदकृत्य, टिप्पणी और अर्थ दीपिका, पञ्चिका, चूर्णि, फक्किका और पद्धति' इन प्रविधियों की प्रायः प्राक्तन विद्वानों ने परिकल्पना की है॥१-३॥

अनुवाद–**'अनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक् पञ्जरस्थः'।** ऐसे प्रयोगों में किसी वाक्य का ज्यों का त्यों उच्चारण करना जैसे शुक सीता-राम कहने पर वही उच्चारण करता है। प्राक्तन संस्कृत में यही अर्थ भी है किसी वाक्य को ठीक उसी प्रकार कहना। किन्तु लोकव्यवहार में तथा परीक्षाओं में किसी अंश का विना विशेष तात्पर्य बताए उसके अर्थ को बताना अनुवाद है। कारिकाओं का अर्थ इस प्रकार है– मूल लेखक के भाव की रक्षा करते हुए उसी भाषा में अथवा अन्य भाषा में अनुवाद किया जाता है॥१॥

अनुवाद में अन्य भाषा में मूल कथ्य का विना तोड़-मरोड़ के परिवर्तन किया जाता है इसमें तात्पर्य का विन्यास नहीं किया जाता है॥२॥

भाषा की प्रकृति की रक्षा भी अनुवादक को करनी चाहिए। जैसे हिन्दी में यदि 'ने' का प्रयोग किया गया है तो संस्कृत में कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग करना चाहिए।

टिप्पणी

'ने' की उत्पत्ति तृतीया विभक्ति से हुई है। बालकेन का बालक ने हो गया है 'गच्छन्नस्ति' का अनुवाद 'जा रहा है' होगा। 'जा रहा था' का अनुवाद होगा 'गच्छन्नासीत्'। इस प्रकार हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं की प्रकृति की रक्षा करनी चाहिए॥

टीका मूलरचना के शब्दों पर टिप्पणी करते हुए उनके यथासंभव उचित अर्थों का उन्मीलन करना जो ग्रन्थ सम्मत हो उसे टीका कहते हैं॥१॥

इसलिए टीका में शब्दों की व्याकरण के नियम के अनुसार व्युत्पत्ति भी बताई जाती है इसलिए शास्त्रों का उद्धरण देकर अर्थ को सुस्पष्ट किया जाता है। ऐसा प्रायः प्राक्तन टीकाकार मल्लिनाथ आदि करते हैं॥२॥

टीका में क्लिष्ट शब्दों और सन्दर्भों की समन्विति उनकी व्युत्पत्ति के आधारसूत्रों को उद्धृत कर की जाती है जिससे धातु प्रत्यय आदि का सम्यक् अर्थबोध हो जाता है॥३॥

रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और प्रयुक्त छन्द और लक्षण के अनुसार पद्य की टीका में सम्यक् रूप से प्रतिपादित किया जाता है॥४॥

जैसा की प्रशस्त टीकाकारों की अभ्युक्तियाँ हैं–

यहाँ मैं अन्वय (पद्यों में क्रिया और शब्द आगे पीछे रहते हैं उन्हें पहले कर्ता के विशेषण व कर्ता फिर कर्म तब क्रिया की क्रमबद्ध रूप में करने की प्रक्रिया को अन्वय कहते हैं[१]) को प्रस्तुत कर तब मैं उसी क्रम से व्याख्या कर रहा हूँ। यहाँ मूल रूप से ग्रन्थकार ने जो कहा है उससें भिन्न कुछ नहीं लिख रहा हूँ तथा जो अपेक्षित नहीं है उसे नहीं बताता हूँ। मल्लिनाथ (रघुवंशादि के टीकाकार) जो कवि की विस्तृत कल्पना के सही अर्थ की मंजूषिका है जो सही अन्वय के विविध अर्थों

१. विशेषणयुतः कर्त्ता ततः कर्म क्रिया क्रमः।
पदान्वयेऽनुवादादौ क्रियते विदुषां वरैः॥

की विशिष्ट अवबोधिका है, विशिष्ट विद्वानों के संशय को दूर करने वाली है, जो उदाहरणों की योजना से सहृदयों को आह्लादित करने वाली है ऐसी उदाहरणचन्द्रिका टीका मैं वैद्यनाथ प्रस्तुत कर रहा हूँ। –काव्य प्रकाश के प्रदीप टीकाकार जहाँ प्रतिभाशाली लोगों में (ज्ञान के) संचार को फैलाकर (अर्थ के) संदेहों को दूर करते हुए शीघ्र ही पारंगत कर देती है विषम ज्ञात वृक्ष समूह से घिरे जंगल में मार्ग प्राप्त करने के समान तर्क के पथ पर यथेष्ट गमन कराने वाली मेरी मति है- काव्य प्रकाश की टीका प्रकाश, के रचयिता माणिक्य चन्द्र काव्य प्रकाश की टीका यह जो मैं कर रहा हूँ वह दुर्बोध स्थलों में अनुप्रवेश कराने वाली है, इसे मैं विश्वनाथ कर रहा हूँ। आचार्य विश्वनाथमहापात्र।

व्याख्या–

व्याख्या में कथ्य का तात्पर्य पदच्छेद अर्थ प्रतिपादन और पदों के उचित विग्रह द्वारा किया जाता है, वाक्य योजना पर आक्षेप और समाधान भी कभी-कभी करना अपेक्षित होता है॥१॥

व्याख्या छिपे अर्थ को सुबोध बनाती है लुप्त अर्थ का उन्मीलन करती है शास्त्र जो साररूप में कहा गया है, उसे विस्तृत करती है वस्तुतः व्याख्या मूल में प्रयुक्त शब्दों को समानार्थक शब्दों में उसके अर्थ को स्पष्ट करती है॥२॥

साहित्य से भिन्न विषयों की व्याख्या का संक्षित स्वरूप इस प्रकार है–

व्याकरण शास्त्र–

पदों का विच्छेद, पदार्थों का कथन (पद-सुबन्त सु, औ, जस् आदि) उनके विग्रह, उनके वाक्यों का संयोजन, पूर्वपक्ष उन पर की गई आपत्तियों का समाधान करना व्याकरणशास्त्र में विशेष रूप से ध्यातव्य होते हैं। साहित्य में शब्दों (पदों) और अर्थों की स्थिति इस प्रकार है–

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

– आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति जीवित

न्यायशास्त्र–

उद्देश (वस्तु के नाम का कथन) फिर उसका लक्षण किया जाता है फिर उस लक्षण का सम्यक् रूप से परीक्षण किया जाता है अर्थात् लक्षण में कोई दोष नहीं, यह देखा जाता है। न्याय में तत्त्वज्ञान के लिए तीन प्रकार की स्थितियाँ होती हैं– तत्त्व कहा जाता है उसके नाम को। न्यायसूत्र में सोलह तत्त्व बताए गए हैं जिनके सम्यक् ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, सिद्धान्त, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह तत्त्व न्यायसूत्र में प्रतिपादित हैं। लक्षण कहा जाता है असाधारण धर्म के कथन को जिससे तत्त्व का यथार्थ स्वरूप चिह्नित होता है। जो लक्षण किया है उसी की उपपत्ति पर विचार करना ही परीक्षण कहा जाता है॥५॥

प्रमाणों द्वारा अर्थतत्त्व की परीक्षा को न्याय कहा जाता है। न्यायशास्त्र में विद्वान् उसके अर्थतत्त्व की व्याख्या करते हैं॥६॥

प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण, और प्रमेय ये चार अर्थतत्त्व के निर्धारण में सहायक होते हैं अतः इन चार विधाओं की दृष्टि से न्याय के सिद्धान्तों अथवा सूत्रों की व्याख्या की जाती है॥७॥

वेदान्तशास्त्र–

वेदान्त दर्शन में ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् ग्रन्थों के प्रतिपादित सूत्रों में प्रतिपादित तत्त्वों के पदों का विभाजन कर उनके पदों के अर्थों का पारस्परिक सम्बन्ध अवधारित किया जाता है॥७॥

इस प्रकार शङ्कराचार्य की व्याख्याओं में प्रतिपादित ब्रह्माद्वैत पर विचार किया गया है जिसे शांकर वेदान्त भी कहा जाता है। द्वैतवेदान्त

और अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से व्याख्याभेद भी होता है। रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य आदि भी वेदान्त दर्शन के ही व्याख्याकार हैं इनकी व्याख्याओं में इनके मतों को उन्मीलित करना चाहिए। टीकाकार क्योंकि मूलग्रन्थ के प्रणेता के मन्तव्यों की पुष्टि और उसके अवबोध के लिए प्रवृत्त होता है अतः यदि टीकाकार मूल लेखक के मन्तव्य से सहमत नहीं है तब उसे अलग से टिप्पणी देनी चाहिए टीका में अपना मत डालना उचित नहीं होता। ऐसा ही वाचस्पति मिश्र आदि ने किया है॥८॥

काव्यशास्त्र–

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्रायः आचार्यों के काव्यस्वरूप प्रतिपादन में काव्यभाषा और आह्लादक तत्त्वों को वे अपनी दृष्टि से आरेखित करते दिखाई देते हैं। उसी के एक-एक घटक की व्याख्या में ग्रन्थ की निर्मिति करते दिखाई देते हैं। काव्यशास्त्री काव्यस्वरूप प्रतिपादन में अपने ग्रन्थ की रूपरेखा ही प्रस्तुत करते हैं यथा–

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तस्यापकर्षकाः।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः॥'

यह कारिका आचार्य विश्वनाथ के साहित्यदर्पण की है। ध्यातव्य है कि प्रथमतः वाक्य के निरूपण में शब्द, अर्थ, शब्द शक्तियों का ही निरूपण वहाँ किया गया है पुनः अन्य घटकों का निरूपण है। पूरे ग्रन्थ की व्याख्या करने में किसी भी घटक काव्य की भाषा में प्रयुक्त शब्दार्थों की टीका उसी से सम्बद्ध करनी होती है क्योंकि वहाँ प्रयुक्त शब्द रस, ध्वनि, अलंकार, रीति की दृष्टि से रखे गए हैं। भले ही अभिधा की दृष्टि से कोई अर्थ निष्फल रहा हो भले ही काव्य में वह विपरीत या भिन्न अर्थ वाला हो। अतः विशेष रूप से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के उद्धृत काव्यांशों की व्याख्या में मूल कवि के मन्तव्य के अनुसार व्याख्या करनी होगी। क्योंकि यहाँ 'निश्चिन्त घूमो' का अर्थ 'मत घूमो' भी हो सकता है॥ अतः टीकाकार को काव्य और काव्यशास्त्र की टीका अथवा व्याख्या में इसका ध्यान रखना अनिवार्य है॥९॥

आगम–

आगम में ज्ञान योग और क्रिया योग की दृष्टि से सुधीजन अद्वैत, एकेश्वरत्व और गुह्यवाद की दृष्टि से इसमें व्याख्या द्वारा उसे विस्तृत रूप से समझाया करते हैं॥ इसमें जैन-बौद्ध आदि के आगम ग्रन्थ भी है। **निलीनं गमयति-इति निगमो वेदः आसमन्ताद्गमयतीत्यागमः।**

इसकी व्याख्या में भी जिस विषय का आगम ग्रन्थ है उसकी विषयवस्तु को सम्यक् रूप से समझकर ही व्याख्या की जा सकती है॥१०॥

निरुक्त-

वर्णागम, वर्णव्यत्यय, वर्णविकार, वर्ण का समाप्त होना और धातुओं का प्रत्येक शब्द में योग होना निरुक्त की दृष्टि से व्याख्या के विचारणीय विषय हैं॥११॥

पूर्व में विद्वानों में निरुक्त के व्याख्यान के आधारों का इस प्रकार निरूपण है–

वर्णागम, वर्णविपर्यय दो अन्य हैं– वर्ण में विकार अथवा उसका नष्ट हो जाना, धातु का अर्थ के साथ अतिशय योग। निरुक्त इस तरह पाँच प्रकार का होता है।

यास्क द्वारा प्रणीत निरुक्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है काव्यादि के विशिष्ट प्रयुक्त शब्दों की निरुक्तियों से पात्रों के कथन और उनके चरित्र के वैशिष्ट्य के आकलन में सहायता मिलती है। यथा–**'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।'** वैसे तो संस्कृत के धातु और प्रत्यय के योग से निर्मित प्रायः सभी शब्द सम्बन्ध वाचक हों, वस्तु सूचक हों या विधा से सम्बद्ध हों सभी अपनी परिभाषा (अवस्थिति) या कर्तव्यबोध के प्रेरक भी होते हैं। निरुक्ति अथवा व्युत्पत्ति का अत्यन्त महत्त्व है। अतः व्याख्या में निरुक्ति अथवा व्युत्पत्ति से युक्त व्याख्या सर्वोत्तम मानी जाती है–यथा **पातीति पिता, प्रीणातीति पत्नी, शाशितुं योग्यः शिष्यः, गुरोर्दोषावरणं छत्रं तच्छीलमस्ति यस्य स छात्रः।**

नदनाद् भवन्ति नद्यः, पतनात् पत्रम् इत्यादि।

धातुज शब्दों में उपसर्ग और प्रत्यय के अनुसार अर्थों में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता है। जैसे 'वि' उपसर्ग का अर्थ कहीं विशेषेण और कहीं निषेध होता है जैसे 'विशिष्ट' और 'विमल'।

मीमांसा–

मीमांसा कर्मकाण्ड के लिए वैदिक मन्त्रों से सम्मत होती है। इसमें न्यायों एवं नियमों की एक निर्धारित व्यवस्था अपेक्षित होती है॥१२॥

इसमें लक्षण, विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद, और तात्पर्य व्याख्या का क्रम होता है।

मीमांसा दर्शन भी है जो वैदिक मान्यताओं पर आधृत होने से वैदिक दर्शन की श्रेणी में आता है। मीमांसा शब्द का प्रयोग विवेचन करने के अर्थ में भी होता है। यथा आचार्य राजशेखर का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' हिन्दी में पुराणमीमांसा। मीमांसा का एक अर्थ विवेचन या विचार विमर्श भी होता है।

सांख्य–

सांख्य में तीन तत्त्व प्रमुख रूप से व्याख्या में विचारणीय होते हैं। इसमें 'पुरुष' तत्त्व परम चेतना है, मूलप्रकृति अविकृति कही जाती है। मूलप्रकृति त्रिगुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) की साम्यावस्था है। प्रकृति की विकार रहित अवस्था मूल प्रकृति है और प्रकृति और विकृति दोनों हैं–बुद्धि (महत्) अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ (आकाश, वायु, रूप, रस और गन्ध) ये प्रकृति और विकृति इसलिए हैं क्योंकि अन्य तत्त्व इनसे उत्पन्न होते हैं। महत् (बुद्धि) से अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार से मन, दश इन्द्रियाँ तथा पंच तन्त्राएँ उत्पन्न होती हैं। तन्मात्रों से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। ऐसा सांख्यशास्त्र का मत है।

पञ्च महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) न्याय

आदि शास्त्रों में नित्य माने जाते हैं किन्तु कपिल प्रवर्तित सांख्य में इन्हे स्थूल रूप में ही माना जाता है॥१७॥

पञ्च महाभूतादि तत्त्वों के चिन्तन में दर्शनों में दृष्टि भेद है, अतः सांख्य शास्त्र की व्याख्या में इन सूक्ष्म भेदों को सम्यक् रूप से ज्ञात करके ही इसकी व्याख्या में प्रवृत्त होना चाहिए॥१८॥

छन्दःशास्त्र–

छन्दोविधान शास्त्र में पद्यों में वर्णों में लघु और गुरु की स्थिति का ज्ञान कर वार्णिक वृत्तों का विवेचन करना चाहिए। एकमात्रा वाला ह्रस्व और द्विमात्रिक वर्ण दीर्घ माना जाता है। मात्रा उच्चारण में लगने वाले काल की दृष्टि से निर्धारित होती है। छन्दोविधान में किसी वर्ण के पृथक् रूप से अकेला उच्चारण करने पर भले ही लघु की श्रेणी का हो किन्तु पद्य में प्रयुक्त यदि उसके आगे का वर्ण सयुंक्त है तब भी वह दीर्घ माना जाता है जैसे–काव्य प्रकाश रामप्रसाद, मध्यप्रदेश इनमें क्रमशः 'य' 'म' और 'म' गुरु माना जायगा जो संयुक्त अक्षर है उसमें स्वर युक्त आगे के वर्ण में यदि दीर्घ स्वर (आ, ई, अ आदि) लगा है तो वह पूर्व को दीर्घ करने के साथ स्वयं भी दीर्घ होगा यदि आकारादि युक्त नहीं है तब वह लघु ही माना जाता है।

जैसे 'मन्थन' में 'म' दीर्घ है किन्तु 'थ' नहीं। इसका ज्ञान न होने से पद्यों को पढ़ते समय आगे के संयुक्त अक्षर पर ध्यान देने से संस्कृत पद्यों का सही उच्चारण किया जा सकता है।

दूसरा मात्रिक छन्द होता है जिसमें वर्णों के लघु-गुरु के स्थान पर मात्राओं की गणना की जाती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण आर्या छन्द है। इस प्रकार के छन्दों के पादों की मात्रा भिन्न भी हो सकती है। दोहा, सवैया और सोरठा आदि हिन्दी के पद्य प्रायः मात्रिक छन्दों में लिखे गए हैं। हिन्दी खड़ी बोली में अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने वर्णिक छन्दों का प्रियप्रवास में प्रयोग किया है हिन्दी के मात्रिक छन्दों में पादान्त लय में समान स्वर वाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

छन्दःशास्त्र में पद्यों में वर्णों की कैसी स्थिति है? उसके आधार पर वर्णों की संख्या और लघु-गुरु की स्थिति और मात्राओं की स्थिति का ज्ञान कर ह्रस्व- दीर्घ के रूप में जो स्थिति है उसका सम्यक् ज्ञान अपेक्षित होता है॥१९,२०॥

वर्णिक छन्दों में लघु और गुरु की दृष्टि से क्रम को गणों में व्यवस्थित किया गया है। इनमें गुरु का चिह्न 'ऽ' और लघु का चिह्न '।' होता है। प्रत्येक गण में तीन वर्ण होते हैं इसका बोधक सूत्र है–

य मा ता रा ज भा न स ल गा

इस प्रकार यगण । ऽऽ, मगण ऽऽऽ, तगण ऽऽ।, रराण ऽ।ऽ भगण ऽ।। नगण ।।। सगण ।।ऽ, लघु। गुरुऽ जिस अक्षर को देखा जायगा उसे तथा उसके आगे की लघु-गुरु की स्थिति देखकर गण की लघु-गुरु की स्थिति ज्ञात की जाती है॥२१॥ जैसे **'भुजंगप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः'** भुजंगप्रयात छन्द में चार यगण होते हैं।'

मात्रिक छन्दों में मात्राओं की गणना की जाती है।

शिक्षाशास्त्र–

वर्तमान में शिक्षाशास्त्र से अध्यापक प्रशिक्षण बी.एड्. आदि के पाठ्यसामग्री का बोध होता है किन्तु छह वेदांगों में शिक्षा उच्चारण के शास्त्र को कहा जाता है। जैसा कि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में बताया है वर्णों के स्थान, प्रयत्न, करण आदि का निर्णय करने वाली (विद्या) को शिक्षा कहा जाता है जो आपिशालीय आदि हैं। (काव्यमीमांसाद्वितीयाध्याय)

लघुसिद्धान्तकौमुदी के संज्ञा प्रकरण में **'तुलास्यप्रयत्नं सवर्णम्'** सूत्र की वृत्ति में वर्णों के स्थान- प्रयत्न आदि का वर्णन किया गया है। प्रत्येक संस्कृत वाङ्मय के शोधच्छात्र को यह वृत्ति याद करना अनिवार्य है।

इस समय यह भाषाविज्ञान की ध्वनिविज्ञान शाखा का विषय है। भाषाविज्ञान में इसे अंग्रेजी में फोनोलाजी या फोनेटिक्स कहा जाता है।

संस्कृत में प्रत्येक वर्ण जैसे लिखा जाता है वैसे ही पढ़ा जाता है बट (But) पुट (Put) जैसी उच्चारण की समस्या नहीं है। इस प्रकार संस्कृत में उच्चारण की कोई समस्या नहीं हैं। जैसे उच्चारण होता है वैसे ही ध्वनियों का लेखन और टंकण भी होता है॥४॥

संस्कृत आदिकाल से एक ही रूप में लिखित और पठित है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तथा इसके आधार पर भाष्यादि के रूप में लिखित इसकी व्याख्याओं ने इसे एक रूप में स्थित कर दिया है इसमें कोई विकृति नहीं है अतः सृष्टिपर्यन्त इसे समझा, पढ़ा और बोला जा सकता है यही इसके अमर भाषा होने का कारण भी है। वाल्मीकि और कालिदास ने जैसी भाषा लिखी है वैसी भाषा ही आज के कवि और लेखक लिखते और पढ़ते हैं। विकार और परिवर्तन से रहित होने से यह भाषा स्थायिनी है। अपनी पुस्तक 'भाषिकी कारिका' में मैंने ध्वनि विज्ञान की स्थिति का निरूपण कारिकाओं में इस प्रकार किया है–

ध्वनि की तीन गतियाँ होती हैं– उच्चारण, संचार और ग्रहण ऐसा भाषाविज्ञानियों का मत है॥२५॥

ध्वनिविज्ञान की तीन शाखाएँ हैं–

औच्चारिकी, सांचारिकी तथा श्रौतिकी॥२६॥

१. औच्चारिकी शाखा में ध्वनियों के उच्चारण की स्थिति पर विचार किया जाता है। वागिन्द्रियों (ध्वनि के मुख में स्थित जिह्वा, कण्ठ, तालु और दन्त आदि) को ध्वनियन्त्र भी कहा जाता है इसी से ध्वनि के भेद का ज्ञान किया जाता है॥२७॥

२. उच्चरित ध्वनि श्वास तरंगों का आकाश मार्ग से निकलने की स्थिति का जिसमें विचार किया जाता है उसे सांचारिकी शाखा कहा जाता है॥२४॥

३. श्रोता की श्रवणेन्द्रिय में स्वन (ध्वनि) की तरंगों की स्थिति का जिसमें अध्ययन किया जाता है उसे श्रौतिकी शाखा कहते हैं॥२९॥

वाग्यन्त्र (उच्चारण स्थान/वागिन्द्रियाँ)

ध्वनियों (स्वनों) शरीर के अंग विशेष रूप में स्थित जिह्वा आदि को वागिन्द्रिय या संक्षेप में वाग्यन्त्र कहा जाता है॥३०॥

वागिन्द्रियों को उच्चारण स्थान कहा जाता है पाणिनीय शिक्षा में मुख्य रूप से आठ स्थान बताए गए हैं–

'वर्णों के उच्चारण के आठ स्थान हैं १. उर, २. कण्ठ, ३. शिर (मूर्धा) ४. जिह्वामूल, ५. दाँत ६. नासिका ७. ओष्ठ और ८. तालु॥'

आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने इन्ही आठ स्थानों का विभाजन प्रायः २० या २२ स्थानों में किया है। भाषिकी कारिका ग्रन्थ में मैने २० स्थानों का सचित्र निरूपण किया है–

वाग्यन्त्र (मुख में स्थित उच्चारण स्थान)

१. ओष्ठ

२. दन्त

३. वर्त्स

४. कठोरतालु

५. कोमलतालु

६. अलिजिह्वा (काकल)

७. जिह्वाणि

८. जिह्वाफलक

९. जिह्वाग्र

१०. जिह्वामध्य

११. जिह्वापश्च

१२. जिह्वामूल

१३. नासिका विवर (नासिकाद्वार)

१४. ग्रसनिका

१५. काकल

१६. स्वरयन्त्र

१७. स्वरतन्त्र

१८. उरस् (श्वासनली)

अन्य विद्वान् दो स्थान और मानते हैं–

१९. अभिकाकल

२०. गलबिल

फेफड़े से निकाली गई वायु को इन उच्चारण स्थानों द्वारा इस प्रकार नियन्त्रित कर बाहर निकाला जाता है कि विवक्षित ध्वनियाँ उच्चरित होते हैं। मानवीय चेतना से किस प्रकार अभ्यस्त वर्णों का उच्चारण होता है इसके लिए पाणिनीय शिक्षा में बताया गया है।

विस्तार भय से यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा हैं क्योंकि भाषा विज्ञान एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित हो चुका है। स्वतन्त्र रूप से स्नातकोत्तर कक्षा तक इसका पाठ्यक्रम प्रवर्तित है। अतः संक्षिप्त रूप में इसका निरूपण शोधच्छात्रों के अवबोध के लिए किया गया है। मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल द्वारा प्रकाशित मेरे द्वारा सम्पादित बी.ए. तृतीय वर्ष संस्कृत साहित्य की पुस्तक 'अर्थ-गौरवम्' के भाषाविज्ञान खण्ड का लेखन भी मैंने स्वयं किया है उसमें हिन्दी भाषा के माध्यम से सुस्पष्ट विवेचन है। संस्कृत साहित्य में शोध करने वालों को भी भाषाविज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है अतः शिक्षाशास्त्र की आधुनिक स्थिति के लिए यहाँ इसे प्रस्तुत किया गया है।

शिक्षा शास्त्र की व्याख्या अथवा विवेचन में **'तुल्यास्य प्रयत्नं सर्वणम्'** सूत्र की वृत्ति के साथ आधुनिक ध्वनिविज्ञान के वर्गीकरण आदि पर भी ध्यान देना उचित है क्योंकि उच्चारण के जो सूक्ष्म भेद हैं वे पाणिनीय शिक्षा के आठ स्थानों पर ही आधृत हैं जिनमें विभाग करके ध्वनिविज्ञान को पल्लवित किया गया है॥२४॥

ज्योतिर्विज्ञान

ज्योतिषशास्त्र में तिथि, वार, करण और योग आदि का ध्यान रखते हुए उचित व्याख्या करना सभी के लिए बोधगम्य हो सकती है॥३५॥

इसके गणित और फलित दो प्रमुख भेद हैं गणित में तिथि वार और नक्षत्र आदि की गणना कर निष्कर्ष निकाला जाता है और फलित में उन ग्रहों, नक्षत्रों और तिथियों की दृष्टि से फल (परिणाम) पर विचार किया जाता है॥३६॥

शैव दर्शन

अद्वैत की स्थिति शैव और शाङ्कर वेदान्त दोनों में है। सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) को दोनों में माना जाता है अर्थात् शिवतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व दोनों में यह स्थिति स्वीकार की गई है। शैवाद्वैत में शिव और शक्ति की पृथक् स्थिति को स्वीकार कर भी उसे सम्पृक्त माना जाता है किन्तु शांकर वेदान्त में **एकमेवाद्वितीयं, सर्वं खलु-इदं ब्रह्म, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः** आदि महावाक्यों से उसके एक परम तत्त्व की ही व्याप्ति स्वीकारी जाती है। शैवाद्वैत की दृष्टि को शिवदृष्टि में इस प्रकार समझाया गया है–'शिव शक्ति से रहित नहीं है न शक्ति शिव से पृथक् है अर्थात्' शिव से सम्पृक्त है। 'शिव शक्त है' इस प्रकार भावों की इच्छा से प्रवर्तित करना चाहता है।

शाङ्कर वेदान्त में निश्चित ही माया का कर्तृत्व स्वीकार किया जाता है, यहाँ ब्रह्म अधिष्ठान रूप है साक्षी और कर्त्ता है चिन्मय है॥३७-३९॥

इन दोनों दर्शनों में कितना साम्य और वैषम्य है इसका अवबोध करके ही सुधी शोधकर्त्ता को अद्वैत की समानता में जो मौलिक भेद है, व्याख्या करते समय इसका ध्यान रखना चाहिए॥४०॥

काव्य–

काव्य की व्याख्या में मल्लिनाथ आदि व्याख्याकार अधोलिखित पद्धति अपनाते हैं–

सन्दर्भ (कथा, वस्तु तथा उसके स्रोत और रचयिता का नाम)

प्रसंग (वर्णनीय विषय के पात्र अथवा उसकी स्थिति का कथन करना, कौन, कब, कहाँ क्यों रहा है और उसको बताना) **विग्रह और अन्वय**–पहले कर्ता फिर कर्म तदनन्तर क्रिया इसमें सन्धियुक्त पदों का विग्रह भी किया जाता है, कर्ता और कर्म के विशेषणों को पूर्व में लिखकर तब मुख्य कर्ता या कर्म को लिखा जाता है। इस प्रकार अन्वय और विग्रह प्रायः एक साथ रहता है। **शब्दार्थ**–कवि के अभीष्ट शब्दों के प्रसंगानुकूल अर्थ लिखे जाते हैं संस्कृत में एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। अतः वही अर्थ लिखा जाय जो कवि का अभीष्ट है। एक साथ दो अर्थ प्रतीत कराने की इच्छा से यदि कवि ने प्रयोग किया है तब दोनों को समझाना चाहिए। **गुण**– ओजस्, माधुर्य और प्रसादादि काव्यशोभा के उत्पादक होते हैं अतः उनकी परख करके लक्षणानुसार प्रतिपादित करना चाहिए। **अलंकार**–गुण रस के धर्म होते हैं और शब्दार्थ में रहते हैं अलंकार जो काव्य की शोभा को बढ़ा देते हैं ये तीन प्रकार के होते हैं शब्दालंकार, अर्थालङ्कार और उभयालंकार; इन तीनों की पहचान कर उल्लेख करना चाहिए। **रीति**–विशिष्ट पद रचना को रीति कहा जाता है वामनाचार्य इसके तीन प्रकार मानते हैं- गौणी (जिसमें समास की बहुलता होती है) वैदर्भी में सद्यःबोधगम्य समास रहित पदों का प्रयोग होता है इसे समग्र गुणों से युक्त भी कहा जाता है। नैषधीयचरितकार श्रीहर्ष श्लेष के माध्यम से इसे धन्य (स्वागतयोग्य) कहा है–**'धन्याऽसि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।'** तीसरी **पांचाली** रीति है जिससे यथोचित रूप में उक्त दोनों के गुणों का सम्मिश्रण होता है। यथासंभव व्याख्या में इन्हें भी आरेखित किया जा सकता है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में रीति के स्थान पर सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक मार्ग स्वीकार किया है तथा

इनमें आभिजात्य आदि गुणों का निरूपण किया है वे अभिधावादी हैं और वक्रोक्ति को महत्त्व देते हैं इस दृष्टि से भी व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि वे वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हैं।

आह्लादक तत्त्व–वैसे तो काव्यवर्णनों में आह्लाद और प्रेरणा भारतीय और पाश्चात्य प्रायः सभी आचार्य स्वीकार करते हैं तथापि किसी एक आह्लादक तत्त्व को विशेष महत्त्व देकर उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं उसी की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। मेरी दृष्टि से ये सभी आह्लादक तत्त्व जैसे सभी नदियाँ सागर में गिरती हैं उसी प्रकार ये सभी तत्त्व लोकोत्तराह्लाद के अनुभूतिसागर में मिलकर एकाकार हो जाते हैं–

'रसोऽलङ्काररीती च ध्वनिर्वक्रोक्तिरौचिती।
यान्ति लोकोत्तराह्लादमर्णवं सरितो यथा॥'

–नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा

ये सभी सहृदय की भावना के अनुरूप अनुभूत होते हैं। इस प्रकार व्याख्या में जिस आह्लादक तत्त्व का अनुभव हो उसका भी उल्लेख करना चाहिए॥४१-४४॥

पुराण–

सर्ग, प्रतिसर्ग, कल्प, मन्वन्तर, वंश आदि की दृष्टि से पौराणिक ग्रन्थों की व्याख्या की जाती है। इसमें अवतार क्यों और किस रूप में हुआ? उस अवतार में कारण किसकी भक्ति थी अथवा किसका निवेदन या प्रस्ताव था, उसकी आध्यात्मिक स्थिति तथा अवतार का प्रयोजन क्या था? व्याख्या के प्रारंभ में इसका निरूपण किया जाता है। पौराणिक कथाओं में कभी-कभी कई अवतारों का वर्णन रहता है इसलिए युग का ध्यान रखना बहुत आवश्यक होता है॥४५,४६॥

धर्मशास्त्र–

श्रुति (वेद) और स्मृति का आश्रय लेकर विद्वान् इसकी व्याख्या की पुष्टि करते हैं। इसमें विहित कर्मजन्म धर्म और निषिद्धकर्म जन्य अधर्म कहा गया है। यह ध्यातव्य है कि अंग्रेजी के रिलीजन शब्द को

अज्ञानतावशात् धर्म का पर्यायवाची मान लिया जाता है, जो अनुचित है। रिलीजन पन्थ या सम्प्रदाय का वाचक है। भारतीय धर्म विश्व मानव के अनिवार्य मानवीय कर्तव्य का बोधक है। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में उसके आधार का तथा षष्ठ अध्याय में मानवीय धर्म के निरूपण में मनुष्य के कर्तव्य घटकों का निरूपण है, जो किसी देश या जाति का न होकर समग्र विश्व का कर्तव्य विधान है॥४८॥

जैसा कि मनुस्मृति में धर्म का आधार बताया गया है–

वेद, स्मृति, सदाचार अपने से सम्बद्ध का तथा अपना प्रिय करना ये चार धर्म के मूल आधार माने जाते हैं, यही धरती पर स्थित सभी मनुष्यों के धर्म का लक्षण भी है (मनुस्मृति २.१२) विश्व के सभी मनुष्यों के लिए मनुस्मृति ६.१२ में धर्म (कर्तव्य) बताए गए हैं जो इसके घटक हैं उनकी स्थिति इस प्रकार है–

१. **धृति**- (धैर्यधारण करना/विचलित न होना), २. **क्षमा**- (किसी को माफ करना) ३. **दम**- (सहनशक्ति) ४. **अस्तेय**- (चोरी या ठगी न करना) ५. **शौच**- (पवित्रता चाहे मानसिक हो या भौतिक दोनों को स्वच्छ रखना) ६. **इन्द्रियनिग्रह**- (इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना ज्ञानेन्द्रियों और मन को नियन्त्रित कर उचित मार्ग की ओर उन्मुख करना) ७. **धी**- (भूत, भविष्य, वर्तमान का ध्यान रखना) ८. **विद्या**- (जीने के लिए ज्ञान प्राप्त करना, कुछ सीखना) ९. **सत्य**- (सत्य व्यवहार, सच बोलना, ईमानदारी) १०. **क्रोध न करना**- क्रोध से मोह, मोह से संभ्रम की उत्पत्ति होती है और इससे बुद्धि का नाश होता है और फिर मनुष्य नष्ट हो जाता है।

इस धर्म के लक्षण की कोई सीमा नहीं है। इस धर्म लक्षण को विश्व का कोई न्यायाधिपति यह नहीं सिद्ध कर सकता कि यह धर्म (कर्तव्य) का लक्षण किसी जाति देश अथवा वर्गविशेष के लिए अवधारित है। यह धर्म विधान मनुष्य कहे जाने वाले सभी के लिए प्रतिपादित है। इन दश धर्म घटकों में किसी एक के न होने पर उसे पशु कहा जायगा ऐसा नीतिशतककार भर्तृहरि का मत है– भोजन, नींद, भय

और मैथुन मनुष्य और पशुओं में समान रूप से प्रवृत्ति के रूप में समाहित होते हैं। इनमें केवल धर्म ही मनुष्य में रहता है (जो पूर्व में प्रति पादित हैं) जो मनुष्य धर्म से रहित हैं उन्हें पशु के समान माना जाता है।

धर्मशास्त्र में कर्मकाण्डविधान और वर्णादि के कर्म के विषय में विधि (करणीय) निषेध (अकरणीय) के रूप में प्रतिपादित हैं। जिसके अनेक धर्मसूत्र और स्मृतियाँ आदि हैं जो अधिकांश रूप में वैदिक वाङ्मय (संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक) ग्रन्थों पर आधारित हैं। इनकी व्याख्या में मूल ग्रन्थों की अन्विति के साथ उनके औचित्य का प्रतिपादन आवश्यक होता है। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की सम्यक् व्याख्या के लिए पूर्वोक्त दोनों धर्म के आधार और घटक के रूप में प्रतिपादित श्लोकों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

योग–

योग का मूल ग्रन्थ पातंजल योगसूत्र है। **'मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च'** (सि.कौ.) में तीन मुनियों को प्रणाम किया गया है उनमें पाणिनि और कात्यायन के साथ पतंजलि भी सम्मिलित हैं जिन्होंने व्याकरण महाभाष्य भी लिखा है। उन्हीं का योगसूत्र भी है जो योगशास्त्र का वैसा ही ग्रन्थ है जैसे व्याकरण का आधार पाणिनि की अष्टाध्यायी है। उनकी प्रणति के प्रसिद्ध पद्य में यह तथ्य आरेखित है उन्हें वैद्यक ग्रन्थ का रचयिता भी माना जाता है। 'योग से चित्त को और सुबन्त और तिङन्त आदि पदों से वाणी को शरीर के मल (विकार और बिमारी आदि) को जिसने आयुर्वेद से दूर किया है उन पतंजलि को हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।' पातंजल योगसूत्र में चार पाद हैं। १. समाधि पाद, २. साधनापाद, ३. विभूतिपाद और ४. कैवल्यपाद।

इसके आठ अंग हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

पतञ्जलि योग को चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं वस्तुतः

निदिध्यासन ही योग है इसमें सन्देह नहीं है। सांख्य में योग की समन्विति से चैत्तिक तत्त्व की प्राप्ति होती है। आभ्यन्तर और बाह्य द्वैतत्व की संसार में स्थिति होने पर एक चेतन तत्त्व है और दूसरा बाह्य जडात्मक होता है। सांख्य में बुद्धि से व्यापार (व्यवहार) होता है और प्रकृति त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रजस् और तमस् संयुक्त) होती है। बुद्धि का वास्तविक ज्ञान योग से ही होता है, सांख्य और योग को विद्वान् पृथक् नहीं मानते॥४९-५२॥

सांख्य में तत्त्वों का ज्ञान होता है और योग प्रायोगिक होता है। भवसंगम का विच्छेद योग में चित्तवृत्ति के निरोध से होता है॥५३॥

योग के आठ अंग महर्षि पतंजलि ने बताए हैं। इसका प्रतिपादन उन्होंने योग सूत्रों में किया है। ये सभी शरीर की प्रायोगिक क्रिया से सम्बद्ध हैं॥५४॥

योगशास्त्र की व्याख्या हठयोग आदि के मानव शरीर के अंगों का चित्र बनाकर प्रायोगिक अभ्यास के लिए प्रदर्शित करना अनिवार्य होता है। पाठकों को इससे प्रायोगिक ज्ञान कराया जाता है॥५६॥

प्रायोगिक विधान में योग सूत्रों के अनुसार न्यायादर्श और चर का आश्रय लेकर शोधकार्य भी किया जाता है परीक्षणयन्त्र तथा प्रश्नावली के माध्यम से ज्ञातकर सांख्यिकी के माध्यम से इसका निष्कर्ष निकाला जाता है॥५७॥

वैशेषिक–

न्याय और वैशेषिक में प्रायः समानता प्रतीत होती है किन्तु न्याय में प्रमाणादि कल्पना व्यापक रूप से करनी पड़ती है किन्तु वैशेषिक में प्रमेयों के ज्ञान का मार्ग अपनाया जाता है। वैशेषिक में सात पदार्थ माने गए हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव माने गए है। अन्नंभट्ट ने संक्षेप में तर्कसंग्रह ग्रन्थ में इन सात पदार्थों के भेद-प्रभेद और इनके स्वरूपों का प्रतिपादन किया है। कुछ विद्वानों ने न्याय और वैशेषिक दोनों का सम्मिश्रण करते हुए ग्रन्थों की रचनाएँ की है

आचार्य विश्वनाथ ने 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में ऐसा किया है, जो उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है और पठन-पाठन में आज भी प्रसिद्ध है।' अतः वैशेषिक शास्त्र की व्याख्या कहीं-कहीं न्याय की अन्विति के साथ की गई है। अतः व्याख्या करते समय इसके साम्य और वैषम्य का सम्यक् ज्ञान करना आवश्यक होता है॥५८-६२॥

व्याख्या के विवेचन के विषय में निवेदन–

संस्कृत वाङ्मय श्रेष्ठ होने के साथ विस्तृत भी है अतः इसकी व्याख्या विधि के निरूपण में मैं असमर्थ हूँ यह जानता हुआ भी शोधच्छात्रों के उपकार के लिए अपने ज्ञान के अनुसार बताने का प्रयास किया है। यदि इसमें कोई त्रुटि विषय विशेषज्ञ विद्वानों को दिखाई देती है तब इसका खण्डन कर सही मार्ग दर्शन करेंगे। इससे मेरा तथा शास्त्रज्ञों का उपकार ही होगा। अतः विद्वान् इसका समाधान करेंगे ऐसी मैं आशा करता हूँ। इसमें जो उचित है उसे ग्रहण किया जाय शेष का समाधान विद्वज्जन करने की कृपा करें। एक विषय दूसरे विषयों से प्रायः जुड़ा दिखाई देता है अतः शास्त्रों की मूल प्रवृत्तियों का यथाज्ञात परिचय मैंने व्याख्या की दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

भाष्य

आचार्य राजशेखर ने कहा है **'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्।'** आक्षेप करते हुए अपने शास्त्रीय ग्रन्थों पर व्याख्यान करना भाष्य है ऐसा शास्त्रकारों का मत भी है। अपने शास्त्र के कथन को औचित्य पूर्वक पुष्ट करना भाष्य कहा जाता है महर्षि पतंजलि ने व्याकरणशास्त्र पर भाष्य लिखा है जिसे महाभाष्य कहा जाता है यह इतना प्रसिद्ध है किसी विशेषण के बिना महाभाष्य कहने में उनके ही महाभाष्य का बोध होता है। उसी को आदर्श मानकर किसी ग्रन्थ का भाष्य करना चाहिए॥६६-६७॥

पहले पूर्वपक्ष (विरुद्धमत) का प्रतिपादन करके उसका समाधान कर देना चाहिए। भाष्य में जो सूत्ररूप (संक्षेप) में कहा गया है उस का विस्तार शास्त्रावबोध के लिए किया जाता है॥६८॥

कहीं-कहीं उपनिषद् आदि का भाष्य करते समय आचार्य अपने मत की पुष्टि में मूल ग्रन्थ को अन्वित करते हैं जैसे गीता और उपनिषद् आदि का शंकराचार्य ने भाष्य किया है जो अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से लिखा गया है। उन्हीं सूत्रों या मन्त्रों का भाष्य करके द्वैतवेदान्ती अपने मत की पुष्टि करते हैं।

पूर्व में राजशेखर का मत उद्धृत है जिसमें **आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्** कहा गया है। व्याकरण की दृष्टि से विशेष रूप प्रतिपादोद्योतच्छाया के प्रारंभ में भाष्य की परिभाषा इस प्रकार की दी गई हैं–

'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥'

(जहाँ सूत्रार्थ का सूत्रानुसारी वाक्यों से तथा अपने पदों का भी वर्णन किया जाता है उसे भाष्यवेत्ता भाष्य कहते हैं।)

विशिष्ट चिन्तक विद्वान् विशेष रूप से शास्त्र सिद्धान्तों के प्रवर्तक विद्वान् प्रायः मित और सार कहने की वाग्मिता से युक्त होते हैं। अपने शास्त्रीय सिद्धान्तों को सूत्र रूप में प्रतिपादित करते हैं। सूत्र की परिभाषा में कहा गया है– अल्पाक्षर से युक्त, सन्देह रहित, सारवान्, व्यापक अर्थ देने वाले, विकृति रहित को सूत्र कहते है। ऐसे सूत्रों का भाष्य सर्वजन बोधक बनाने के लिए आवश्यक होता है। माघ ने भी कहा है– 'इसलिए संक्षिप्त और श्रेष्ठ वाक्य को विस्तार से कही गई मेरी वाणी भाष्य के रूप में हो।' इस प्रकार महाकवि माघ कहते हैं कि परिभाषा छोटी होती है उसका भी भाष्य किया जाता है–'परिमत अक्षरों वाली होकर भी चारों ओर से विषय को व्याप्त कर स्थित है, निश्चित रूप से वह कहीं प्रतिहत नहीं होती जो आदेश वाक्य के रूप में परिभाषा होती है। इस प्रकार परिभाषाओं, कारिकाओं और सूत्रों का भाष्य (विस्तार) करके उसको समझाया जाता है। संभावित आरोपों का खण्डन कर अपने शास्त्रीय कथन की स्थापना के लिए भाष्य किया जाता है। इसी प्रकार किसी ग्रन्थ का भाष्य लिखना चाहिए।

वैदिक संहिता भाष्य–

वैदिक मन्त्रों के भाष्य में सूक्त में वर्णित देवता, उसके द्रष्टा ऋषि और छन्द के प्रतिपादन के साथ मन्त्रों के अर्थ को विशिष्ट रूप में समझाया जाता है॥७०॥

सायण, वेङ्कटमाधव आदि द्वारा वेदों का सुन्दर भाष्य किया गया है। सातवलेकर आदि ने सभी वेदों का सुन्दर भाष्य हिन्दी में किया है। वेदों के प्रसिद्धतम मन्त्रों का छात्रों के अवबोध के लिए पाठ्यक्रम में प्रायः निर्धारित वैदिक सूक्तों के भाष्य पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल आदि और हिन्दी संस्कृत भाष्य प्रो. वृजबिहारी चौबे आदि ने किया है॥७१, ७२॥

पूर्व भाष्यों का अवलोकन कर वेद भाष्य करने की इच्छा करने वालों को इस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। अपने अधीत वेदों का भाष्य सावधानी से आधुनिक काल की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए किया जा सकता है॥७३॥ भाष्यों में भेद की दृष्टि से भी नवीन भाष्य किया जा सकता है क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों ने कहीं-कहीं वेदों की मूल भावना से भिन्न रूप में भाष्य अथवा व्याख्या करने का प्रयास किया है॥७४॥

कुछ ऐसी पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों और शोधपत्रों के उद्धृत मन्त्रों में स्वरांकन (उदात्त और अनुदात्त) के चिह्न नहीं लगाए गए हैं उच्चारण की शुद्धता की रक्षा के लिए स्वरांकन अनिवार्य है। स्वर के अपराध का उदाहरण भी प्राप्त होता है–

'स्वर अथवा वर्ण की दृष्टि से गलत होने पर वैदिक ऋषि द्वारा अवलोकित मन्त्र कल्याणकारी अर्थ न देकर वह वाग्वज्र होकर यजमान का नाश कर देता है जैसा कि 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' स्वर की गलती से राक्षस ही मारा गया है। अतः वेद मन्त्र का पठन हो या लेखन उसमें वर्णों के ऊँचे और नीचे स्वर से उच्चारण के लिए स्वरांकन और पढ़ने में ध्यान रखना आवश्यक होता है। व्याकरण महाभाष्य के प्रदीप टीकाकार कहते हैं–

'वहाँ इन्द्र का शातयिता शमयिता हो वो' यह प्रकार क्रिया पद शत्रुशब्द पर आश्रित है न कि रूढ़ शब्द है उसका आश्रय लेने पर बहुव्रीहि और तत्पुरुष का अभेद है। वहाँ इन्द्र के अमित्र सिद्ध होने पर शत्रु हो वो यहाँ अर्थ के प्रतिपाद्य होने पर अन्तोदात्त प्रयोतव्य होने पर आदि-उदात्त का प्रयोग ऋत्विक् ने किया इस अर्थान्तर के अभिधान होने पर इन्द्र ही वृत्र का शातयिता हो गया। इन्द्र शत्रुत्व का और विधेयत्व होने से सम्बोधन विभक्ति का अनुवाद्य विषयत्वात् यहाँ अभाव है॥

समीक्षा–

आचार्य राजशेखर ने अन्तर्भाष्य को समीक्षा कहा है। अर्थ का उन्मीलन करके अपनी अनुभूति से उसकी सम्यक् रूप से समीक्षा की जाती है॥७४॥ पहले ठीक प्रकार से (सात्त्विक भावना से ईष्या द्वेष रहित होकर) कृति का निरीक्षण करना चाहिए (गम्भीरता से पढ़ना चाहिए) पुनः उसमें प्रस्तुत विषय को लोक जीवन की मर्यादाओं और धर्मशास्त्र आदि के सिद्धान्तों की दृष्टि में रखकर विद्वान् कृति पर विचार करते हैं॥७५॥

निर्वर्णन, निध्यान, दर्शन, अवलोकन और ईक्षण ये पर्यायवाची शब्द हैं अर्थात् प्रायः समानार्थी हैं इनका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ स्वयं अपनी परिभाषा भी बताता है।॥७६॥ ईक्षण में 'सम्' उपसर्ग लगा है अतः रागद्वेषरहित होकर समभाव के साथ समीक्षा करनी चाहिए। कृतियों के मूल्यांकन में ईमानदारी आवश्यक होती है॥७७॥

तत्त्वान्वेषी, कृती, मूढ और सज्जन ये चार प्रकार के समीक्षक कालिदास ने माने हैं। इसे आचार्य राजशेखर भी स्वीकार करते हैं॥७८॥ (यहाँ कालिदास का उल्लेख उनकी रचनाओं में वस्तु सम्पृक्त वर्णनों में प्राप्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त का कथन है–**'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर! हतास्त्वं खलुकृती।'** यहाँ तत्त्वान्वेषी जो काव्य के शिल्प दोषादि पर विचार करता है उसे काव्यानन्द नहीं मिलता जो विना उचित अनुचित का विचार किए काव्यानन्द लेता है वह कृती (भाग्यशाली

होता है) इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते राजशेखर ने भावक पर विचार कर वर्गीकरण किया है। इसी प्रकार मूढ और सज्जन का प्रयोग भी कालिदास ने ही रघुवंश और मालविकाग्निमित्र रूप में किया है– **तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः** तथा **सन्तः परिक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।** सज्जन कालिदास ने सत् और असत् के ज्ञाता को कहा है, मूढ उसे कहा है जो लक्षणकारों की परिखा पर चलकर मौलिक कृतियों की समीक्षा करते हैं।)

शास्त्र की दृष्टि से विचार करने वाले, केवल लोकोत्तराह्लाद प्राप्त करने वाले, दूसरों के मतों पर विश्वास करने वाले, सत् और असत् पर विचार करने वाले ये यथाक्रम मूढ, कृती और सज्जन होते हैं तत्त्वान्वेषी को काव्यास्वाद लेने की दृष्टि से मूढ ही कहा जाता है। जैसे उपन्यास पढ़कर आनन्द लेने वाले असंख्य होते हैं किन्तु पण्डित आलोचक उसमें त्रुटि दिखाते हैं॥७९॥

कृति की समीक्षा करने में समीक्षक के लिए कृतिकार मित्र है या शत्रु यह नहीं ध्यान देना चाहिए। तटस्थ भाव से समीक्षा करनी चाहिए। **'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'** समीक्षा में यह अभ्युक्ति ध्यातव्य है॥८०॥

आलोचना–

लोचन नेत्र को कहते हैं जिससे देखा जाय। आङ्–उपसर्ग पूर्वक लोच् धातु में ल्युट् प्रत्यय लगने पर आलोचन या आलोचना शब्द बनता है। किसी का विधिवत् अवलोकन करना ही इसका अर्थ है आङ् उपसर्ग से आसमन्तात् अवलोकन अर्थ निकलता है॥८२॥

किसी कृति का अध्ययन करने पर पाठक उसके प्रभाव को ग्रहण करता है पुनः उसका विश्लेषण करता है ततः उसका मूल्यांकन करता है यही कृति की आलोचना कही जाती है इसी में कृति की उत्तमता, युगबोध आदि निर्णय किया जाता है॥८३॥

प्रमाता (पाठक/सहृदय) पर कृति का अध्ययन करने से जो प्रभाव पड़ता है उसकी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति आलोचना कही जाती है॥८४॥

आलोचना के प्रयोजनों के ज्ञाताओं को मोह और द्वेष को छोड़कर सद् और असद् का विवेक रखते हुए सज्जन लोगों को आलोचना करनी चाहिए॥८५॥

आलोचक का लक्षण- प्रो. अमरनाथ पाण्डेय ने इस प्रकार बताया है–

'विषय की सम्यक् आलोचना करके उसके रहस्य को जिसके द्वारा बताया जाता है उसे आलोचक कहा जाता है यही आलोचक का स्वरूप विद्वानों को मान्य है॥८६॥'

सहृदय का लक्षण–अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक लोचन में इस प्रकार बताया है- 'काव्य के अनुशीलन और अभ्यास के कारण विशद हुए मन के दर्पण में वर्णनीय विषय में तन्मय होने की योग्यता से अपने हृदय में तथैव संवाद (वैसी ही कल्पना) करने वाले को सहृदय (भावक) कहा जाता है।'

शास्त्र और काव्य में समालोचन की पद्धति समान है, शास्त्र में तत्त्वगत दृष्टिकोण रहता है काव्य में वस्तुविन्यास में कवि की मौलिक कल्पना में प्रेरणा और लोकोत्तराह्लाद की स्थिति पर विमर्श किया जाता है॥८६॥

मूलशास्त्र के सिद्धान्त में खण्डन और मण्डन करना तथा उसमें नए तत्त्वों का सन्निवेश और कुछ का अपसारण शास्त्र के विकास के लिए किया जाता है। ध्यातव्य है किसी भी कृति में कुछ जोड़ना उसे बदलना, हर किसी को थोड़ा बहुत पढ़ लिख लेने वाले सभी के लिए संभव भी नहीं है॥८७॥

काव्य की कथावस्तु, उसके पात्र, रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, गुण, सौन्दर्य आदि भी यहाँ (संस्कृत साहित्य में) आलोचनीय (विचारणीय) होते हैं॥८८॥

इस समय जो अन्य साहित्य के प्रभाव में लिखी गई कविताएँ, उपन्यास, टुप् कथा, स्पश् कथा आदि हैं उनकी समीक्षा, आलोचना, वस्तु, देश, काल, पात्र, परिस्थति, आदि तथा विकृत समाज में सहज प्राप्त शोषण, वंचना (ठगी) को आधार बनाकर समग्र कृति की एक साथ समीक्षा या आलोचना की जाती है। यद्यपि आलोचना और समीक्षा शब्द संस्कृत व्याकरण से साधु हैं तथापि इनके स्वरूपादि का प्रतिपादन प्राक्तन संस्कृत काव्यशास्त्र में नहीं है॥८९॥

आलोचना या समीक्षा की दृष्टि से शोध की स्थिति–

व्युत्पत्ति की दृष्टि से सम्यक् अवलोकन आलोचना (आलोचनम्) है, और सम्यक् ईक्षण समीक्षा है। निश्शेष रूप से ईक्षण निरीक्षण है गुण–दोष की परख करते हुए देखना, उसका प्रतिवेदनशिल्प में प्रस्तुतीकरण निरीक्षण है। समीक्षा और आलोचना शब्द काव्य और शास्त्र की कृति पर विचार की दृष्टि से प्रयुक्त हैं। जैसे महाकाव्य और खण्डकाव्य में अन्तर आकार और कथ्य का होता है। जैसे महाकाव्य का रचना फलक विस्तृत होता है। उसी प्रकार विस्तृत समीक्षा किसी कृति पर आधारित होकर कई अध्यायों में प्रस्तुत की जाती है किन्तु कृतियों की लघुसमीक्षाएँ भी होती है वे दो प्रकार की होती हैं लघु समीक्षा में पुस्तक के लेखक कृति प्रकाशन आदि प्रायः दो पृष्ठ की होती है किन्तु शोधपत्र के रूप में की गई समीक्षा ८ से १५ पृष्ठ तक हो सकती है वह भी परिचयात्मक ही होती है किन्तु उसमें उद्धरण अन्य सन्दर्भ भी तुलना आदि की दृष्टि से दिए जाते हैं, कभी–कभी किसी कृति के एक विशिष्ट अंश को आधार बना कर भी उसकी समीक्षा की जाती है। ये दोनों शोधसंग्रहों, पत्रिकाओं या संगोष्ठियों में प्रस्तुत की जाती है।

समीक्षा या आलोचना शोध है कि नहीं यह भी विचारणीय विषय है। वैसे तो अनेक शोधप्रबन्ध तथा लघु शोधप्रबन्ध सभी विश्वविद्यालयों में उपाधियों के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। अतः शोधप्रबन्ध की अपेक्षाओं की पूर्ति करने वाले ऐसे प्रबन्धों को शोध मानकर उन्हें स्वीकार कर उपाधियाँ दी गई हैं। इनके स्वरूप में महाकाव्य और खण्डकाव्य जैसा

ही अन्तर है जैसे की मैने साहित्यानुसन्धावबोधप्रविधि ग्रन्थ में लिखा है–

लघु और दीर्घ प्रबन्धों में विधा और वस्तु आदि की दृष्टि से खण्डकाव्य और महाकाव्य जैसा अन्तर होता है। शोधपत्र शोधप्रबन्ध के एक अंश की तरह होता है किन्तु शोधप्रबन्ध उचित अध्यायों में विभक्त कर विशाल आकार में तैयार किया जाता है।

प्रयागराज से प्रकाशित होने वाली 'दृक्' पत्रिका में प्रकाशित होने वाली समीक्षाएँ लघु आकार की हैं अतः प्रायः ग्रन्थों की परिचायिका के रूप में हैं। कभी-कभी उसमें आधुनिक संस्कृत साहित्य पर शोधपत्र के समान भी लेख छपते हैं। सागर से प्रकाशित सागरिका तथा साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित संस्कृत प्रतिभा के अन्तिम भाग में पुस्तक परिचय देने वाली लघु समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं इन्हें शोधपत्र नहीं कहा जा सकता तथापि नवीन ग्रन्थों के परिचय में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

समीक्षाएँ आकार भेद से चार प्रकार की हैं–

१. पुस्तकपरिचायिका २. शोधपत्ररूपा ३. लघुशोधप्रबन्धरूपा ४. शोधप्रबन्ध रूपा। जैसे मुक्तक को भी काव्य कहा जाता है किन्तु उसे प्रबन्धकाव्य या खण्डकाव्य नहीं कहा जाता। उसी प्रकार पुस्तक का परिचय देने वाली लघु आकार वाली समीक्षा शोधपत्र नहीं कही जा सकती। सूचना प्रदान करने की दृष्टि में इनका महत्त्व अवश्य है। पुस्तक की लघु समीक्षा में पुस्तक का नाम, उसके प्रणेता का नाम ग्रन्थ की अध्याय संख्या, पृष्ठ संख्या, विषय प्रकाशक का पता आदि दिया जाता है कभी-कभी कृति से कुछ उद्धरण भी दिए जा सकते हैं प्रायः इसका आकार एक या अधिकतम दो पृष्ठ का होता है। इसमें सीमित रूप में उसकी मौलिकता और वैशिष्ट्य का भी संकेत किया जाता है।

यदि पुस्तक की परिचयात्मक समीक्षा सात से अधिक पृष्ठ की होती है और ग्रन्थ के विशेष रूप से संक्षिप्त होने पर अपेक्षित सभी दृष्टियों पर प्रकाश डाला जाता है उसे शोधपत्र कहा जा सकता है।

पहली बार किसी कृति का सम्यक् अध्ययन करके यदि उसकी विशिष्ट समीक्षा की गई है तब उसे शोधपत्र माना जाना चाहिए।

एक एम.फिल्. कक्षा भी प्रारंभ की गई है उसके प्रथम सत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण विषय रहते हैं जो शोध कराने में सहायक होते हैं, उसका जो निर्धारित पाठ्यक्रम है उसकी परीक्षा होती है, किन्तु एम० फिल्० के द्वितीय सत्र में लघुशोधप्रबन्ध प्रस्तुत करना अनिवार्य होता है। यह तीन या चार अध्यायों का लघुशोधप्रबन्ध होता है। विश्वविद्यालय में प्राध्यापन करने वाले किसी अध्यापक के निर्देशन में इसे प्रस्तुत किया जाता है। इसमें भी शोधप्रबन्ध की तरह ही रूपरेखा बनाई जाती है भूमिका और उपसंहार को रखा जाता है तथा मध्य में शीर्षकानुसार कम से कम तीन या चार अध्यायों में मुख्य विषय का प्रतिपादन किया जाता है।

शोधपत्र में शीर्षकानुरूप विवेचन किया जाता है इसमें किसी मौलिक विषय का प्रतिपादन या समस्या का समाधान किया जाता है।

शोधप्रबन्ध के स्वरूप का विवेचन इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है जो पूरे ग्रन्थ में व्याप्त है अतः इसके स्वरूप को पूरे ग्रन्थ के पढ़ने पर स्वतः ज्ञात होगा। अतः इसे यहाँ समीक्षा की दृष्टि से वर्गीकृत किया गया है।

सम्प्रति समीक्षात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन पर सहस्राधिक शोध प्रबन्ध लिखे गए हैं उन पर उपाधियाँ भी प्रदान की गई हैं अतः यह कहना कि समीक्षा शोध नहीं है यह उचित नहीं है। समीक्षा और आलोचना के आयाम प्रायः समान हैं व्युत्पत्ति की दृष्टि से तो अन्तर है ही क्योंकि संस्कृत के शब्दों के प्रकृति प्रत्यय से शब्दों में कुछ न कुछ अन्तर तो आ ही जाता है॥

वृत्ति और वार्तिक–

सूत्र में कहे गए शास्त्रीय तथ्यों को (सार को) प्रकट रूप में (स्पष्ट रूप में) जो विवरण प्रस्तुत किया जाता है उसे वृत्ति कहते हैं।

वृत्ति कई बार शास्त्रज्ञ सूत्रकार स्वयं ही लिख देता है अथवा उसी विषय का अन्य विद्वान् उसकी वृत्ति लिख देता है जो सर्वजन बोधक होती है॥९०॥

जैसे व्याकरण के **तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्** सूत्र पर 'ताल्वादि...' के रूप में वृत्ति दी गई है। कुछ कारिकाकार स्वयं उसकी वृत्ति लिखकर अपने कथ्य को स्फुटित करते हैं॥९१॥

जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट एवं वक्रोक्तिजीवितम् में कुन्तक आदि ने किया है। वृत्ति को विवरण भी कहा जाता है जो संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत सूत्रों तथा कारिकाओं के मन्तव्य को स्फुटित करने में सहायक होता है॥९२॥

वृत्ति शब्द में ठक् प्रत्यय करने पर वार्त्तिक शब्द बनता है। उक्त, अनुक्त और द्विरुक्त पर जिसमें चिन्तन किया जाता है उसे वार्त्तिक कहते हैं॥९३॥

कुछ कारिकाकार स्वयं संग्रहकारिकाएँ भी उसे स्पष्ट करने के लिए लिखते हैं, जैसे कुन्तक के वक्रोक्तिजीवितम् में तथा रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातन' की काव्यालङ्कारकारिका में संग्रह कारिकाएँ मूलकारिका की पुष्टि में लिखी गई हैं॥९४॥

वृत्ति, संग्रहकारिका तथा वार्त्तिक ये तीनों जो सूत्र या मूल कारिका में बात नहीं कही गई है, पुनः - उक्त है, दो-दो बार कही गई है। इसका निरूपण स्वयं आचार्य करता है अथवा उसी विषय के अन्य आचार्य द्वारा यह कार्य किया जाता है॥९५॥

छाया–

भारतीय आर्यभाषाओं में मध्यकाल की आर्यभाषाएँ पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश को संस्कृत भाषा में प्रायः उसी में कथित शब्दों को अवबोध के लिए संस्कृत भाषा में परिवर्तित करने को छाया कहते हैं विद्वान् लोग इसे सर्वजन बोध बनाने के लिए करते हैं क्योंकि संस्कृत भाषा में कोई परिवर्तन नहीं होता जैसा वाल्मीकि ने लिखा था वैसा ही

आज के कवि भी लिखते हैं। पाणिनि आदि आचार्यों ने इसके स्वरूप को स्थिर कर दिया है। इसी कारण यह चिरनूतन और अमर है॥९६॥

संस्कृत नाटकों में स्त्रियों एवं सामान्य पात्रों के कथन को प्राकृत में प्रस्तुत कर उसे स्वाभाविक बनाया गया है जिस प्रकार नाटकों या चलचित्रों में आज भी हिन्दी की खड़ी बोली न बोलकर सामान्य पात्र विभाषा (क्षेत्रीय) बोली का प्रयोग करता है। दर्शकों को सहज अनुभूति हो इसलिए प्राक्तन नाटकों में प्राकृत (उस समय की जनभाषा) का प्रयोग किया गया है॥९७॥

जैसे पालि भाषा के धम्मो का धर्मः (संस्कृत में) प्राकृत भाषा के उअ का पश्य अपभ्रंश के शक्कमि का शक्नोमि कर दिया गया है। मध्यकालिक आर्य भाषाओं का प्रयोग समाप्त हो जाने से किन्तु संस्कृत का प्रयोग प्रवर्तमान रहने के कारण अवबोध के लिए ऐसा किया जाता है॥९८॥

मीमांसा–

व्याख्या पद्धति के निरूपण में पूर्व में इस ग्रन्थ में मीमांसा दर्शन की व्याख्या की स्थिति का संकेत किया गया है किन्तु मीमांसा एक व्याख्या पद्धति का भी प्रकार है, अतः अवबोध के लिए की गई किसी शास्त्र की मीमांसा का स्वरूप यहाँ बताया जा रहा है–

मानविस्तारे धातु से सन् प्रत्यय के योग से मीमांसा शब्द बनता है विचार विमर्श करने को मीमांसा कहते हैं (छह वैदिक दर्शनों में इसकी भी गणना की जाती है उसमें कर्मकाण्डीय विधानों और विधि निषेधादि का निरूपण है।)॥९९॥

दर्शन में ब्रह्ममीमांसा और अन्यकर्म मीमांसा है, ब्रह्म मीमांसा को वेदान्त या उत्तर मीमांसा कहा जाता है और मीमांसा को पूर्व मीमांसा भी कहा जाता है। अर्थ विस्तार होने से मीमांसा को आज विचार-विमर्श के अर्थ में भी ग्रहण किया जाता है॥१००॥

जैसा की आचार्य राजशेखर न काव्यमीमांसा के प्रारम्भ में कहा है–

यह हमारी काव्यमीमांसा काव्य की व्युत्पत्ति बताने के लिए लिखी जा रही है। यह वह मीमांसा है जिसमें वाणी का (काव्य भारती का) विभाजन किया जाएगा।

इस काव्य मीमांसा की व्याकृति मैने कवियों के (मार्गदर्शन के) लिए किया है।

वेदादि शास्त्रों को आधार बनाकर जहाँ तत्त्वों का प्रतिपादन किया जाता है उसे विद्वान् मीमांसा कहते हैं। मीमांस्यतेऽनयेति मीमांसा इस व्युत्पत्ति से जो अर्थ बोध होता है उसी प्रकार इसकी परिभाषा भी अन्वर्थ होती है इसमें कोई संशय नहीं है॥

इस प्रकार मीमांसा का अर्थ है परस्पर विचार-विमर्श करना। एक-एक शब्द पर सम्यक् विचार करना और उसका निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करना ही मीमांसा है।

परिभाषा–

सीमित अक्षरों में कथित और विषय की जो सम्यक् ज्ञापिका हो इसके साथ ही वह संक्षिप्त हो सूत्र (सार) रूप में हो वही परिभाषा श्रेष्ठ होती है। परिभाषा को व्यापक अर्थों में लक्षण या स्वरूप भी कहते हैं। परिभाषा में किसी वस्तु को परिचित कराने हेतु उसके असाधारण धर्म का कथन किया जाता है। ऐसी पहचान बताई जाती है, जो अति-व्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव जैसे दोषों से रहित हो॥१०१॥

अनुशीलन और परिशीलन–

अनुशीलन–शीलधातु से ल्युट् प्रत्यय करने से शीलन शब्द बनता है इसमें 'अनु' उपसर्ग लगा है अतः निरन्तर अभ्यास करना इसका अर्थ है॥१०२॥

अतः शास्त्र अथवा काव्य का बार-बार अभ्यास करके शास्त्रादि का सम्यक् बोध करके उसके विश्लेषण करने का जो विधान है उसे अनुशीलन कहा जाता है॥

किसी शास्त्र का 'करतलामलकवत्' (हाँथ में लिए आँवले के देखने के समान) समग्र रूप से ज्ञान किया है उसे वह नवोन्मेष के साथ प्रस्तुत कर सकता है। अर्थात् सम्यक् अनुशीलन के बाद अपने अधीत ग्रन्थ की विशेषताओं का मौलिक प्रतिपादन अनुशीलन है॥१०४॥

परिशीलन–

अनुशीलन है ग्रन्थ का निरन्तर अभ्यास और हर दृष्टि से अध्ययन करना परिशीलन है। अनुशीलन केवल एक शास्त्र या कृति का होता है यथास्थल अन्य ग्रन्थों के मतों को पुष्ट करने की दृष्टि से अथवा खण्डन करने की दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए अधीत की प्रस्तुति करना परिशीलन है॥१०५,१०६॥

विवृति–

वि उपसर्ग पूर्वक वृ धातु में क्तिन् प्रत्यय लगने पर विवृति शब्द बनता है। विवृति अर्थ को विस्तृत (स्पष्ट) करने के लिए प्रयोग करते हुए विद्वान् देखे जाते हैं॥१०७॥

वस्त्र के आवरण को हटाने को नपुंसक लिंग में विवृत कहा जाता है। वागङ्ग वर्णों (स्वरादि वर्णों) के उच्चारण में मुख के खुले रहने को भी विवृत कहा जा है॥१०८॥ शक्तिग्रह के निरूपण में अर्थ संज्ञान के सन्दर्भ में भी विवृति को एक आधार माना जाता है। व्युत्पत्ति में इतिहासादि का संकेत भी यहाँ होता है॥१०९॥

कालिदास के रघुवंश २.७५ में **'ज्योतिरत्रेरिव द्यौः'** की विवृति **मल्लिनाथ** ने की है जिससे चन्द्रमा के अर्थ का बोध होता है॥११०॥

विवृत्ति और वृत्ति–एकाधिक शास्त्रीय सन्दर्भों से युक्त विवृत्ति मूल अर्थ का तात्त्विक बोध कराती है। एक ही शास्त्र को स्पष्ट करने संयुक्त शास्त्रबोध की पद्धति को वृत्ति कहते हैं जो तत्त्वबोधिनी होती जैसे- सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका।

नाट्य में वृत्ति और प्रवृत्ति भाषा, अभिनय और वेशभूषा की दृष्टि से उसके तत्त्व की बोधिका यथोचित रूप में होती है॥११२॥

अवेक्षण–

रचना में पदों का आधान करने के बाद जो उपयुक्त पद नहीं है उनको निकालकर परिवर्तित पद को रखना अवेक्षण कहा जाता है॥११३॥

वस्तुतः अवेक्षण एक प्रकार से ग्रन्थों में स्थित पदों का सम्यक् रूप से निरीक्षण करना है। इसमें पद और पदार्थ की दृष्टि से कृति पर विमर्श करने को कहा जाता है (कई बार कृतिकार स्वयं भी अपने रचित ग्रन्थ का अवेक्षण कर उसमें सुधार करते हैं) जैसा कि काव्यालङ्कारसूत्र १.३.१२ में आचार्य वामन ने लिखा है– पद के आधान का उद्धरण अवेक्षण कहा जाता है। पदाधान को न्यास कहा जाता है उद्धरण को पदों का निकलना कहा जाता है। इन दो क्रियाओं को अवेक्षण कहा जाता है। इस सन्दर्भ में दो श्लोक हैं–

अधान और अपसारण में जब तक मन दोलायमान रहता है तब कवि या लेखक परिपक्व नहीं होता और जब पदों को लिखने के बाद उसे निकाल कर बदलना न पड़े जब सरस्वती सिद्ध हो जाती है, अर्थात् भाषा पर पूरा अधिकार हो जाता है और शब्दों को हटाकर दूसरों को रखने की आवश्यकता नहीं होती। जो पद परिवर्तन की सहिष्णुता नहीं रखते अर्थात् उनको बदला नहीं जा सकता तब उसे विद्वान् गण शब्दपाक कहते हैं।

काव्यमीमांसा में **राजशेखर** कहते हैं– 'सुबन्त और तिङन्तों का ऐसा प्रयोग जो प्रिय लगे और व्युत्पत्ति भी उसकी ठीक हो उसे सौशब्द कहते हैं। पद निवेश की निष्कम्पता (जिसमें पद परिवर्तन की आवश्यकता न रहे) को पाक कहते हैं॥

तात्पर्य–

तत्पर शब्द भाव की दृष्टि से ष्यञ् प्रत्यय करने पर तात्पर्य पद बनता है। वक्ता की उक्ति के अभिप्राय को तात्पर्य कहते हैं॥१५॥ आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों का समन्वय होने पर जो पदों का अलग-अर्थ न होकर वाक्य का जो अर्थ (अभिप्राय) निकलता है उसे तात्पर्य कहा जाता है॥११६॥

जो शब्द जिससे जुड़ा कहा गया है वही शब्दार्थ मीमांसक मानते हैं बाण जैसे कवच और वक्षःस्थल को चीर कर प्राण हरण करता है उसी प्रकार अभीष्ट अर्थ निकलता है। मीमांसक व्यंजना नहीं स्वीकार करते अभिधा से अर्थबोध होता है ऐसा मानते हैं॥११७॥

शास्त्रों के अर्थावबोध के लिए यह (तात्पर्यार्थ) मीमांसक ही स्वीकार करते हैं। व्यङ्ग्यार्थ (व्यञ्जनावृत्ति से प्राप्त अर्थ) को मानने वाले मम्मट आदि काव्यशास्त्री इसे नहीं स्वीकार करते॥११८॥

तात्पर्य शब्द आशय के लिए भी प्रयुक्त होता है हिन्दी में तो आशय के स्थान पर तात्पर्य शब्द प्रयुक्त होता है। शास्त्रव्याख्या के प्रसंग में भी आशय शब्द प्रयुक्त होता है॥११९॥

कोष में तत्पर शब्द प्रसक्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है–

तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः इत्यमरः॥

अमर. ३/१/९

विमर्श

वि-उपसर्ग युक्त मृश् धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर विमर्श शब्द बनता है। इस विमर्श को विचारणा कहते हैं। उन्नयन वितर्क को कहा जाता है परामर्श को विमर्शन कहते हैं॥१२०॥

वक्ता और श्रोता के किसी तथ्य पर विचार करके निष्कर्ष का निश्चय करने के लिए विमर्श किया जाता है॥१२१॥

वेदों और उपनिषदों में तथा पुराणों के वर्णन में प्रश्नोत्तर का विधान करके इस प्रकार विमर्श किया जाता है॥१२२॥

वाङ्मय के रहस्यों के समुन्मीलन के लिए स्वतः अपने अधीत विषय में निश्चित रूप से कहीं-कहीं विमर्श किया जाता है। मेरे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित 'साहित्यविमर्शः' ग्रन्थ में इस प्रकार विमर्शात्मक निबन्ध लिखे गए हैं उसको सुधीजन देख सकते हैं॥१२३-१२४॥

टिप्पणी–

टिप् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर स्त्री प्रत्यय ङीप् करने पर टिप्पणी शब्द बनता है। यह अल्प शब्दों में कथित होने पर विशिष्ट अर्थ की बोधिका होती है। प्रायः टिप्पणी शब्द का प्रयोग होता है इस शब्द से भी वही अर्थ गृहीत होता है। ग्रन्थ के सम्पादन में प्रायः पादटिप्पणी दी जाती है। इसमें प्रतिरूपीय पाठों के अन्तरों को दिखाया जाता है, कभी पाठ के औचित्य की दृष्टि से सम्पादक अपने मत को भी टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत करता है। भेद और अभेद के प्रतिपादन के लिए टिप्पणी अधिकतम संक्षिप्त रखी जाती है॥१२५-१२८॥

पदकृत्य–शास्त्र में जो पद प्रयुक्त हैं उसका कृत्य अर्थात् शास्त्र में उसी पद का प्रयोग क्यों किया गया, यह बताया जाता है। पदसंगति को युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया जाता है। यही पद मूलशास्त्रकार ने क्यों प्रयुक्त किया। इसकी सिद्धि के लिए पदस्फोट किया जाता है अर्थात् उससे व्यक्त होने वाले शास्त्रानुसारी अर्थ को बताया जाता है। उदाहरण के लिए तर्कसंग्रह ग्रन्थ, महाभाष्य और निरुक्त को देखा जा सकता है॥१२९-१३१॥

अर्थ–

वाक्य को सुनकर या पढ़कर जो कुछ उससे करणीय निर्देश या तत्त्वबोध श्रोता या पाठक को ज्ञात होता है वही वाक्य का अर्थ होता है जो सन्दर्भसंगत हो॥१३२॥ साहित्य (काव्यादि में) वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थ माने जाते हैं। इनकी शब्दशक्तियों के नाम क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना है और शब्द हैं वाचक, लक्षक और व्यंजक। किन्तु मीमांसक व्यंजना न स्वीकार कर उसके स्थान पर तात्पर्य स्वीकार करते हैं। मीमांसा में वाच्य विविध अर्थों का बोधक माना जाता है। सामान्यतया अनुवाद को भी अब अर्थ कहा जाने लगा है उसी प्रकार अर्थ को अनुवाद भी कहा जाता है॥१३२-१३५॥

आशय को अभिधेय और अभिप्राय को प्रयोजन भी कहा जाता है- द्वितीय पुरुषार्थ को भी अर्थ कहा जाता है तथा वाग्भेद के तीसरे भेद

मध्यमा को अर्थ कहा जाता है॥१३५॥

शब्दार्थ के विषय में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि की उक्ति इस प्रकार है–

शब्द तत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म और अक्षर (न नष्ट होने वाला) है जिससे जगत् की प्रक्रिया चलती है वह अर्थ भाव से विवर्तित होता है ॥वाक्यपदीय, १.१॥ पाणिनीय शिक्षा में शब्दार्थ की स्थिति इस प्रकार वर्णित है– आत्मा बुद्धि से अर्थों को समेट कर मन को प्रेरित करती है मन शरीर की अग्नि (ऊर्जा) को आहत करता है ऊर्जा वायु को जो उच्चरित होकर मन्द्र रूप में ध्वनि को उत्पन्न करता है॥ (पा.शिक्षा)

शब्दशास्त्रियों ने शब्दार्थ के उत्पन्न होने की श्रेष्ठ प्रक्रिया को उन्मीलित किया है। जिससे शब्दार्थ की परिस्थिति का सम्यक् बोध होता है॥३६॥

धातु, प्रत्यय और उपसर्गों की समृद्धि के कारण समान रूप से शब्द (उचित पर्याय) के प्रयोग से समाभिव्यक्ति का संस्कृत भाषा में सामर्थ्य दिखाई देता है॥१३७॥

संस्कृत भाषा के वैशिष्ट्य के कारण कम अक्षरों और शब्दों में अन्य भाषा के अर्थ या अनुवाद में इस भाषा में मूल कवि या लेखक के भावको यथोचित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है॥३८॥

जहाँ दो शब्दों के अन्य भाषा में बोलते समय प्रयोग करने पड़ते हैं। वहाँ 'गच्छामि' कहने पर कर्त्ता का स्वयं बोध संस्कृत भाषा में हो जाता है इसी प्रकार 'गच्छ' कहने 'तुम जावो' का बोध विना कर्ता के उच्चारण के हो जाता है॥१३९॥

अनेक ग्रन्थों के संस्कृतानुवाद संस्कृत के सुधियों नें किए हैं जो सरस और सुन्दर हैं–जयशंकर प्रसाद की कामयानी, गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानास, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि, कबीर के दोहे, बिहारी लाल की बिहारी सतसई, कृष्णायन महाकाव्य का अन्तिम सर्ग तथा अन्य भी अनेक हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के अनेक ग्रन्थ संस्कृत में अनूदित हैं।

प्रबन्ध के निरूपण में मैंने वाक्यादि का स्वरूप भी प्रतिपादित किया है। सुबन्त और तिङन्त शब्द पद कहे जाते हैं। पदों से निपात उपसर्ग आदि का संयोजन करते हुए वाक्य बनाए जाते हैं। उन्हीं वाक्यों से अर्थबोध होता है। पदों की पाँच वृत्तियाँ होती हैं–कृत्, तद्धित, समास एकशेष, सनाद्यन्त और धातु ये पाँच वृत्तियाँ हैं। मीमांसाशास्त्र वेदों का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, अतः वेद प्रतिपाद्य प्रयोजन से युक्त अर्थ धर्म है इस रूप में अर्थ की स्थिति का प्रतिपादन करता है। कवि शब्दार्थ के विषय में अपने कथन को कथावस्तु से सम्पृक्त कर बताते हुए पाए जाते हैं। यथा कालिदास–

वाक् और अर्थ के ज्ञान के लिए वाक् और अर्थ से सम्पृक्त जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर (शिव) की वन्दना करता हूँ।

यहाँ कालिदास 'शब्दार्थौ' न कह कर वागर्थौ कहते हैं क्योंकि ऋग्वेद में **मधुमद् वचोऽशंसीत् काव्यः कविः** ८.८.११ कहा गया है। यहाँ वेद में काव्य का अधिकरण वाक् को ही माना है। वाणी में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चारों काव्य की अनुभूति और उन्मेष में अन्वित रहती हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में वे कहते हैं **तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्** इस प्रकार चित्त से स्मरण करने पर कोई अर्थ अनुभूत होता है वह वैखरी और मध्यमा (शब्द और अर्थ) से अतिरिक्त कल्पना में ही होता है वह अर्थ कविकल्पना की तरह सहृदय में कल्पित होता है।

अर्थ सन्निवेश की दृष्टि से भारवि ने कहा है–सुकृत परिशुद्ध आगम जैसे अन्धकार में दीपक वस्तुओं को दिखाता है उसी प्रकार अर्थ शब्दों को प्रकाशित कर देता है। भारवि सामान्य सिद्धान्त को उपमान से स्पष्ट कर अपनी पदावली की विशेषता बताते हैं–मैंने पदों की स्पष्टता को दूर नहीं की है और यह भी स्वीकार नहीं किया है कि पृथक् जो अनुभूयमान अर्थगौरव है वह न रहे। मैंने भाषा में पृथक् अर्थ निकलता रहे यह भी किया है और मैंने समर्थ के भाव को तिरोहित नहीं किया है। (किराता २.२६) श्री हर्ष अनेकार्थ प्रतिपादन के लिए श्लिष्ट पदों

का प्रयोग करते हैं यथा- **आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्?** इसे विद्वान् ही समझ सकते हैं जिन्हें पयार्यवाची शब्दों का भरपूर ज्ञान हो। माघ कहते हैं–**'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।'** जैसे कवि शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान रखता है उसी प्रकार भावक विद्वान् को भी शब्दार्थों का ज्ञान होना चाहिए। (शिशु. २. ६६)

शब्दार्थ के विषय में प्राक्तन और नवीन कवियों और आचार्यों के भी मत हैं किन्तु विस्तारभय से यहाँ नहीं उद्धृत किए जा रहे हैं। जिज्ञासुओं के लिए दिङ्मात्र निर्देश यहाँ किया गया है। कवियों के शब्दार्थ विषयक विशेष ज्ञान के लिए मेरे साहित्य विमर्श ग्रन्थ में अनेक निबन्ध हैं, अतः यहाँ पिष्टपेषण उचित नहीं हैं।

संस्कृत व्याकरण में अर्थयुक्त पदों का निरूपण किया गया है अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक संज्ञा करने वाले दो सूत्र हैं–

'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' १.२.४५ तथा कृत्तद्धितसमासाश्च १.२.४६ इस प्रातिपदिक के लिए भी एक नियम है– **यत्रार्थवति संघाते पूर्वो भागस्तथौत्तरः। स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हः समासस्यैव तस्य चेत्॥**

(जिस अर्थवान् शब्दसमुदाय के पूर्व तथा उत्तर दोनों भाग स्वतन्त्र रूप से प्रयोग योग्य हों उसकी यदि प्रातिपदिक संज्ञा हो तो समास की ही दो अन्य की नहीं।)

जैसे राज्ञः पुरुषः के राजपुरुषः होने पर प्रातिपदिक संज्ञा पुरुष में होगी। रामादि शब्दों की 'सु' आदि प्रत्यय लगने पर विभक्ति और वचन के अनुसार अर्थों में परिवर्तन भी होता रहेगा। उपसर्ग लगने से भी धातु और शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार क्रिया पदों में भी लकार, पुरुष और वचन के अनुसार अर्थ में परिवर्तन हो जाता हैं। अंग्रेजी भाषा में इसे Morphology (मार्फालॉजी) कहते हैं।

अंग्रेजी भाषा संस्कृत की तरह समृद्ध नहीं है। संस्कृत भाषा में शब्द विचार में अर्थ विचार भी अत्यन्त गम्भीर रूप में समृद्ध है।

दीपिका– दीपिका के नाम से भी कुछ मनीषियों ने अर्थावबोध के लिए प्रयास किया है। अतः अवबोध की दृष्टि से इसके स्वरूप का भी प्रतिपादन किया जा रहा है। **दीप्यते प्रकाश्यतेऽनया शास्त्रस्यार्थ इति दीपिका।** जिससे अर्थ प्रकाशित होता है उसको दीपिका कहते हैं–

अन्धकार में स्थित वस्तु यथा दीप से प्रकाशित हो जाती है। उसी प्रकार शास्त्रगत अर्थ दीपिका से प्रकाशित हो जाता है॥१४३॥

युक्ति तात्पर्य तत्त्वोक्ति और कहीं-कहीं पूर्व पक्ष की उद्भावना और उसके समाधान के साथ ग्रन्थों पर शास्त्रज्ञाता कुछ विद्वानों द्वारा इस प्रकार दीपिका का लेखन किया है॥१४४॥

फक्किका– शब्दकल्पद्रुम में फक्किका के विषय में इस प्रकार बताया गया है–फक्किका शब्द स्त्रीलिंग में है, 'फक्क' धात्वर्थ निर्देश्य 'ण्वुल्' प्रत्यय कहा जाना चाहिए।

इस वार्त्तिक के अनुसार ण्वुल् में टाप् प्रत्यय करने पर टाप् हुआ है अतः इत्व हुआ है। उनके पर्याय **उद्य और देश्य** हैं ऐसा शब्द रत्नावलीकार का मत है जैसा कि नैषधीयचरित में कहा गया है– **फणिभाषितभाष्यफक्किका विषया कुण्डलनामवापिता।**

न्याय सम्बन्धी व्याख्या में जैसा कि कहा गया है– श्री मथुरानाथ तर्कवागीश जो न्याय के विद्वान् हैं दूसरी फक्किका को भी विस्तृत करके दिखा रहे हैं। इस प्रकार श्री मथुरानाथ ने अनुमान खण्ड की टीका करते हुए कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि फक्किका में शास्त्र की विशद व्याख्या की जाती है। पूर्वोक्त श्रीहर्ष के पद्य की नारायण टीका में फणिभाषिता का अर्थ है शेषोक्त अर्थात् पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य जो फक्किका ग्रन्थ है उस प्रकार के विषयों को शेष (पतञ्जलि) के अतिरिक्त और कोई नहीं समझ सकता। भाष्य फक्किका कुंडली को वररुचि ने किया यह प्रसिद्ध वररुचि भी पतञ्जलि का एक नाम है। इस प्रकार शास्त्रार्थ पद्धति (अर्थात् संभावित आरोपों (पूर्वपक्षों) का निराकरण करते हुए किसी शास्त्र को विधिवत् समझाना फक्किका है।) फक्किका एक प्रकार से भाष्य, टीका और व्याख्या की संयुक्त

विधा है इसे सम्बद्ध शास्त्र का प्रशस्त ज्ञाता ही रचता है॥

पञ्चिका– पञ्चिय स्वार्थे कन्+टाप् पञ्चिका। तूलनालिका जैसा कि हेमचन्द्र ने कहा है–'टीका निरन्तर व्याख्या पञ्चिका पदभंजिका' संगति पूर्ण पदों को विभक्त कर उसके आशय को बताने वाली व्याख्या को पञ्चिका या पदभंजिका भी कहते हैं। राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में कहा है– विषम पदभंजिका को पंचिका कहते हैं। यहाँ आचार्य ने विषम पद का प्रयोग किया है 'वि' उपसर्ग निषेधार्थक, विशिष्टार्थक और विशेषार्थक होता है। ऐसा प्रतीत होता है इस विषम पद में भी सभी अर्थ समाहित हैं। तभी तो इसमें पदों विग्रह के अर्थबोधादि समाहित हैं।

दैवज्ञ (ज्योतिषी) पञ्चांग को भी पंजिका कहते हैं जैसे– 'वार दुस्स्वप्न का हरण करता है नक्षत्र पाप का नाश करता है तिथि गंगासागर का योग संगम है करण सभी तीर्थ हैं जो दिन पंचिका का श्रवण करता है। इसमें जो इसके पाँचों अंगों को सुनता है उसका सर्वविध कल्याण होता है। जो नक्षत्रादि के अनुसार अपना कार्यक्रम निश्चित करता है उसका कल्याण होता है। पाँच अंगों के निरूपण वाली कृति को पंचिका या पंचाग कहा जाता है।' पहले सिलकर एक पुस्तिका बनाई जाती थी उसी में प्रत्येक पक्ष के दिन और नक्षत्रादि को लिखा जाता था इसलिए पंजिका हिन्दी में और रजिस्टर अंग्रेजी में कहा जाने लगा। यथा संभव विषम को सम और सरल बनाकर प्रस्तुत करने वाली पंजिका एक प्रशस्त व्याख्या विधा है जिसमें शास्त्र पंक्तियों को सरल बनाकर प्रस्तुत किया जाता है।

चूर्णिः– कठोर अन्न को जैसे पीसकर उसका उपयोग करने से भोज्य वस्तु की निर्मिति में सरलता हो जाती है और उसको ग्रहण करने में सुविधा होती है उसी प्रकार शास्त्र वाक्यों को प्रकृति प्रत्यय समास पर्याय आदि द्वारा अलग करके अर्थ को सरल बनाने की पद्धति को चूर्णी या चूर्णिका कहते हैं॥१४५॥

सत्तु (सेतुवा) को जैसे जल में मिलाकर सरलता से पिया जा सकता है उसमें चर्वण का आयास नहीं करना पड़ता उसी प्रकार चूर्णि

से अर्थ सरल हो जाता है। इससे शास्त्र की पंक्तियों को अल्पज्ञ शास्त्रज्ञाता भी शास्त्र ज्ञान करने में समर्थ हो जाता है॥१४६॥

चूर्ण शब्द में इन् प्रत्यय करने पर स्त्री लिंग में चूर्णि शब्द बनता है। सभी पण्डितों के तर्कों को वर्णित/खण्डित करती है अतः इसे चूर्णि कहते हैं। चूर्ण शब्द का प्रयोग हिन्दी लोकभाषा में चूरन कहा जाता है। जना, जौ, गेहूँ आदि को पीसकर भोज्य बनाने हेतु उसे पकाया जाता है तब उसका उपयोग किया जाता है बिहार में कहीं-कहीं तुरन्ता भोजनालय हैं, उनमें सत्तू खाने को परोसा जाता है। व्याकरण महाभाष्य पाणिनि के सूत्रों की जटिलता को सरल कर दिया है अतः भाष्य को चूर्णि भी कहते हैं। भाष्य का परिचय पहले दिया जा चुका है।

संस्कृतवाङ्मयपरिचयार्थं यथावत्प्रस्तूयते-
राजशेखरीयः शास्त्रनिर्देशः

काव्यमीमांसायां यायावरीयेणाचार्यराजशेखरेण द्वितीये शास्त्रनिर्देशाध्याये समग्रसंस्कृतवाङ्मये तस्य समयं यावत्प्रसिद्धानां शास्त्राणां तदवबोध-प्रक्रियाणाञ्च साधु निरूपणं सङ्क्षेपेणाकारि। निरूपणमिदं सर्वविधशोधच्छात्राणां कृतेऽत्यन्तमुपयोगि। अतोऽविकलरूपेणात्र प्रस्तूयते-

इह हि वाङ्मयमुभयथा काव्यं शास्त्रं च।

शास्त्रपूर्वकत्वात्काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत।

नह्यप्रवर्तितप्रदीपाः तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति।

तच्च द्विधा अपौरुषेयं पौरुषेयं च। अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्र-ब्राह्मणे। विवृतक्रियातन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दा विनियोगग्रन्थो ब्राह्मणम्।

ऋग्यजुःसामवेदास्त्रयी। अथर्वणश्च तुरीयः। तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः। ताः सङ्गीतमयः सामानि। अच्छन्दांसि-अगीतानि यजूंसि। ऋचो यजूंसि, सामानि चाथर्वणञ्च त इमे चत्वारो वेदाः।

इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदौ चोपवेदाः। वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो गेयवेदः। इति द्रौहिणिः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं, छन्दोविचितिः, ज्योतिषञ्च षडङ्गानि-इत्याचार्या। उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा-

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वति-अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।'

(रूपकातिशयोक्त्यमलङ्कारमज्ञात्वाऽस्य मन्त्रस्य सम्यगवबोधो न भवति, अतो वेदार्थावगमनाय नूनमेवालङ्कारशास्त्रं सप्तममङ्गं मन्तव्यमिति राजशेखराभिप्रायः। -लेखकः)

सेयं शास्त्रोक्तिः। प्रत्यधिकरणञ्च यजुः सामाथर्वणं ब्राह्मणं चोदाहृत्य भाषामुदाहरिष्यामः।

तत्र वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णयिनी शिक्षाऽऽपिशालीयादिका।

नानाशाखाधीतानां मन्त्राणां विनियोजकं सूत्रं कल्पः स च यजुर्विद्या।

शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्।

निर्वचनं निरुक्तम्।

छन्दसां प्रतिपादयित्री छन्दोविचितिः।

ग्रहगणितं ज्योतिषम्। अलङ्कारमाख्यानं तु पुरस्तात् (काव्यमीमांसाऽलङ्कारशास्त्रीयो ग्रन्थः तेनात्र तद्विषयकं निरूपणमत्रकृतमिति तस्याशयः।)

पौरुषेयं तु पुराणम्, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृतितन्त्रमिति चत्वारि शास्त्राणि।

तत्र वेदाख्यानोपनिबन्धनप्रायं पुराणमष्टादशधा।

यदाहुः-

सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः।

जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति।

(मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्।।)

मत्स्य१-मार्कण्डेय२-भागवत३-भविष्य४-ब्रह्म५-ब्रह्मवैवर्त६-ब्रह्माण्ड७-वायु८-विष्णु९-वामन१०-वराह११- अग्नि१२-नारद१३-पद्म१४-लिङ्ग१५-गरुड१६-कूर्म१७-स्कन्द१८ इति पुराणानि लेखकः।)

पुराणप्रविभेद एवेतिहास इत्येके। स च द्विधा-?

परक्रिया-पुराकल्पाभ्याम्। यदाहुः-

परक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।

स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।

तत्र रामायणं महाभारतं चोदाहरणे।

आन्वीक्षिकीं तु विद्यावसरे वक्ष्यामः (आन्वीक्षिकीतिन्यायशास्त्रम् यत्र प्रमाण-प्रमेय-संशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्त-अयवय-तर्क-निर्णय-वादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वाज्ञानान् निः-श्रेयसाधिगमः'-इतिन्याय स्यादिमं सूत्रमाधृत्य विवेचनं क्रियते।)

निगमवाक्यानां न्यायैः सहस्रेण विवेक्त्री मीमांसा। सा च द्विविधा विधिविवेचिनी ब्रह्मनिदर्शनी च। अष्टादशैव श्रुत्यर्थस्मरणात्स्मृतयः। तानीमानि चतुर्दशविद्यास्थानानि। यदुत वेदाश्चत्वारः, षडङ्गानि, चत्वारि शास्त्राणि' -इत्याचार्याः। तान्येतानि कृत्स्नामपि भूर्भुवः स्वस्त्रयीं व्यासज्य वर्तन्ते। यदाहुः-

विद्यास्थानानां गन्तुमन्तं न शक्तो
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रम्।
तस्मात्सङ्क्षेपादर्थसन्दोहयुक्तो
व्यासः सन्त्यक्तो ग्रन्थभीरुप्रियार्थम्।

सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्। इति यायावरीयः। गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च। तद्धि-शास्त्रण्यनुधावति।

'वार्त्ता कामसूत्रं शिल्पिशास्त्रं दण्डनीतिरिति,
पूर्वैः सहाष्टादश विद्यास्थानानि'-इत्यपरे।।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेतिविद्याः।

दण्डनीतिरेवैका विद्या'-इत्यौशनसाः। दण्डभयाद्धि कृत्स्नो लोकः स्वेषु स्वेषु कर्मस्ववतिष्ठते। वार्तादण्डनीती द्वे विद्ये इति बार्हस्पत्याः। वृत्तिर्विनय- ग्रहणञ्च स्थितिहेतुर्लोकयात्रायाः। 'त्रयीवार्तादण्डनीतयस्तिस्रो विद्याः' इति मानवाः। त्रयी वार्तादण्डनीत्योरुपदेष्ट्री। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्तादण्डनीतयश्चतस्रो विद्या' इति कौटिल्यः। आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता

त्रयी वार्तादण्डनीत्योः प्रभवति।

'पञ्चमी साहित्यविद्या'-इति यायावरीयः। सा हि चतसृणां विद्यानां निष्यन्दः। आभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यानां विद्यात्वम्।।

अर्हद्भदन्तदर्शने लोकायतं च पूर्वपक्षः। सांख्यं न्यायवैशेषिकौ चोत्तरः। त इमे षट् तर्काः। तत्र च तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा च। मध्यस्थयोस्तत्त्वावबोधाय वस्तुतत्त्वपरामर्शो वादः। विजिगीषोः स्वपक्षसिद्धये छलजातिनिग्रहादिपरिग्रहो जल्पः। स्वपक्षस्य परिग्राहयित्री परपक्षस्य दूषयित्री वितण्डा।

कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डस्तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। तस्यामायत्ता लोकयात्रेति शास्त्राणि। सामान्यलक्षणं चैषाम्-

सरितामिवप्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः।।

सूत्रादिभिश्चैषां प्रणयनम्। तत्र सूत्रणात् सूत्रम्। यदाहुः-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः, सूत्रविवेचनं पद्धतिः। आक्षिप्य-भाषणाद्भाष्यम्, अन्तर्भाष्यं समीक्षा, अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा। यथासम्भवमर्थ-स्य टीकनं टीका। विषमपदभञ्जिका पञ्जिका। अर्थप्रदर्शनकारिका कारिका। उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता वार्त्तिकमिति। शास्त्रभेदाः।।

(उक्तं सर्वमपि निरूपणं सङ्क्षेपेणावबोधप्रविधिसम्बद्धमेव। अतः समेषां शोधच्छात्राणां कृतेऽनिवार्यतोऽध्येतव्यं कण्ठस्थीकरणीयं च विद्यते।)

(एकेन श्लोकेन शास्त्रकविनिरूपणं राजशेखरः करोति। कविशब्दो न केवलं काव्यकर्तुरपितु विदुषोऽपि वाचकः) तद्यथा-

धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः।
धीमान्सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः
दूरदर्शी दीर्घदर्शी।। इत्यमरकोषे।

अतोऽत्र राजशेखरो वस्तुतः शास्त्रादिव्याख्यातुर्वर्णनं करोति–

'भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिलुप्तं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः।।

शास्त्रैकदेशप्रक्रिया प्रकरणम्। अध्यायादयस्त्ववान्तरविच्छेदाः। कृतिभिः स्वतन्त्रतया प्रणीता इत्यपरिसङ्ख्येया अनाख्येयाश्च।

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्टि। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य। तामौपनिषदके वक्ष्यामः।

इत्यनन्तोभियुक्तानामत्र संरम्भविस्तरः।
त्यक्तो निपुणधीर्गम्यो ग्रन्थगौरवकारणात्।।

इति द्वितीयोऽध्यायः (काव्यमीमांसायाः)

संस्कृत वाङ्मय परिचय–

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में सारगर्भित रूप में संस्कृत वाङ्मय का परिचय दिया। इतनी जानकारी प्रत्येक शोधच्छात्र को होनी चाहिए अतः काव्यमीमांसा के द्वितीय शास्त्रनिर्देश अध्याय को बिना परिवर्तन और परिवर्धन किए उसको यहाँ प्रस्तुत करना, मैंने उचित समझा। वह अंश अधोलिखित है–

संस्कृत-वाङ्मय दो प्रकार का है–

काव्य और शास्त्र। काव्य, शास्त्र का ज्ञान करने के बाद लिखे जाते हैं अतः पहले कवियों (लेखकों का शास्त्र में अभिनिवेश होना चाहिए। जैसे विना दीपक के प्रकाश के अन्धकार में कुछ नहीं दिखता उसी प्रकार शास्त्र के विना किसी तत्त्व का बोध नहीं होता।)

यह वाङ्मय दो प्रकार है- १. अपौरुषेय और २. पौरुषेय। अपौरुषेय वेद को कहते हैं जिसमें मन्त्र और ब्राह्मण हैं। विवृत क्रिया के तन्त्र वाले मन्त्र हैं। मन्त्रों के स्तुति, निन्दा और विनियोग के ग्रन्थ ब्राह्मण हैं।

ऋक्, यजुष् और साम को त्रयी कहा जाता है। (वस्तुतः विधा की दृष्टि ये तीनों क्रमशः पद्य, गद्य और गेय हैं अतः त्रयी कहा जाता है।) अथर्ववेद चौथा है। उसमें अर्थ से व्यवस्थित पाद वाली ऋचाएँ हैं। अतः उसे ऋग्वेद कहा है, गीतों के होने से साम। वह यजुर्वेद है जिसमें छन्द नहीं हैं तथा गीत भी नहीं है।

इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चार वेद हैं (इन्हें वैदिक संहिताएँ भी कहा जाता है।)

इतिहास, वेद और धनुर्वेद तथा गान्धर्ववद और आर्युवेद ये चार उपवेद हैं। वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिक पञ्चम वेद गेय वेद हैं यह द्रौहिणि का मत है।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दोविचिति, ज्योतिष ये छह वेदांग हैं ऐसा आचार्यों का मत है, उपकारक होने से अलंकार सप्तम वेदांग है, यह यायावर (राजशेखर) का मत है। क्योंकि अलंकारशास्त्र के बिना वेद को समझा नहीं जा सकता, जैसे–

सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल के फल का उपभोग कर रहा है किन्तु दूसरा कुछ नहीं ग्रहण कर रहा है। इस मन्त्र को रूपकातिशयोक्ति अलंकार के ज्ञान के बिना समझा नहीं जा सकता। (ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित अनेक काव्यानुभूति तत्त्वों के ज्ञान के बिना उनके अर्थ का ज्ञान नहीं किया जा सकता। अतः वेदावबोध के लिए भी अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान आवश्यक होने से इसे सप्तम वेदांग के रूप में स्वीकार किया जाना आवश्यक है।)

यह शास्त्रोक्ति है। प्रत्येक अधिकरण में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों का उदाहरण देकर समझाऊंगा क्योंकि काव्यशास्त्र को जानना वेद के अवबोध के लिए आवश्यक है।

वेद में वर्णों के स्थान- प्रयत्न आदि के द्वारा उच्चारण की निष्पत्ति का निर्णय करने वाली शिक्षा आपिशालीयादि हैं।

(पाणिनीय शिक्षा तथा स्वयं की कारिकाएँ उच्चारण के सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्र की व्याख्या पद्धति में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित हैं वहां पाणिनीय शिक्षा के मुख्य उर, कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ और उनके विभागों का सचित्र उल्लेख है वहाँ से इसे देंखे।)

विविध वेद की शाखाओं के अधीत मन्त्रों का विनियोजक सूत्र कल्प कहा जाता है वह यजुर्विद्या है। (यजुर्वेद से ही गृहीत रुद्राष्टाध्यायी है जिसके मन्त्र का अनुष्ठान कल्पशास्त्र में विहित है।)

शब्दों का अन्वाख्यान व्याकरणशास्त्र में किया गया है। (व्याकरण की प्रसिद्ध व्युत्पत्ति है–**व्युत्पाद्यन्ते व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।** इसका मूल ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी है। जिसमें माहेश्वर सूत्र 'अ, इ, उ, ण्') आदि चौदह सूत्र पाणिनि के सन्धि आदि के प्रकरणों में अच् और हल् (स्वर और व्यंजन) के साथ क से लेकर म तक जो स्पर्श व्यंजन हैं उनका भी उपयोग किया है। प्रायः जीभ के सीधे होने, मुड़ने की स्थिति से देवनागरी लिपि निर्मित है '।' पूर्णविराम सा चित्र प्रायः 'अ' स्वर से मिले व्यंजन को बताता है जैसे 'क' और क्क इनमें 'क' अ से युक्त है किन्तु दूसरे में पहला क आधा है अर्थात् अकार रहित है। टवर्ग में गोलाई इसलिए है क्योंकि जीभ ऊपर उठकर मूर्धा को छूती है अतः कुछ दूर टवर्ग के अक्षर सीधे सीधे रहकर गोले से बने रहते हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषा और उसकी लिपि देवनागरी का लोहा सारा संसार स्वीकार करता है। इस भाषा का लेखन और उच्चारण भी समान होता है बट और पुट जैसी समस्या नहीं है।

निरुक्त को निर्वचन कहते हैं। (यास्क का) निरुक्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यास्क प्रायः सभी शब्दों को धातुज मानते हैं। कुछ अनुरणनात्मक शब्दों को भी यास्क ने उदाहरण दिए हैं जिनमें उनकी संज्ञाओं की अन्विति बताई है। जैसे नदनाद् भवन्ति नद्यः, पतनात् पत्रम्।

छन्दों (वृत्तों) का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को छन्दोविचिति कहते हैं।

ग्रहगणित को ज्योतिष कहते हैं।

अलंकार को राजशेखर (सप्तम अंग मानते हैं। उसके लिए कहते हैं कि वह वेदांग काव्यशास्त्र तो मेरी काव्यमीमांसा है ही।)

पौरुषेय तो पुराण हैं, आन्वीक्षिकी (न्याय) मीमांसा, स्मृति, तन्त्र ये चार शास्त्र हैं। उसमें प्रायः वेदों के उपाख्यानों का उपनिबन्धन किया गया है जैसा कि कहा गया है–

सर्ग, प्रतिसंहार, कल्प, मन्वन्तर, वंशविधि, संसार की इन स्थितियों का जिसमें वर्णन किया गया है उसे पुराण कहते हैं।

इन अठारह पुराणों को स्मृति में रखने के लिए एक श्लोक याद रखना चाहिए वह इस प्रकार है–

(मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक-पृथक्॥)

१. मत्स्य, २. मार्कण्डेय, ३. भागवत, ४. भविष्य, ५. ब्रह्म, ६. ब्रह्मवैवर्त, ७. ब्रह्माण्ड, ८. वायु, ९. विष्णु, १०. वामन, ११. वाराह, १२. अग्नि, १३. नारद, १४. पद्म, १५. लिङ्ग, १६. गरुड, १७. कूर्म, १८. स्कन्द। यही अठारह पुराण हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि पुराण का ही एक भेद इतिहास है। वह दो है–परक्रिया और पुराकल्प।

परक्रिया एक नायक पर आधारित होती है और पुराकल्प में अनेक नायक होते हैं। इसके उदाहरण क्रमशः रामायण और महाभारत को दिया गया है।

आन्वीक्षिकी (न्यायशास्त्र) का निरूपण विद्या के निरूपण में करेंगे। (गौतम ने न्याय के आदि सूत्र में सोलह तत्त्व माने हैं–प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती हैं। इन्हीं तत्त्वों का विवेचन न्याय में किया जाता है।)

हजारों वेदवाक्यों द्वारा जो विवेचन करती है उसे मीमांसा कहा जाता है। यह दो प्रकार की है, एक विधि का विवेचन करने वाली तथा दूसरी ब्रह्मतत्त्व का निरूपण करने वाली। इसे पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (या वेदान्त) कहा जाता है। यही चतुर्दश विद्यास्थान हैं।

चतुर्दश विद्यास्थानों के सन्दर्भ में राजशेखर इस प्रकार विचार करते हैं–वेद चार हैं और चार शास्त्र ऐसा आचार्यों का मत है। ये सभी धरती, अन्तरिक्ष और स्वर्ग तक सम्पृक्त हैं जैसा कि कहा गया है–

'सभी विद्यास्थानों को ज्ञात करना, उसे पूरी तरह जानना यदि मनुष्य सौ साल अथवा हजार साल जीवित रहे तब भी संभव नहीं है। इसीलिए इन शास्त्रों का संक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत किया है।'

सकल विद्यास्थानों में एक आयतन पञ्चदश (पन्द्रहवाँ) विद्यास्थान काव्य विद्यास्थान है- ऐसा यायावर (राजशेखर) का मत है। गद्य पद्यमय होने से, कवि का धर्म (कर्तव्य) होने से और हितोपदेशक होने से वह काव्य शास्त्रों का अनुगमन करता है। (वस्तुतः काव्य के मुख्य पात्र नायक के चरित विकास में भारतीय विशेषतः मानव-धर्म (कर्तव्य) शास्त्र सर्वथा अन्वित रहता है जैसे वाल्मीकि रामायण के प्रथम श्लोक में तपःस्वाध्यायनिरत वाग्विदांवर मुनिपुंगव नारद से आदिकवि वाल्मीकि काव्य नायक का नाम पूँछते हैं किन्तु उनके बताने के पहले वे उसका स्वरूप स्वयं बताते है–

कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञस्य सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥

आगे के तीन पद्य भी इसी से सम्बद्ध हैं जिसमें मनु प्रतिपादित विश्वमानवीय कर्तव्य के दश घटकों से अधिक का उल्लेख करते हैं–

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

–मनुस्मृति ६.९२॥

यही गुण विश्व के सभी मनुष्यों में मनु ने अनिवार्य माना है।

इनमें किसी एक के कम होने पर भर्तृहरि ने कहा है– **'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।'** वस्तुतः शास्त्रों में जो मानव धर्म (कर्तव्य) आदेशात्मक रूप से प्रतिपादित हैं कवि उसे नायक चरित विन्यास में व्यावहारिक रूप से पल्लवित करता है। इसीलिए यहाँ राजशेखर ने सभी विद्यास्थानों का आयतन काव्यविद्या को कहा है।)

'वार्ता, कामसूत्र, शिल्पिशास्त्र और दण्डनीति' इनके पूर्व प्रतिपादित चतुर्दश विद्याओं को जोड़कर कुछ विद्वान् अठारह विद्यास्थान बताते हैं।

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति ये विद्याएँ हैं–ऐसा आचार्यों का मत है किन्तु शुक्राचार्य मतावलम्बिओं का मत है कि दण्डनीति ही एक विद्या है क्योंकि दण्ड के भय से ही सारा संसार अपने कर्मों में स्थित रहता है। वार्ता और दण्डनीति दो ही विद्याएँ हैं ऐसा बृहस्पति को मानने वालों का मत है। वृत्ति और विनय ग्रहण लोक यात्रा की स्थिति का हेतु है। त्रयी, वार्ता और दण्डनीति यह मनु को मानने वालों का मत है। त्रयी, विद्या और दण्डनीति उपदेष्ट्री है। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार विद्याएँ हैं–ऐसा कौटिल्य (विष्णुगुप्त) का मत है। आन्वीक्षिकी (न्याय) से विवेचित त्रयी (वेद) वार्ता और दण्डनीति से उत्पन्न होती है।

आचार्य राजशेखर का मत है कि पूर्वोक्त चार विद्याओं के साथ एक विद्या और जोड़ी जानी चाहिए वह है साहित्य विद्या। वह चारों विद्याओं की स्रोत है। इन विद्याओं से ही धर्म और अर्थों की स्थिति सुचारु रूप से प्रवर्तित होती है यही विद्यात्व है। (तात्पर्य यह है कि विधिविहित ज्ञान से जीवन सुचारु रूप से चलता है।)

जैन, बौद्ध और चार्वाक् वैदिक दर्शन के पूर्वपक्ष हैं। सांख्य, न्याय और वैशेषिक उनके उत्तर पक्ष हैं। यह छह तर्क हैं। इसके कथनीय तत्त्व हैं–वाद, जल्प और वितण्डा। मध्यस्थों के तत्त्वबोध के लिए (वस्तु तत्त्व के बोध के लिए) वस्तुतत्त्व का परामर्शवाद है। जीतने वाले के लिए अपने पक्ष की सिद्धिहेतु छल, जाति निग्रहादि का परिग्रह जल्प है। स्वपक्ष की परिग्रहयित्री पर पक्षदूषयित्री वितण्डा है।

कृषि, पशुपालन और व्यापार को वार्ता कहा जाता है। आन्वीक्षिकी और त्रयी वार्ता (व्यापारादि) ये योग और क्षेम के साधन हैं दण्ड उसकी नीति है। दण्ड (सजा देने के नियम/विधि) को दण्डनीति कहते हैं। उस पर आधारित लोकयात्रा (लोक/जनता की प्रगति उसको अग्रेसर करना राष्ट्र का विकास करना) यही सब शास्त्र कहे जाते हैं। (शास्त्र का अर्थ है शासन करना या शंसन करना) इन सभी का सामान्य लक्षण है–

जिस प्रकार नदी का प्रवाह प्रारंभ में बहुत पतला होता है जैसे-जैसे वह नदी आगे बढ़ती है उसका प्रवाह विपुल (विशाल) हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्रों का प्रारंभ पहले छोटा होता है फिर वही बाद में विशाल आकार धारण कर लेता है ऐसा ही शास्त्र का प्रवाह बढ़ते रहना वन्दनीय होता है॥

सूत्र और कारिकाओं में शास्त्रों का निरूपण किया जाता है। संक्षिप्त रूप कहने के कारण सूत्र कहा जाता है (जैसे पतले सूतों से विशाल आकार का पर्दा बन जाता है उसी प्रकार अनेक सूत्रों को मिलाकर विस्तृत शास्त्र बन जाता है।)

'जो कम अक्षरों में कहा जाता है, जो असंदिग्ध होता है, जिसमें सार रूप में कहा जाता है फिर भी व्यापक होता है, विकीर्ण होने पर भी अनवद्य होता है, को सूत्र कहते हैं।'

सूत्रों के सम्पूर्ण सार का विवरण वृत्ति कही जाती है। सूत्र के विवेचन को पद्धति कहते हैं (उसका प्रयोग कर तदनुसार भाषा या अन्य विधानों की स्थिति पद्धति है। अपने शास्त्र पर स्वयं संभावित विरोधी मत का खण्डन करते हुए शास्त्र को समझाना भाष्य है, अन्तर्भाष्य को समीक्षा कहते हैं, उसमें अवान्तर अर्थ का विच्छेद किया जाता है। यथासम्भव अर्थ ठीक तरह से समझाना टीका है। विषम पदों का भंजन (विग्रह) करना समझाना पञ्जिका है। शास्त्रीय सिद्धान्तों का पद्यबद्ध वर्णन करना कारिका कही जाती है। उक्त, अनुक्त और दो बार उक्त पर विचार करना वार्त्तिक है। ये सभी शास्त्रों के भेद हैं।)

(उक्त शास्त्रीय निरूपण इस ग्रन्थ में इसलिए यहाँ किया गया है किसी संस्कृत भाषा के शोधच्छात्र के लिए इसका स्मरण रखना आवश्यक है। कभी उपमान के रूप में संस्कृत कवियों ने इनका उल्लेख किया है तथा शास्त्रीय अध्ययन में विविध प्रक्रियाओं और पद्धतियों में इनकी आवश्यकता होती है। यहाँ (काव्यमीमांसा में) शास्त्रकवि का भी निरूपण राजशेखर करते हैं। यह जान लेना आवश्यक है। अमरकोश में कवि शब्द के प्रर्यायवाची इस प्रकार हैं–

विद्वन् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधी कोविदो बुधः।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः॥

धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः।
दूरदर्शी दीर्घदर्शी .....।।

अतः राजशेखर शास्त्रादि के व्याख्याकार को शास्त्र कवि कहते हैं।

जो लीन अर्थों को विस्तृत करता है समभिलुप्त को स्फुटित (प्रकाशित) करता है, अल्प को अनल्प करता है अनल्प (विस्तृत) को अल्प कर देता है, उसे शास्त्र कवि कहा जाता है।

शास्त्र के किसी क्षेत्र की प्रक्रिया को प्रकरण कहते हैं, अध्याय आदि इसके अन्य भेद हैं। विद्वानों द्वारा रचित इतने अधिक ग्रन्थ हैं कि उनकी संख्या और नाम बताना संभव नहीं है उनकी गणना नहीं की जा सकती।

शब्दार्थों के यथावत् सहभाव की विद्या को साहित्यविद्या कहते हैं। उप विद्याएँ चौसठ हैं उन्हें कला कहा जाता है ऐसा पण्डित मानते हैं। वह काव्य का जीवन है, (अर्थात् काव्य इन्हीं कलाओं पर आधारित है काव्य को काव्य क्रिया, क्रियाकल्प या क्रिया भी कहा जाता था।) वाल्मीकि रामायण तथा कतिपय शास्त्रीय ग्रन्थों में क्रिया या क्रियाकल्प शब्द प्रयुक्त है। राजशेखर कहते हैं कि इसका वर्णन औपनिषदिक प्रकरण में करेंगे–

इस प्रकार शास्त्रादि हैं उनमें निरूपण भी बहुत विस्तार से है उसे हमने छोड़ दिया क्योंकि सभी को बताना संभव नहीं है उसे छोड़ दिया वह चतुर लोगों के लिए बोध गम्य है। यहाँ ग्रन्थ का विस्तार हो जाता अतः हमने छोड़ दिया है।

इस प्रकार काव्य मीमांसा का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीयाधिकरणम्

पाण्डुलिपेरनुसन्धानम्

लेखपत्रं यथाकालं किञ्चित्पीतं भवत्यतः।
पाण्ड्वाभे लिप्तवर्णानां संज्ञा पाण्डुलिपिः कृता।।१।।

आदिकाले श्रुतं स्मृत्वा ज्ञानरक्षा कृता बुधैः।
अतो वेदः श्रुतिः सर्वैरिदानीमुच्यते जनैः।।२।।

अक्षराणां हि सङ्केतचिह्नं च लिपिनामतः।
यथायथं बुधाः सर्वे स्वलेखार्थमवारिषुः।।३।।

लिप्यामक्षरसङ्केतैर्ज्ञानं लिपिमयं कृतम्।
अक्षराणाञ्च विन्यासो वृक्षत्वचि च पत्रके।।४।।

कर्गदे वसने काष्ठे चाश्मपट्टे च चर्मणि।
सुवर्णे रजते ताम्रे कांस्ये चापि हि कारितः।।५।।

पात्रमुद्रादिषु प्रायो लिपिर्नव्या पुरातनी।
सर्वासां च लिपीनां वै पठनं चानुशीलनम्।।६।।

तत्पाण्डुलिपिविज्ञानक्षेत्रमेवानुवर्तते।।७।।

प्रस्तरे टङ्कितो लेखोऽभिलेख इति कथ्यते।
पत्रकर्गदलेखस्य संज्ञा पाण्डुलिपिर्मता।।८।।

धातुषूट्टङ्कितो लेखः पत्रमित्यभिधीयते।
दानविषयको लेखो दानपत्रमितीर्यते।।९।।

योग्यतायाः प्रमाणे च स्वागते ह्यभिनन्दने।
अनुबन्धे च सन्धौ च पत्रशब्दः प्रयुज्यते।।१०।।

इतिहासदिशा नूनं पत्राण्येतानि प्रायशः।
शोधार्थिभिः प्रयुज्यन्ते तथ्योन्मीलनहेतवे।।११।।

लिपिशब्दप्रयोगः सूत्रकालत एव प्रारब्धः अष्टाध्याय्याः ४.१.४९ सूत्रवार्तिके यवनलिप्यां यवनानां लिपिः यवनानीति। **लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्।** रघुवंशे (३.२८)

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्। नैषधीयचरिते (१.४५) इत्यादिरूपेण लिपेरुल्लेखः प्राप्यते। लिप्धातौ-इक्-प्रत्यये कृते लिपिशब्दो व्युत्पद्यते। हिन्दीभाषायां 'लीपा-पोती, लीपना'-इत्यादिरूपेणाद्यापि प्रयोगः श्रूयते। चित्रे तूलिकया विविधवर्णानि लिप्यन्तेऽतो लेखनीतोऽक्षराकारनिर्मितौ लिपिशब्दो रूढिं गतो वरीवर्ति। आङ्ग्लभाषायां MANU तथा SCRIPT शब्दयोगाद् MANUSCRIPT (मेन्यूस्क्रिप्ट) इति शब्दः पाण्डुलिपिबोधको जातः। हस्तलेखकृतेऽधुनापि पाण्डुलिपिशब्दः प्रयुज्यते।

पाण्डुलिपेरितिहास-सम्पादन-पाठलोचनादि विषये दिनेशेन रामगोपाल-शर्मणा सम्पादितं पुस्तकं-'पाण्डुलिपिसम्पादनकले'ति हिन्दीशोधपत्र-सङ्ग्रहात्मके ग्रन्थे (प्रभातप्रकाशनदिल्लीतः प्रकाशिते) सप्तदश निबन्धेषु महती ज्ञानपूर्णा सामग्री सङ्कलिता विद्यते। निबन्धा एते प्रशस्तैर्विद्वद्भिः प्रणीतास्ते चैवं विद्यन्ते-

१. पाण्डुलिपिसम्पादनकला-डॉ० रामगोपालशर्मा 'दिनेश'

२. पाण्डुलिपियों का महत्त्व और सुरक्षा-डॉ० मनमोहन सहगल

३. पाण्डुलिपियों का सम्पादन-डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन

४. पाण्डुलिपि सम्पादन की समस्याएँ-डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस'

५. पाठालोचन समस्या और समाधान-श्रीकृष्णचन्द्रशास्त्री[१]

६. पाठालोचन की प्रक्रिया-आचार्य डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

---

१. डॉ० कृष्णचन्द्रशास्त्रिणा स्वकीये 'पाठालोचन की समस्या और समाधान' इत्यालेखे श्रीमद्भगवद्गीताया एकं पद्यमुद्धृत्य शाङ्करभाष्यस्यापि-उदाहरणं प्रदत्तम् तच्चिन्तनीयम्-'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव। हे सखेति अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि'- इस श्लोक में

७. पाठ निर्धारण विधि और प्रयोग–डॉ०कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय

८. पाण्डुलिपियों का प्रतिलिपि कार्य–डॉ० ब्रजमोहन जावलिया

९. पाण्डुलिपि विज्ञान–डॉ० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया

१०. प्राकृत पाण्डुलिपियों की कतिपय विशेषताएँ–डॉ० प्रेमसुमन जैन

११. पाठान्तर पद्मावत का सन्दर्भ–डॉ० भगवती प्रसाद सिंह

१२. पंजाब में उपलब्ध हिन्दी पाण्डुलिपियों का सम्पादन–डॉ० मनमोहन सहगल

१३. पाण्डुलिपि सम्पादन : आधुनिक सन्दर्भ में–डॉ० रमेश कुन्तल मेघ

१४. भारतीय पाठालोचन की मूलभूत समस्याएँ–डॉ० आनन्द मंगल बाजपेयी

१५. पाठ सम्पादन कला की अपेक्षाएँ–डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

१६. भारतीय पाठालोचन डॉ० कत्रे–डॉ० हेमेन्द्र पानेरी

एते निबन्धाः पाण्डुसम्पादनशोधकार्ये लग्नैश्छात्रैरवश्यमवलोकनीयाः ग्रन्थविस्तरभयात् पिष्टपेषणभयाच्च पठित्वापि मयैतैषां निबन्धानामनुहरणं नाकारि।

महिमानं और इदं विशेष्य विशेषण द्रष्टव्य है महिमा शब्द पुंल्लिगी हैं जबकि उसके लिए यहाँ 'इदं' नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है, यह वैयधिकरण्य सम्बन्ध वाला प्रयोग संस्कृत भाषा के लिए दोषपूर्ण है किन्तु इसका पाठान्तर भाष्यकार आद्यशंकराचार्य को भी नहीं मिला। उन्होंने इस श्लोक पर भाष्य करते हुए स्वीकार किया कि यदि 'इदं' की जगह 'इमं' पाठ होता तो अच्छा रहता।

वस्तुतः 'इदं' पदं महिमानमितिपदेन सम्बद्धमेव नास्ति तस्य सम्बन्धः प्रथमपादेनास्ति–'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तमित्यनेन नान्वितम्–'इदं' पदम्। अत्रार्जुनः कथयति यत्–तव महिमानमजनता सखेति मत्वा हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति प्रमादात्प्रणयेन वापि मया(इदं) यदुक्तम्। अग्रिमे पद्येऽर्जुनः कथयति.....तत्क्षामये त्वामहमप्रेयम्' अर्थात् क्षमां याचते। शङ्कराचार्येण वैयधिकरण्येन सम्बन्धः स्वीकृतः। अर्थात् पाठालोचनदिशा न–असाधु।

लिपिचिह्नेष्वेकरूपता नास्ति। सिन्धुसम्भताया: समयेऽपि लिपिप्रयोगो भवन्नासीत्। तत्कालिकी पत्रादि लिखिता लिपिस्तु समाप्ता किन्तु प्रस्तरे पक्वमृतिकाभाण्डेषु लिपिसङ्केत: प्राप्यते, यत्पठनमसम्भवप्रायम्। वेदादि रक्षा तु कण्ठस्थीकरणेन श्रुत्या च जाता। वेदवाक्यानां प्रामाण्यं पुरातत्त्व-सामग्रीतोऽपि प्राक्तनं पुरातत्त्वविदो मन्वते। ब्राह्मीखरोष्टीशारदादि लिपित: पूर्वमपि काश्चिल्लिपय आसन्। देवनागरीलिपेर्यदि धातुतो निर्मितिर्भवेत् तदा प्रायशस्तदा ककारात्खकार: चकाराच्छकार टकाराट्ठकार: तकारात्थकार: पकारात्फकार: भारदिशाप्यधिकभारयुतोऽनुभूयते। प्रत्यक्षदर्शनेऽपि तेषां वर्तुलत्वमृजुरेखया क्रियतां तदा द्वितीय चतुर्थवर्णयो: ऋजुरेखा नूनमेवाधिका भवति। अतो 'द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणा:'- इति कथनमन्वितं भवति किन्तु रोमनलिपे: (ए.बी.सी.डी.)-इत्यादौ न तादृशी स्थिति:। यस्य वर्णस्योच्चारणेऽधिको वायुर्वाग्यत्रमपेक्षते तस्याकाराङ्कनमपि दीर्घतरं भवति। देवनागर्या: वर्णोच्चारणे कश्चिदतिवैज्ञानिक: क्रमो विद्यते। उरस: प्रारभ्य ह्योष्ठं यावदस्या: (देवनागर्या लिप्या:) क्रमो दृष्यते। यत्र वायोरवरोधो वागङ्गै: क्रियते तदेव तस्य वर्णस्योच्चारणस्थानं भवति। सूत्रेषु वर्ण-समाम्नायोऽकारेण प्रारभ्य हकारे समाप्यते। अकारेऽल्पो वायुर्हकारे चाधिको नि:सरति। एवं संस्कृतभाषाकृते सम्प्रतिप्रयुज्यमाना लिपिरुत्तमा विद्यते। संस्कृतभाषा यथा लिख्यते तथैव पठ्यतेऽत उच्चारणमाश्रित्य लिप्यङ्कने भाषेयमुत्तमेति भाषाविदां मतम्।

३.१.२ पाण्डुलिपिप्रकारा:

आधारमाकृतिं लेखशिल्पं रूपाङ्कनं तथा।
समाश्रित्य प्रकारोऽस्याश्चतुर्धा परिकल्पिता:।।१।।

२.१ आधार:-

गुहाभित्तौ शिलापट्टे मृत्तिकाफलके तथा।
स्तम्भे च भूर्जपत्रेषु धातौ चान्यतरुत्वचि।।२।।

चर्मणि कर्गदे वस्त्रे ताडपत्रेषु चाङ्किता:।
लिखिता: प्राक्तना: प्राय: साम्प्रति कर्गदाश्रिता:।।३।।

३.१.३ आकृतिः-

आयता लम्बमानाश्च वर्तुला मुष्ठिमेयकाः।
सम्पुष्टाश्छिद्रमध्याश्च दृश्यन्ते चाधृता इमाः।।४।।

३.१.४ लेखनशिल्पम्-

प्रायो ब्राह्मी खरोष्ठी च प्राक्तन्यौ, देवनागरी।
बङ्गोत्कलादिदेशीयाः प्राप्यन्ते लिपयोऽधुना।।५।।

आदावन्ते च मध्ये च चित्राणां योजना क्वचित्।
अधरोत्तरपार्श्वेषु रेखाङ्कनमपि क्वचित्।।६।।

प्रायः सुवाच्यवर्णानां लेखनं दृश्यते परम्।
भाषाऽपि शुद्धरूपैव लिख्यते मूललेखकैः।।७।।

३१.५ पृष्ठरूपाङ्कनम्-

प्रायोरूपाङ्कनं तासामष्टरूपेण दृश्यते।
ऋजुरेखा युतं प्रायो ह्यङ्कनं तासु विद्यते।।८।।

क्वचित्कलात्मकं रूपं सौन्दर्याय विलोक्यते।
अष्टरूपेण लिप्यन्ते प्रायो ह्येताः कलात्मिकाः।।९।।

त्रिपाठा पञ्चपाठा च शुण्डाकारा सचित्रका।

स्थूला सूक्ष्मा च रूप्या च स्वर्णिताश्चाष्टविधा इमाः।।१०।।

त्रिधा लिखिता त्रिपाठा-मूलग्रन्थः स्थूलाक्षरैः टीकाव्याख्या च सूक्ष्माक्षरैः, अन्यकथ्यमतिसूक्ष्माक्षरैर्यस्यां पाण्डुलिपौ लिख्यते तदा सा त्रिपाठा भवति।

पञ्चपाठा-मूलग्रन्थः स्थूलाक्षरैरुपरि-अधो वामपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे सूक्ष्माक्षरैर्लिख्यते सा पञ्चपाठा भवति।

हस्तिशुंडवद्वर्तुलान्यक्षराणि कलात्मकरूपेण यत्र लिख्यते सा शुण्डाकारा कथ्यते।

यथायथं मध्ये पार्श्वे-एकस्मिन् पृष्ठे वा सम्बद्धानि चित्राणि यत्र चित्रीयन्ते सा सचित्रा पाण्डुलिपिः कथ्यते। प्रायस्तु समानाक्षरैर्लिखिता एव

पाण्डुलिपयः प्राप्यन्ते। यासु पाण्डुलिपिषु सूत्राणि चित्राणि दृश्यन्ते तेषां छायाचित्राणि विधाय तेषां संरक्षणमपि करणीयमित्युचितम्। कुत्रचित् कर्मकाण्डदिशा नवग्रहादीनां मूर्तीनां चित्राणि प्राप्यन्ते। तान्यपि प्रेरकाणि-मार्गदर्शकानि च वर्तन्ते। यथा शिवलिङ्गस्य जलप्रवाहः सदा उत्तरस्यां दिशि भवति। अतश्चित्रं दृष्ट्वा पुरोहितः तथैव शिवलिङ्गस्थापनां कारयिष्यति। नवग्रहसर्वतोभद्रादिचित्रेषु दिग्ज्ञानं वर्णज्ञानमाकारज्ञानं कृत्वा तेन नवग्रहादि-चित्रीकरणे सौकर्यं भवति। चित्रे सदा उपरिभाग उत्तरदिक् अधोभागो दक्षिणदिग्भवति। अतः पूर्वपश्चिमदिग्ज्ञानं स्वयं भवति। अतः कर्मकाण्ड-विधानमयी पाण्डुलिपिः सचित्रैव मुद्रणीयेति साधु।

वास्तुशास्त्रे नगररचनाविधानादिविषयसम्बद्धासु पाण्डुलिपिषु रेखाचित्राणि कृतानि विद्यन्ते रेखागणितग्रन्थेऽपि चित्राणि प्राप्यन्ते। बहवो विषयाः सन्ति यत्र रेखाङ्कनादिच्छायाचित्राणि वा विद्यन्ते सम्पादने समेषां तेषामपि प्रकाशनं स्याद्। वेदमन्त्रेऽपि-स्वराङ्कनमुदात्तानुदात्त-'गुं' (ङ्) इत्यादीनां सङ्केतचिह्नानि सम्पादनेऽवश्यं योजनीयानि सन्ति। स्वराङ्कनं विना वेदमन्त्राः कदापि न सम्पादनीयाः, लेखकदोषविमर्शे 'इन्द्रशत्रुवर्धस्व'-इति मन्त्रोच्चारणदोषविषये महाभाष्यकारमतं पूर्वं समुद्धृतम्।

मन्त्रादिप्रतिलिपिकरणे क्वचित्स्वराङ्कनं विद्यते तदा सम्पादने शुद्धसंहितापाठं विलोक्याथवा स्वरज्ञसहायतया सम्पादनं विधेयम्। योगशास्त्रीय-ग्रन्थेषु प्रायो योगासनचित्राणि भवन्ति। अतः सम्पादनेऽप्याकृतयोऽवश्यं देया एतेन चित्राणि दृष्ट्वा योगासनकरणे सौविध्यं भविष्यति।

३.२ पाण्डुलिपेः सम्पादनम्

याः पाण्डुलिपयो दिव्या लोकशास्त्रोपकारिकाः।
तासां सम्पादनं नूनमुचितं ज्ञानवृद्धये।।१।।

तत्प्रतिलिपयश्चान्या लभ्यन्ते यत्र कुत्रचित्।
ताः सङ्गृह्य दृष्ट्वैव सम्पादनमपेक्ष्यते।।२।।

पाठभेदा यदि प्राप्तास्तानुद्धृत्य यथायथम्।
'क' 'ख' 'गे'त्यादिरूपेण प्रतिसङ्केतपूर्वकम्।।३।।

उचितं पाठमाश्रित्य तत्सम्पादनं वरम्।
पृष्ठस्य पादटिप्पण्यामन्यपाठः प्रदर्श्यताम्।।४।।

सम्यक् पाण्डुलिपिं दृष्ट्वा विषयज्ञानपूर्वकम्।
धैर्येणं सावधानेन तत्सम्पादनमीह्यताम्।।५।।

खरोष्ठीशारदाब्राह्मीबाङ्लोत्कललिपीः समाः।
ज्ञात्वा यल्लिखितो ग्रन्थः संस्कृतस्यापि विद्यते।।६।।

भिन्नता चेद्धि पाठेषु नागर्यां हि विधीय तान्।
सङ्केतः पादटिप्पण्यां तस्य नूनं प्रदीयताम्।।७।।

सम्पादने लिपेर्भाषारूपज्ञानमपेक्ष्यते।
प्रकृतिप्रत्ययज्ञानी लिपिशोधे हि कल्पते।।८।।

सम्पादकः स्वयं पूर्वं सुवाच्चैरक्षरैर्लिखेत्।
छायाचित्रं हि निःसार्यं तस्मात्तल्लेखनं वरम्।।९।।

प्रायः पाण्डुलिपीनां वै छायाचित्राणि चासते।
मूला पाण्डुलिपिर्नूनं संरक्ष्या संग्रहालये।।१०।।

३.३ शोधोपाधिकृते पाण्डुलिपिसम्पादनम्-

शोधे पाण्डुलिपौ पूर्वं लिपेः सम्पादनं वरम्।
येन समीक्षणे तस्याः प्रतिपाद्यं मतौ लसेत्।।१।।

मातृकापठने सम्यक् लेखके चापि शोधके।
तस्या वै प्रतिपाद्यं यत् स्वमभ्येति मानसम्।।२।।

तत्पाठालोचने चान्यप्रतिकृत्यवलोकने।
ग्रन्थाभ्यासो भवत्येव पाठकस्य सुधीमतः।।३।।

यां पाण्डुलिपिमाश्रित्यानुसन्धानं हि वाञ्छितम्।
शीर्षकानुगता तस्य रूपरेखा विरच्यते।।४।।

संस्थानगतशोधेषु रूपरेखास्वपेक्षिताः।
विषया ये हि विद्यन्ते ते चैवं प्रायशो मताः।।५।।

पूर्वं प्रस्तावना लेख्या ततस्तस्य प्रयोजनम्।
औचित्यं हि शोधस्य ततः प्राक्कल्पना मता।।६।।

ऐतिह्यभूमिका देया ततः सर्वेक्षणं मतम्।
शोधप्रकृतिमुन्मील्य विषयः प्रतिपाद्यताम्।।७।।

अत्र ज्ञानस्य नावीन्यं मौलिकत्वं च लिख्यताम्।
अध्यायानां क्रमो देयश्चान्ते सन्दर्भसूचिका।।८।।

उक्तासु कारिकासु प्रस्तावना, प्रयोजनम्, औचित्यम्, प्राक्कल्पना, ऐतिह्यभूमिका, सर्वेक्षणमित्यादीनां रूपरेखायां प्रतिपाद्यानामधिकरण-भूतपदानामुल्लेखः कृतो विद्यते। एतेषु किं प्रतिपाद्यमितिकृत्वा चैतेषां निरूपणमग्रिमाभिः कारिकाभिः प्रस्तूयते-

३.२.१. प्रस्तावना-

सूत्रधारो नटीं चान्यान् प्रवदन् वस्तुसूचनाम्।
आदौ नाट्ये यथाऽदत्ते तथा प्रस्तावना मता।।९।।

कथ्यं पाण्डुलिपेः कीदृक् कास्ते तदुपयोगिता।
सम्बद्धे विषये कीदृङ् नूतनोन्मेषकल्पनम्।।१०।।

कथं सम्पादनस्येहा कश्च शोधविधिः श्रितः।
इति सर्वस्य सारेण प्रोक्तिः प्रस्तावना मता।।११।।

३.२.२. प्रयोजनम्-

'प्रयोजन[१]मनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'
इत्यभ्युक्त्या समासेन पाण्डुलिपिगतं हि यत्।।१२।।

सन्मार्गप्रेरकं वा तन्नूत्नसिद्धान्तपोषणम्।
इत्यादिविषयान् श्रित्वा प्रतिपाद्यं प्रयोजनम्।।१३।।

---

१. (प्र+युज्+ल्युट्) कार्यम्। प्रयुज्करणे ल्युट्-इति मेदनी।
सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते।।
सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।

३.२.३. औचित्यम्-

अविश्रान्तं श्रमं कृत्वा सृष्टं यद् ग्रन्थरत्नकम्।
ज्ञानराशिमयं येन दिव्यं लोकोपकारकम्।।१४।।

हस्तलेखैश्च तद्रक्षा श्रमैश्चाकारि पूर्वजैः।
तस्य सम्पादनं रक्षा व्याख्यानं च प्रकाशनम्।।१५।।

एतद्धि सर्वमौचित्यं बहुधा दृश्यते हि यत्।
यथाविषयमुल्लिख्य तदौचित्यं निरूप्यते।।१६।।

३.२.४. प्राक्कल्पना*

या परिकल्पना सैव कथ्यते चाभिकल्पना।
सा प्राक्कल्पना कैश्चिदुच्यते शोधदृष्टिगा।।१७।।

कल्पनेऽयं द्विधा प्रायोऽनुसन्धाने हि दृश्यते।
पुनरुद्भाविका चैका द्वितीया रचनात्मिका।।१८।।

ऐतिह्यसाहित्यकलाकृतां यद्
विज्ञानिनां यत्कृतमस्ति तस्य।
बोधो नितान्तं हि कृतोऽस्ति यस्यां
यान्यानुगा सा पुनरुद्भवेति।।१९।।

व्याख्या टीका च भाष्यं च समीक्षाऽध्यापनं यया।
क्रियते विषयप्राज्ञैः कथ्यते पुनरुद्भवा।।२०।।

अन्यदीयविचाराणां व्याख्यादिकरणात्पृथक्।
स्वोपज्ञसर्जनं नव्यं शास्त्रादीनां यथा भवेत्।।२१।।

शक्तिः सा कथ्यते विज्ञैः कल्पना रचनात्मिका।।

ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।। प्राचां कथनम्।
प्रयोजनं द्विविधम्-अन्येच्छाधीने नेच्छाविषयत्वं मुख्यं प्रयोजनम्, अन्येच्छाधीनेच्छा-विषयत्वं गौणं प्रयोजनम्। तत्राद्यं सुखं तद्भोगो दुःखाभावश्च, द्वितीयं तदुपकारि शयनभोजनादि।

* HYPOTHESIS (हाइपॉथिसिस्)-इति आङ्ग्लभाषायाम्

अष्टाध्यायी यथा सृष्टा पाणिनिना सुधीमता।
वाल्मीकिना च संसृष्टमादिरामायणं यथा।।२२।।

३.२.५. ऐतिह्यभूमिका-

पाण्डुलिपेर्हि कः कर्त्ता तत्तिथिः का च विद्यते।
लिख्यन्ते साररूपेण लिपिभाषाप्रवृत्तयः।।२३।।

बाह्याभ्यन्तरसाक्षैश्च प्रतिपादनमिष्यते।
ग्रन्थस्य रचनाकारकथितं यद्विलोक्यते।।२४।।

अन्तःसाक्ष्यं हि तज्ज्ञेयं, चान्यत्प्रोक्तञ्च बाह्यगम्।
अन्यग्रन्थप्रभायुक्ता ह्यथवा मौलिकी कृतिः।।२५।।

अस्यामाधारिता ग्रन्था इति कालाद्धि बुध्यते।
ऐतिहासिकबोधोऽतः शोधे सम्यगपेक्ष्यते।।२६।।

३.२.६. सर्वेक्षणम्-

पाण्डुलिपेर्हि शोधे वा सम्पादनविधौ ध्रुवम्।
सम्बद्धानां कृतीनां च शोधानां समवेक्षणम्।।२७।।

अनिवार्यतया कार्यं सुगमान्वितिहेतवे।
अन्तर्जालेऽथवा गत्वा सम्बद्धान् पुस्तकालयान्।।२८।।

शोधग्रन्थादितो ज्ञानं सम्बद्धं च विधीयते।

कृतशोधप्रबन्धेभ्यो विषयग्रन्थदर्शनात्।
सम्पादनस्य शोधस्य सृतिर्भव्या हि लभ्यते।।२९।।

स्वशीर्षकयुतः कश्चिच्छोधबन्धो ह्यवाप्यते।
तदा स्वशीर्षकं त्यक्त्वा चान्यं स्वीकुरुते प्रधीः।।३०।।

कुर्यान्निर्देशकं पृष्ट्वा विषये भिन्नदृष्टिगम्।
काव्यशास्त्रदृशा चेत्तत् सांस्कृतिकं विधीयताम्।।३१।।

अतः सर्वेक्षणे नूनं पिष्टपेषणवर्जितम्।
शोधकार्यं नवं कार्यमतः सर्वेक्षणं वरम्।।३२।।

छायाङ्कनस्य यन्त्राणि यथा सन्ति पदे-पदे।
तथैव शोधकार्यस्य चान्तर्जालेऽस्ति सूचना।।३३।।

यतो हि मौलिकः शोधः करणीयो यथामति।
अनुकृत्या प्रबन्धस्य प्रस्तुतिर्नोचिता मता।।३४।।

३.२.७ शोधप्रकृतिः

स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गः प्रकृतिर्मता।
प्रकृतेर्बुद्धिरुद्भूता ह्यतोबुद्धिः स्वभावजा।।३५।।

प्रकृतिप्रत्ययाप्तिश्च धातुप्रत्ययसन्निधिः।
एवं मूला समस्या या शीर्षके प्रतिपादिता।।३६।।

तदध्यायविधेर्युक्तिः शोधप्रकृतिरुच्यते।
बहवो विषयाः सन्ति संस्कृतस्याप्तवाङ्मये।।३७।।

अतो विषयमाश्रित्य शोधप्रकृतिरुच्यते।
सुपां तिङां प्रयोगाप्ता दृष्टिर्व्याकरणे मता।।३८।।

साहित्यस्य समीक्षायां प्रेरणाह्लादगा च सा।
दर्शने तत्त्वमीमांसा धर्मे विधिनिषेधता।।३९।।

नक्षत्रं ज्योतिषे शास्त्रे तत्फलं च समीक्षणे।

शोधप्रकृतिविन्यासे विषयस्यानुरूपतः।
रूपरेखादिशा चात्र तत्स्वरूपं निगद्यते।।४०।।

३.२.८ ग्रन्थपरिचयः-

ग्रन्थस्य विषयस्तस्य कर्त्तुः परिचयस्तथा।
समयो वंशवृक्षादिः कृतेर्मौलिकता तथा।।४१।।

पाण्डुलिपेर्लिपिर्नाम प्रतिरूपस्य संस्थितिः।
साक्ष्योद्धरणनिर्देशैर्लिख्यन्ते चात्र सारतः।।४२।।

३.२.९. अध्यायविभाजनम्

त्रिधा विभज्यतां बन्धः पूर्वो मध्यश्च पश्चकः।

प्रथमे पूर्वबन्धे च लिख्यन्तेऽत्रानिवार्यतः।।४३।।

शीर्षकं शोधकर्तुश्च नाम निर्देशकस्य च।
ततो मौलिकशोधस्य प्रमाणीकरणं ध्रुवम्।।४४।।

निर्देशकेन शोधस्यच्छात्रेणापि प्रदीयताम्।
प्रस्तावना च सन्दर्भग्रन्थानां सूचना तथा।।४५।।

ग्रन्थानामल्पसङ्केता उद्धरणे यथाकृतेः।
यथा रघ्विति सङ्केते रघुवंशस्य सूचना।।४६।।

श्रीमद्भेति च मात्रेण श्रीमद्भागवतं यथा।
मध्येऽनेकपरिच्छेदा उपशीर्षकसंयुताः।।४७।।

लेख्या सन्दर्भसूच्यां वै पृष्ठसङ्ख्याप्रदर्शनैः।
अन्ते प्रयुक्तसन्दर्भग्रन्थसूची प्रदीयताम्।।
कृतेः कर्तुश्च वर्षस्य प्राप्तिस्थानस्य बोधिका।।४८।।

ग्रन्थेऽस्मिन् शोधबन्धस्य विधिः सम्यङ्निरूपितः।
तन्निर्देशं समाश्रित्य शोधबन्धो विधीयताम्॥४९॥

मम 'साहित्यानुसन्धानावबोधविधौ'-पृ० २५-२९ यावत् विषयेऽस्मिन् निरूपणं वरीवर्ति। ततो द्रष्टव्यम्।।

सर्वस्मिन् विषये नास्ति साम्यं नो चैकपद्धतिः।
अतः शोध्यदिशा लेख्या रूपरेखा विवेकतः।।४९।।

सुपुत्रकविसिंहानां नानुगत्वं प्रशस्यते।
सर्वाधिकं हि साम्यं यत् तच्चात्र प्रतिपादितम्।।५०।।

३.३. पाठालोचनम्

कस्याश्चिद्धि कृतेः पाठाः प्राप्यन्ते नो समाः समे।
तेषूत्तमः कृतौ योज्यः कृतिसन्दर्भसङ्गतः।।१।।

सम्पादनकृता यत्र पाठभेदा मिलन्ति ते।
भिन्नाश्चेत्पादटिप्पण्यां देयाः सङ्केतपूर्वकम्।।२।।

आदौ 'क' 'खे' तिरूपेण प्रतिरूपस्य नामतः।
सूचना पाठबोधाय पाठकेभ्यः प्रदीयताम्।।३।।

समीहितस्य पाठस्य चयनं योजनं कृतौ।
तत्पाठालोचनं तस्य कर्त्ता सम्पादको मतः।।४।।

पाठस्यालोचने प्रायस्त्रिधा पद्धतिराप्यते।
शास्त्रीया स्वैच्छिकी चाथ तुलनात्मकरूपिणी।।५।।

३.३.१ शास्त्रीया-

शास्त्रीयं हि विधानं यदृषिभिश्च मनीषिभिः।
प्रोक्तं तद्धारते मान्यं सर्वत्रैवं हि दृश्यते।।६।।

पाठस्यालोचनं वास्तु ग्रन्थसर्जनपद्धतिः।
तत्समीक्षा च टीका वा व्याख्याभाष्यं च सर्वतः।।७।।

यथाशास्त्रं विधीयन्ते सर्वाण्येतानि भारते।
मन्यते प्रायशः सर्वैरेषा राष्ट्रपरम्परा।।८।।

यथोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतायाम्-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न पराङ्गतिम्।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। (१७.२४)

स्वैच्छिकं पाठालोचनं भवतु वा तुलनात्मकं सर्वत्र व्याकरणच्छन्दः-शास्त्रादिज्ञानमनिवार्यम्, तदाह राजशेखरः-

शास्त्रपूर्वकत्वात्काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत।
नह्यप्रवर्तितप्रदीपास्तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति।।

३.३.२ स्वैच्छिकी-

स्वैच्छिक्यां पद्धतौ चात्र पाठालोचनतो बुधैः।
मतं हि कृतिकारस्य चापनेतुं न शक्यते।।९।।

स्वविवेकतया पाठो यः कृतिकारसम्मतः।
स एवात्र हि चेतव्य इति स्वैच्छिकपद्धतिः।।१०।।

लुप्ते च त्रुटिते पाठे स्वेच्छया पाठनिर्मितिः।
यत्र हि क्रियते युक्ता स्वैच्छिकीपद्धतिर्मता।।११।।

स्वैच्छिकपाठनिर्माणे ताटस्थ्यं समपेक्ष्यते।
औचित्यं ग्रन्थतथ्येषु चार्थव्यक्तौ सुबोधता।।१२।।

ग्रन्थकारसमं भाषाशिल्पं चापि मनोहरम्।
मूलग्रन्थस्य भाषायां विजातित्वं न दृश्यताम्।।१३।।

ग्रन्थस्य विषयज्ञानी पदादिचयने प्रधीः।
काव्यस्याथ च शास्त्रस्य भाषाया लेखने पटुः।।१४।।

यदि पाण्डुलिपिः शुद्धा मूललेखकसर्जिता।
तत्र किञ्चित्पदं तस्या निःसार्यं न कदाचन।।१५।।

व्याकरणादिदृष्ट्या चेद् भाषाऽशुद्धिर्विलोक्यते।
सादेया पादटिप्पण्यां साधुनिर्देशपूर्वकम्।।१६।।

स्वेच्छा न कामचारोऽत्र स्वशास्त्रानुहृतिः परा।
वेदस्मृतिसदाचारपाणिन्यादिमता सृतिः[१]।।१७।।

३.३.३ तुलनात्मिका-

नैकानि प्रतिरूपाणि पाण्डुलिपेर्हि चासते।
तानि सङ्ग्रह्य तेष्वेव पाठालोचनमिष्यते।।१८।।

---

१. कः स्वतन्त्रो जन इति शीर्षकीकृतायां (पद्यबन्धायां प्रकाशितायां कवितायां) यथा मया प्रत्यपादि-
'यस्य तन्त्रं स्वकं स स्वतन्त्रो जनः
यस्य वेदस्मृतिः सज्जनाचारिता।
स्वस्य चास्ति प्रियह्यात्मनश्चप्रियं
स स्वतन्त्रो जनो भारतीयश्च सः।।'
पद्यमिदं मनुस्मृतिमनुसृत्य प्रणीतम्।

एका पाण्डुलिपिर्यस्य ग्रन्थस्यास्ति हि केवलम्।
तुलनात्मकरूपेण नो पाठालोचनं मतम्।।१९।।

पाण्डुलिपेर्हि चैकस्याः शास्त्रदृष्ट्या विवेकतः।
पाठस्य लोचनं साधु सम्पादनमपेक्ष्यते।।२०।।

तादृशे चान्यसन्दर्भे ग्रन्थभेदो विलोक्यते।
तस्य भेदत्वसङ्केतः टिप्पण्यां साधु युज्यते।।२१।।

प्राप्तेषु पाठभेदेषु पाठः सर्वोतमो हि यः।
स पाठालोचने ग्राह्यः कृतौ मूलनिवेशने।।२२।।

प्रकाशितग्रन्थानामपि यदा-कदा पाण्डुलिपयः प्राप्यन्ते। तासु चेत्पाठभेदाः प्राप्यन्ते तर्हि प्रकाशितग्रन्थेन सहपाठभेदेषु तुलना कार्या। प्रायशो दृश्यकाव्येषु रङ्गमञ्चदिशा रङ्गकर्मिभिरपि यदा-कदा परिवर्तनं क्रियते। प्राक्तने काले पाण्डुलिपय एव मञ्चनस्याधारभूता आसन् विभिन्नप्रदेशेषु मूलपाण्डुलिपौ देशकालदिशा परिवर्तनं कृतं दृश्यते। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' कालिदासस्य प्रसिद्धतमं नाटकं विद्यते। तस्योचितपाठसम्पादनाय भागीरथ-प्रयासे रतो गुर्जरप्रदेशीय आचार्यो वसन्तभट्टमहाशयाः शताधिकानां पाण्डुलिपीनां मुद्रितग्रन्थानां संग्रहं कृतवन्तः। पाठभेददृष्ट्यैकं पुस्तकमपि तेन प्रकाशितम्। कालिदासस्य मूलपाठान्वेषणे विदेशतोऽपि पाण्डुलिपीनां संग्रहस्तेन व्यधायि। एवं पाठालोचने सर्वाणि प्रतिरूपाणि द्रष्टव्यानि भवन्ति।

केचन कर्मकाण्डेऽपि प्रसिद्धा लौकिकमन्त्रा अपि संशोधनीया दृश्यन्ते। यथा-

माल्यादीनि सुगन्धीनि मालित्यादीनि वै प्रभो!।
मया हृतानि पूजार्थं पुष्पाणि प्रतिग्रह्यताम्।।

अत्रान्तिमे पादे 'गृहाणपरमेश्वर!' इति पाठः करणीयो विद्यते। सम्प्रति पाठसंशोधनस्याधुनिकैर्द्वे पद्धती स्वीक्रियते-

१. अन्तरङ्गसम्भावना- (Intrinsic Possiblitics)

२. बहिरङ्गसम्भावना- (Extrinsic Possibilities)

अन्तरङ्गसम्भावनायां पाठाश्चेद् विकृताः (अर्थदिशा भाषादिशा वा न शुद्धास्तदा) तत्र परिवर्तनं कर्तुं शक्यते।

बहिरङ्गसम्भावनायां पाठस्य विकृतेः सङ्केतमात्रं क्रियते।

३.४ साहित्यालोचने पाठालोचने च भेदः

आलोचनशब्द उभयत्रोत्तरपदरूपेण प्रयुक्तः किन्तु साहित्यालोचने पाठालोचने च भेदः। साहित्यालोचने समग्रायां कृतौ भाषा, भावपात्रशिल्पादि दिशा विचारो भवति किन्तु पाठालोचने केवलं पाठमाश्रित्य चेदनेकाः पाण्डुलिपयः सन्ति तासु समुचितपाठस्य चयनं कृत्वाऽन्यपाठानां पाठटिप्पण्यामुल्लेखः क्रियते। लोच् धातौ ल्युट् प्रत्यये कृते लोचन पदं भवति आङुपसर्गयोगेन-आलोचनं पदं भवति यदवलोकनार्थकः। प्रायः साहित्यिकीनां कृतीनां कृतेऽयं शब्दः (टाप् प्रत्यययुक्तः सन्-स्त्रीलिङ्गो)-आलोचना'-इतिरूपेण बहुधा प्रयुक्तो दृश्यते। पाठसन्दर्भे प्रायः आलोचनरूपेण प्रयुज्यते। यथा-पाठालोचनम्। सम्प्रत्यस्य शब्दस्यार्थापकर्षः सामान्यव्यवहारे दृश्यते हिन्दीभाषाया लोकव्यवहारे-'आलोचना'-शब्दा निन्दाकृतेऽपि प्रायः प्रयुक्तो दृश्यते। संस्कृतव्युत्पत्ति दिशा-आसमन्तादालोकनम्-'आलोचनमिति।

अन्यद्धिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमिति विद्वांसः कथयन्ति। शब्दविदः प्रायः समीक्षा शब्दं प्रयुञ्जन्ति। यथा आचार्यवागीश-शास्त्रिणो ग्रन्थः-'पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा' हिन्दीभाषायामपि 'समीक्षासमितिः' 'समीक्षाबैठक' इति रूपेण प्रयोगा वृत्तपत्रेषु दृश्यन्ते। आङ्लभाषायां 'क्रिटिकल स्टडी' इत्यस्यानुवादः-'आलोचनात्मकमध्ययनम्' इति प्रसिद्धिङ्गतः। साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधौ मयाऽऽलोचनायाः स्वरूपमेवं प्रत्यपादि-

'प्रभावग्रहणं पूर्वं विश्लेषणमतः परम्।
मूल्याङ्कनं तृतीयं स्यात्तत्वं तन्निर्णयात्मकम्।

प्रमातरि प्रभावो यः कृतेर्मूल्याङ्कने स्थितः।
तस्य प्रतिक्रियाव्यक्तिर्बुधैरालोचनोच्यते।।

आलोच्यार्थविशेषज्ञै रागद्वेषविवर्जितैः।
समर्थैः सदसद्व्यक्तौ सद्भिरेषा विधीयताम्।।' पृ.८६

पाठस्यालोचने शब्दं कृतिसन्दर्भसङ्गतम्।
दृष्ट्वा सर्वोत्तमं ग्रन्थे कर्तुं चिन्वन्ति पण्डिताः।।

३.५ पाण्डुलिपिसम्पादकार्हता-

सदास्था विषये यस्य लिपिज्ञाने च दक्षता।
भाषेतिहाससंज्ञाने चित्रज्ञानेऽपि दक्षता।।१।।

योऽर्थे मनसि निश्चिन्तः स्थिरचित्तो जितेन्द्रियः।
सम्पादनविधिज्ञश्च स्वस्थःसन्नासने दृढः।।२।।

पाठभेदे समीचीनपाठस्य चयने प्रधीः।
त्रुटितस्यापि पूर्त्तौ च समर्थो मतिमान् भवेत्।।३।।

सम्पादने लिपिग्रन्थविषयस्य विशेषताम्।
महत्तां च समाधृत्याऽसौ प्रतिपादने क्षमः।।४।।

तत्सम्बद्धे च शास्त्रादाविहासे प्रधीर्भवेत्।
स च सम्पादितस्यापि स्थितेरुन्मीलने क्षमः।।५।।

नूतनत्वं च भिन्नत्वं कृतौ यद्धि विलोक्यते।
तदन्वेषे च विज्ञो यः स वै सम्पादको वरः।।६।।

लिपेरन्तिमभागे वै कालः सङ्केत्यते बुधैः।
तत्सङ्ख्या तस्य शब्दो वा सङ्ख्याहेतौ प्रदर्श्यते।।७।।

ज्योतिषे प्रायशः शब्दैरङ्कसङ्ख्या निरूपिता।
अतः खेत्यादिशब्दानां ज्ञानं सम्पादके भवेत्।।८।।

शके च विक्रमे खीस्ते वर्षाणामन्तरं महत्।
सम्पादके भवेज्ज्ञानमिष्टवत्सरबोधकम्।।९।।

हस्तलेखः सुवाच्यः स्यात्सौविध्यं येन टङ्कणे।
पयमभेति वर्णेषु भ्रान्तिः क्वापि न जायताम्।।१०।।

महामाहेश्वरेण स्वसम्पादनशिल्पमभिनवभारत्यामेवं प्रत्यपादि-

'उपादेयस्य सम्पाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम्।
स्फुटव्याख्याविरोधानां परिहारः सुपूर्णता।।

लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशविवेचनम्।
सङ्गतिः पौनरुक्यानां समाधानसमाकुलम्।।

सङ्ग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रितः।'

सम्पादकस्य व्याकरणशास्त्रे दक्षताऽनिवार्या यथोक्तम्-

यद्यपि बहुनाधीषे पठ पुत्र! तथापि व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत्।।

मत्स्य पुराणे-

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
लेखकः कथितो राजन्! सर्वाधिकरणेषु वै।।

गरुणपुराणे-

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
सर्वशास्त्रसमालोकी ह्येष साधुस्स सत्तमः।।

पाण्डुलिपिसम्पादकस्य कर्तव्यमेतद् यद् यावत्योऽपि पाण्डुलिपयो देशे विदेशे च सम्बद्धग्रन्थस्य प्राप्यन्ते तासां सर्वासां संग्रहं करोतु। तासु या सर्वोत्तमा तस्या एव सम्पादनं कुर्यात्। अन्यासु यत्र पाठादिभेदा दृश्यन्ते तेषां पाठभेदाः पादटिप्पण्यामवश्यमुल्लेख्याः। वस्तुतः सम्पादने 'मक्षिका स्थाने मक्षिके'ति सिद्धान्तः पालनीयो भवति। एकदा-

'शब्दच्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी।।'

इति भामहकृतस्य काव्यालङ्कारस्य प्राध्यापनावसरे केनचिच्छात्रेणोक्तम् 'मम पुस्तके 'काव्यवैखरी' मुद्रितमस्ति। यदाऽयं पाठः स्यात्तदा कीदृशी सङ्गतिर्भविष्यति।' मयोक्तम्-'श्वः प्रतिपादयिष्यामि।' मया समग्रः प्रथम-

परिच्छेदोऽनुशीलितस्तदा ज्ञातं यद् भामहेनानेकासु कारिकासु काव्यस्थाने वाक्शब्दस्य प्रयोगोऽकारि। यथा–'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः। अत्र 'वाचाम्' इति प्रयोगः 'काव्यानां' स्थाने कृतो विद्यते। एतेन समाधानं जातं यद् वैखरी तेन काव्यस्य पठनप्रणयनदिशाऽत्र प्रयुक्तः। अतः पाठभेदोऽवश्यं देय इति।

३.६ पाण्डुलिपिसम्पादने सामान्यधर्मस्थितिः

सर्वविधविश्वमानवार्हतानिर्धारणे मनुरग्रगण्यो वरीवर्ति तत्कथनमेवम्–

धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकं धर्मलक्षणम्।। (मनु. ६.९२)

१. धृतिः– पाण्डुलिपिसम्पादने सम्पादको धैर्यशाली भवेत्।

२. क्षमा–यदि धर्मस्य मतस्य वा वैपरीत्यं पाण्डुलिपौ दृश्यते तथापि मूललेखकस्य कथनं यथावत् सम्पादयेत्।

३. दमः – सम्पादने सौविध्याभावेऽपि सहनशक्तियुतो भवेत्।

४. अस्तेयम्–ग्रन्थ सम्पादनेऽपि भूमिकादि लेखने समीक्षणे अन्येषां निरूपणं नापहरेत्। अथ च नापहरेदप्रकाशितपाण्डुलिपौ मौलिकं तत्त्वं स्वकीयं कृत्वा प्रकाशनाय।

५. शौचम्–पवित्रभावनया शुद्धभाषादिमाध्यमेन सम्पादनं कुर्यात्।

६. इन्द्रियनिग्रहः–पाण्डुलिपिसम्पादने प्रतिलिपिकरणे मनसि विकार आयाति। चितैकाग्र्यं न भवति तदा त्रुष्टयः भविष्यन्ति, अतः संयम-आवश्यकः।

७. धीः–

धीर्धारणावती मेधा मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।
प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।।'

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्तस्य गुरोः भट्टतौतस्य कथनम् अर्थात् धियां (प्रतिभायां) भूतवर्तमानभविष्यत्कालानां स्थितिर्भवति। तात्पर्यमिदं

यत्पूर्वैः कीदृशं सम्पादनं कृतमधुना कथं क्रियतेऽस्य सम्पादनादग्रे कीदृशो मम सम्पादनस्य परिणामो भविष्यति मम सम्पादनमादर्शरूपं भविष्यति न वेति सर्वं विचार्य त्रुटिरहितं प्रेरणाप्रदं सम्पादनं करणीयम्।

८. विद्या- मनुष्यः स्वजीविकायै कामपि योग्यतां गृह्णात्विति।

९. सत्यम्-सम्पादने यत्सत्यं तथ्यं ग्रन्थकारेण प्रत्यपादि तस्यैव सम्यक् पुष्टिः सत्यभावनया कर्तव्या। भूमिकादौ व्याख्यायां भाष्ये च।

१०. अक्रोधः- कदाचित् पाण्डुलिपेः सुवाच्यानि-अक्षराणि न भवन्ति पाण्डुलिपिसङ्ग्रहालये पुस्तकालये पाण्डुलिपिसम्बद्धग्रन्थप्राप्तौ-अन्तरायो भवति तथापि धैर्येण क्रोधं विहाय स्वसम्पादनकार्यं पूरणीयमिति-(मनुस्मृति-६.९२)

सम्पादकस्य कवेरालोचकस्य शोधच्छात्रस्य च सम्मिलितरूपेण हेतवो भवभूतिना प्रतिपादिताः-

शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः
प्रागल्भ्यमभ्यस्त गुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्व-
मेते गुणाः कामदुधाः क्रियासु॥

मालतीमाधवे-३.१५

मनुभवभूतिप्रतिपादितगुणयुक्तस्य सतः पाण्डुलिपिसम्पादनाय विशिष्ट-गुणानां सारः-

पाण्डुलिपेर्वचोविज्ञो विज्ञस्तद्विषये परः।
निर्भ्रान्तश्च तटस्थश्च सुवाच्याक्षरलेखकः।।
तत्प्रतिरूपसम्प्राप्तौ नित्यान्वेषणतत्परः।
अवेक्षण[1]पटुः सम्यक् लिपेःपदपदार्थयोः।।
इतिहासे प्रवीणत्वाज्ज्ञाता तद्देशकालयोः।
दृढासनो सहिष्णुश्च ह्यभ्यासी प्रतिभान्वितः।।

---

१. पदाधानमवेक्षणम्

३.७ टङ्कितसंशोधनम् (Proof Correction)

शोधप्रबन्धे वा ग्रन्थेलेखने मुद्रणावसरे टङ्कितांशानां संशोधनस्यापि महती-आवश्यकता भवति। अतस्तस्य प्रमुखानि सङ्केतचिह्नानि (मुख्यानि)। अत्र-प्रस्तूयन्ते-

जोड़े ⁀	इलाहाबाद समीचीनकालः
दूरी बढ़ाएँ #	वागर्थाविवसम्पृक्तौ
समास चिह्न लगायें -	प्रमाण-प्रमेय-दृष्टान्त
अर्द्धविराम लगायें ,	श्याम, मोहन, रमेश
इतने को कोष्ठक में करें	( )
हासिया छोड़कर टाइप करें	कालिदास के काल पर
बायीं ओर लाएँ	←
दायीं ओर लाएँ	→
नीचें करें	↓
ऊपर करें	↑
बिन्दु रेखा डालकर टाइप करें	(.....)
विस्मयादि बोधक लगाएँ	! हे कृष्ण! अत्र आगच्छ
सीध में रखें	।।
लाइन की दूरी कम करें	→←
प्रश्नवाचक चिह्न लगाएँ	?
शब्दों को मिलाएँ	समन्वितम्
मोटे अक्षर करें	B अथवा
छोटे अक्षर करें	Sm. अथवा
पादटिप्पणी सूचक अंक ऊपर करें	कालिदास अथवा[१]
अक्षर या शब्द निकालें	D भवमभहर

३.९ पाण्डुलिपिसंरक्षणम्

'वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयः'-एषाभ्युक्तिर्महीयसी।
अतः पाण्डुलिपे रक्षा करणीया प्रयत्नतः।।१।।

जलाद्रक्षेच्च कीटेभ्यो मूषकेभ्यश्च शीततः।
एषा हि वाङ्मयी देवी रक्षणीया मनीषिभिः।।२।।

तस्काराक्रमणेभ्यश्चानभिज्ञानां च पार्श्वतः।
मनसा कर्मणा वाचा रक्ष्या मातेव मात्रिका।।३।।

येषां हि हार्दिकी श्रद्धा मातृकापरिरक्षणे।
एतादृशा नियोक्तव्या सङ्ग्रहालयरक्षणे।।४।।

सामान्यजनहस्ताभ्यां स्पर्शोप्यस्या निवार्यताम्।
तच्छायाचित्रमात्रं वै देयं तद्दर्शनेच्छवे।।५।।

सर्वासां मातृकाणाञ्चच्छायाचित्राणि सन्तु वै।
असकृत् स्पर्शतो मुक्ता सतीस्यान्मातृका परा।।६।।

प्रथमन्तु लेखार्थं प्रयुज्यमानानां मसीकर्गदादीनां स्थायित्वं परीक्षणीयम्। पुनश्च पत्रनिर्मितौ प्रयुक्तं गोर्दं (Pulp) कियच्छुद्धं कीयती चाम्लता? कीयान् परिमाणः? तदनुसारेण कीयान् भारश्चेति विचार्य पत्राणां स्थायित्वं निर्धायते। यद्यपि सम्प्रति वैज्ञानिकात् विकासादेतत्सर्वं सारल्येन साध्यते। अधुना यथायथं कर्गदं गृहीत्वा हस्तलेखाः प्रस्तूयन्ते। सद्य एव तेषां टङ्कणं मुद्रणं प्रकाशनञ्च भवति तथापि-अन्ताराष्ट्रियसन्धिपत्रादिषु पूर्वोक्तदिशा परीक्षणमावश्यकमद्यापि वरीवर्ति। एते पाण्डुलिपिनिर्माणात्प्राग् विचारणीया विषयाः सन्ति।

'वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयः' स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया-इत्याद्युक्तिदिशा याः पाण्डुलिपयः अवशिष्टा विद्यन्ते तासां संरक्षणमत्यावश्यकमतः पाण्डुलिपि-संरक्षणविषये यथाज्ञातं प्रस्तूयते-

१. जलवायुदिशासंरक्षणम्-

(क) तापक्रमस्यार्द्रतायाश्च प्रभावः-

पाण्डुलिपिषु गत्ता-चर्म-सरेस-लेपिकादयः प्रमुखाः सन्ति। एतासु तापक्रमः सापेक्षिकार्द्रता-आम्लीया लवणयुक्ताश्च वाता रजःकणाः सूर्याकिरणतापादयश्च प्रभावमुत्पादयन्ति। तापाधिक्येन पत्राणि कुरकुरायमाणानि सन्ति त्रुट्यन्ति। आर्द्रतायाः प्रभावेण मसी प्रसरति क्वचिच्च पत्राणि श्लिष्यन्ति परस्परम्। साम्प्रतं प्रायो भारतेऽधिकांशभूभागेषु ५-१० से.ग्रे., ग्रीष्मे च ४३-४५ से.ग्रे. तापक्रमस्य स्थितिर्भवति। एतेन पाण्डुलिपयः प्रभाविता भवन्ति। वैज्ञानिकेषु प्रयोगेषु तथ्यमिदं निर्णीतं यद्वायुमण्डले ३३ से.ग्रे. तापक्रमे तथा च २७ आर्द्रतायां पाण्डुलिपिधातकाः कीटाणवः प्रादुर्भवन्ति, एते हस्तलिखितान् ग्रन्थान् नाशयन्ति।

(ख) आम्लीयानां लवणयुक्तानां धूलिकणानाञ्च प्रभावः

प्रायशो महानगरेषु स्थितेषु ग्रन्थालयेषु विशेषौद्योगिकीकरणेन वायुमण्डले-सल्फरडाई-आक्साइड-सल्फरेटेड-हाईड्रोजनेत्यादियुक्तवायोराधिक्येन पाण्डुलिपिषु प्रतिकूलः प्रभावो भवति। एतादृशा वायुना तत्साहाय्येनागतैश्च धूलिकणैः पत्राण्याम्लीभवन्ति। अतः कीटाः समुत्पद्यन्तेयैर्नष्टा भवन्ति पाण्डुलिपयः।

(ग) सूर्यातपप्रभावः

सूर्यातपे पत्राणां तन्तवः (Pulp) पीतवर्णतां यान्ति ततः शनैः शनैः पत्राणि नाशं यान्ति। आतपेन मस्यपि मन्दतां याति। अतः सूर्यातपाद्ररक्षणीयाः पाण्डुलिपयः। आतपाद् गवाक्षसमीपे संस्थापिता अनावृता पाण्डुलिपयः पीतवर्णतां गताः कुरकुरायमाणा मन्दाक्षराश्च सत्यो नश्यन्ति।

(घ) आर्द्रतायाः प्रभावः-

पाण्डुलिपिसङ्ग्रहालयेषु वर्षाकाले शीतकाले चार्द्रता वर्द्धते। एतस्मात्पत्राणि आर्द्राणि भवन्ति। परिणामतः पत्राणि संलग्नानि भवन्ति। पृथक्करणे त्रुट्यन्ति। एकस्य पृष्ठस्याक्षराणि प्रायोऽन्ये पृष्ठे प्रतिबिम्बितानि

भवन्ति। कीटानामभिवृद्धिरपि भवति। पाण्डुलिपिभवननिर्माणे शीतरोधक-सामग्री प्रयोतव्या भवति। स्थितवातेन शीतनिवारकोपायेन पाण्डुलिपयो रक्षणीया भवन्ति। वर्षाकाले पुरातनभवनानां मुहुर्मुहर्निरीक्षणं जलक्षरणादिदिशा नूनमेवावश्यकम्।

पाण्डुलिपिसंरक्षणोपायाः

वातानुकूलयन्त्रेण पाण्डुलिपिग्रन्थानां संरक्षणार्थं वातावरणताप-क्रमस्यापेक्षिकार्द्रताया अनुकूलतमा स्थितिरपेक्ष्यते। प्रायः २२ से.ग्रे. प्रारभ्य २५ से.गे. तापक्रमस्तथा च ४५ः प्रारभ्य ५०ः से.ग्रे. यावदापेक्षिकार्द्रतायाः स्थितिरनुकूला भवति। परिस्थितिनियमनं वातानुकूलयन्त्रेण सम्भाव्यते। यदा वायोर्जलेन सह क्षारीयतामानं (P.H.) ८ः६ अधिकं भवति तदेयं क्रिया समुचिता। अनया क्रियया दुष्प्रभावः समाप्तो भविष्यति।

वायुप्रक्षालनविधिः (Air Wash System)

अनेन विधिना धूलिकणानां परिमार्जनं कर्तुं शक्यते आतपरक्षायै पाण्डुलिपिभवनस्य कपाटगावक्षादीनि समावृतानि गाढानुलेपनयुक्तानि भवन्त्विति उचितम्।

जलशोषणरसायनम्-

यत्र वातानुकूलपद्धतिः पुस्तकालयेषु न सम्भाव्यते। तत्रार्द्रतायानियमनं कर्तुं 'निर्लकैकैल्सियम क्लोराइडसिलिकाजैल' इत्यनयोरसायनयोः प्रयोगो लाभप्रदो भवति। आर्द्रतां नियन्त्रयितुमुक्तयो रसायनयोरेकं रसायनं यथोचित-परिमाणयुतं पाण्डुलिपिसङ्ग्रहालये कोणेषु इतस्ततः स्थापयितव्यम्। होरात्रय-मनन्तरं वायुमण्डलीयार्द्रतावशात् स्वयमपि आर्द्रं भवति। सार्द्रं सिलिकाजैल रसायनं पुनरुष्णीकृत्य प्रयोक्तुं शक्यते। प्रकोष्ठाकारदिशा- आर्द्रतादिशा च रसायनस्य परिमाणनिर्धारणं भवति। प्रायशः २०-२५ घनमीटरयुताय प्रकोष्ठाय द्वित्रिकिलोग्राममात्रायुतं रसायनं प्रयोगायोचितं भवति।

सम्प्रति-आर्द्रतानिरोधकयन्त्राणि (Delu malifire) प्रभृतियन्त्राणि समुलब्धानि सन्ति।

रजतमीनपरोष्णौ (Silver Fish and cocorch)

शीतोष्णजलवायुषु प्रादुर्भूतौ रजतमीनपरोष्णौ द्वौ प्रमुखौ विद्येते। एतौ पाण्डुलिपेरावरणं तां च नाशयतः। रजतमीन एकः कीटोऽस्ति, अस्य रजतसमोवर्णः अतिलघुमीन इव भवति। कीटोऽयं ग्रन्थाभ्यन्तरे तदावरणे च प्रायो दृश्यते। कृष्णकपिशकषायवर्णाः परोष्णाः (काक्रोच) सर्वत्र कोणे वेष्टनाभ्यन्तरे तमः पूर्णे स्थाने प्राप्यन्ते। पुष्टकर्गदकाष्ठमञ्जूषाः याः पुस्तकानयनकार्ये प्रयुक्ता भवन्ति प्रायो ग्रन्थालयकोणे त्रुटितदशां प्राप्ता प्रक्षिप्ता भवन्ति तेषु विशेषरूपेणैतेषामुत्पतिर्भवति। पुनरेतेऽवसरं प्राप्य पाण्डुलिपिमञ्जूषायां प्रविशन्ति पाण्डुलिपींश्च विनाशयन्ति। परोष्णाः प्रायः वर्द्धिता सन्तोऽङ्गुष्ठाकारा भवन्ति। मानवखाद्यकणेषु प्राय आकृष्टाः भवन्ति। अतः ग्रन्थालये खाद्यसामग्री न निपातनीया। अन्यखाद्यसामग्र्याभावे पाण्डुग्रन्थानेव खादन्ति अतस्तेषां निवासयोग्यानि स्थानानि ग्रन्थागारे न भवन्त्वित्युचितम्।

एतेषां विनाशाय डी.डी.टी. पायरेथरमसोडियमक्लोराइट ब्रैगोन प्रभृति चूर्णानां प्रयोगः सावधानेन विधेयः। पाण्डुलिपीनामवलोकनं मनुष्याः कुर्वन्ति, अत एतादृशः प्रयोगो न विधेयो येन ग्रन्थस्पर्शेन ते मूर्च्छिता भवन्तु। यथासंभवं ग्रन्थोपरि विषाक्तरसायनप्रयोगो न कर्तव्यः पुस्तकपार्श्वे रिक्तस्थाने प्रयोगः स्यादित्युचितम्।

पुस्तककीटाः पुस्तयुकाश्च (Book Vorms lice)

रजतमीनपरोष्णादिभ्योऽधिकहानिकरा एते भवन्ति। एतेषामाक्रमणं पुस्तकस्योपरिभागेषु पत्राणां बन्धनेषु भवति। एते कीटाः पुस्तकेषुच्छिद्राणि कृत्वा कर्गदेन सह वर्णादीनि नाशयन्ति। प्रथम एकश्चणककीटो जातको द्वितीयो विकसितकीटोभृङ्गः।

रक्षणोपायः- विषाक्तवातैर्धूमनम् (Fumination With Gas)

एतेभ्यः संरक्षितुं सम्भावितदुष्प्रभावमाकलय्य विषाक्तवातैर्धूमनं क्रियते। ग्रन्थान् मञ्जूषायां संस्थाप्य येन धूमो बहिर्न गच्छेत्। धूमनसमये बहुध्यातव्यं यत्पुस्तकमपि न ज्वलितं स्यात्। वारोरग्निरितिसिद्धान्तमाधृत्य-अधस्ताद्वायु-

प्रवेशस्योपरि चच्छिद्रतो निष्कासनस्य व्यवस्था करणीया भवति किन्तु वायुर्मञ्जूषायां पुस्तकेषु परिभ्रमन्निःसरतु। एतदर्थं मञ्जूषाया अधोभागतो धूमप्रवेशमार्गः स्यात्। बाबारामदेवप्रवचनेन ज्ञायते यद्शुष्कगोमयधूमतोऽपि कीटा नश्यन्ति। अतो धूमने तत्प्रयोगः करणीयः। गोमयरसायनमाध्यमेन तस्मिन् गोघृतगुग्गुलादिहवनीयद्रव्याणि-अपि प्रयोक्तव्यानि प्रक्षिप्याधूमनं साधु प्रतीयते।

असिताः (Mildeco) (फफूँद/काई) शैत्याधिक्येनोत्पद्यन्ते। एते कीटाणवः पृथक्-पृथक् तापमाने प्रादुर्भवन्ति। प्रायः २७°-२५° से.ग्रे. तापक्रमे त्वरितगत्या वर्द्धन्ते। ४°-५° से.ग्रे. तापक्रमे नूतना न प्रादुर्भवन्ति ३६° से.ग्रे. वाऽधिके तापक्रमे नष्टा भवन्ति। एते पुस्तकानामुपरिभागे वृक्षचित्रवत् दृश्यन्ते। शुद्धवायुसञ्चारे प्रायो न भवति। पाण्डुलिपि-ग्रन्थप्रकोष्ठेषु २२°-२५° से.ग्रे. सापेक्षिकाया व्यवस्था भवेत्। वायोरभावे विद्युद्व्यजनेन वायोः सञ्चारः करणीयः। तापमापकयन्त्राणि ग्रन्थालये स्युस्तेन तापक्रमो ज्ञातः स्यात्। चतुर्दिक्षु द्वाराणि पिधाय रात्रौ चैषा व्यवस्था कार्येति।

वभ्राः (वल्मीकाः/दीमकेति हिन्दी)

पाण्डुलिपीनां पुस्तकानाञ्च हानिकृत्कीटेषु प्रायशो दृश्यमाना वल्मीकाः प्रमुखाः सन्ति। इमे प्रायः जीर्णशीर्णपुस्तककाष्ठादिषु-आर्द्रतां प्राप्य मृत्तिकामुत्सर्जयन्तो विकसन्ति। स्वनिर्मितवाम्यामेव निवसन्त्यपि। क्रमशोऽग्रे पार्श्वे स्वगृहनिर्मितिपूर्वकं प्रसरन्ति। देहाध्यासगतत्वादस्माकमादिकवेरुपर्यपि स्वमृतिकागृहं (वामीम्) अकार्षुरत एव स वाल्मीकिनाम्ना प्रसिद्धोजातः किन्तु तपोबलात्तस्य न कापि क्षतिर्जाता। मन्ये तेषां गृहं विनाश्य स निर्गतः स रामायणं पुस्तकं रचयाञ्चकार, अतोऽद्यापि कविलेखकानां कृतिषु वैरं साधयन्तः सन्ति। अस्तु कविभिर्लेखकैश्च कीयता कष्टेन ग्रन्था रचिता सन्ति तेषां ग्रन्थानां रक्षयाऽस्माकं ज्ञानवर्धनं भवति। अतो वल्मीकिदुष्प्रभावाद् रक्षणीया ग्रन्थाः।

एका राज्ञी वभ्रा-एकस्मिन् दिवसे त्रिसहस्रमण्डानि सृजति। अत एतेषां प्रभावः शीघ्रगत्या प्रसरति। रक्षणोपायेषु प्रथमतस्तु ग्रन्थालयेषु क्वचिदपि

जीर्णशीर्णपत्राणि काष्ठपेटिकादित्रुटितानि जीर्णशीर्णखण्डानि न स्युरिति ध्यातव्यम्। एतेष्वेव प्रथममेषां वंशवृद्धिर्भवति। प्रायशो जीर्णपत्राणि मार्जन्या ग्रन्थालयसमीपे क्षिप्तानि भवन्ति तानि तेषां वंशविकासकेन्द्राणि भवन्ति, ततः शनैः शनैस्तेषां प्रवेशो ग्रन्थालये भवति। ग्रन्थालये तत्पार्श्वे चार्द्रता न भवेदिति ध्यातव्यम्। ग्रन्थालयपार्श्वे पृष्ठभागे च जलबिन्दवो न पतन्तु-एतादृशं ग्रन्थागारभवनं स्यादित्यावश्यकम्। प्रथमं ग्रन्थालयत आर्द्रतां निःसार्य ततः श्वेतार्सेनिकरसायनस्य सोडियम-आर्सेनिकरसायनेन स जलीयमिश्रणं कृत्वा डी.डी.टी. रसायनं वा मृत्तिकातैल्ये (किरोसिनआयलेति) मिश्रणं कृत्वा भित्तिच्छिद्राणि पूरयितव्यानि। काष्ठमञ्जूषापादेषु क्रव्यपतैलस्य प्रतिमासं गाढानुलेपनं कार्यम्। ग्रन्थालयभित्तितः किञ्चिद्दूरेण काण्ठमञ्जूषाः संस्थापनीया। काष्ठनिर्मितोपकरणेषु २०% जिंकक्लोराइटरसायनस्य जलीयमिश्रणं कृत्वा तस्यानुलेपनं समये-समये करणीयम्। हट्टेषूपलब्धानाम्-एल्ड्रीनफस्लीडार-डी.डी.टी-इत्यादीनां यथासमयं यथायथमुपयोगो कर्तव्यः। मञ्जूषाया बर्हिभागे काष्ठपीठे काष्ठसोपानपङ्क्तिष्वपि वल्मीकानां यूपकानां प्राय आक्रमणं भवति। अतो ग्रन्थालयेषु तत्पार्श्वे च तेषां जननिरोधका उपायाः करणीयाः। एतदर्थं जिंकफास्फाइड ३-५ प्रतिशतम्, आर्सेनिक-आक्साइड १०-१५ प्रतिशतम्, बेरियमकार्बोनेट, वेरियमनाइट्रोफिनाइल, इत्येषां प्रयोगोऽथवाऽऽपणेषु प्राप्तानि रसायनानि प्रयोक्तव्यानि। निम्बपत्रमलय-गिरिचन्दनचूर्णानि यानि मनुष्यानां कृते न हानिकराणि तेषामुपयोगो कर्तव्यः।

ग्रन्थालये विद्युत्प्रवाहात् क्वचिदपि स्फुल्लिङ्गनिःसरणस्थितिर्न भवतु इदमपि ध्यातव्यम्। ग्रन्थालये ज्वलनशीलतैलादिसंग्रहणधूमपाननिषेधादि-व्यवस्थाऽपि भवेत्। ग्रन्थालये स्वल्पाहारभोजनादिनिषेधोऽपि स्यात्। मयाऽव-लोकितं यन्नियुक्तिपदोन्नत्युपाधिप्राप्त्याद्यवसरे यदा-कदा ग्रन्थालयेऽध्ययनाय व्यवस्थितकाष्ठपीठासन्दिकासु स्वाभाविकं सौविध्यं दृष्ट्वा तत्रैव स्वल्पाहार-व्यवस्था क्रियते। एतेन खाद्यसामग्रीकणा विकीर्णा भवन्ति। क्वचित्तु प्रायः सायंकाले स्वल्पाहारायोजनं भवति खाद्यपात्राण्यपि त्यक्त्वा सर्वे गच्छन्ति। अतः रात्रौ स्वादु खाद्यसामग्री पिपीलिकाभ्यो मूषकेभ्यश्चोपलब्धा भवति। केचित्कर्मचारिण मध्याह्नभोजनमानयन्ति तेषामपि भोज्यसामग्रीकणास्तत्र पतन्ति केचन तु हस्तप्रक्षालनजलमपि तत्र पातयन्ति येन वाल्मीकिजीवनसामग्री

समुपलब्धा भवति। एतादृशेषु कृत्येषु सर्वथा नियन्त्रणमपि भवत्विति।

ग्रन्थसङ्ग्रहालये नियुक्ता अधिकारिणः-

मनुस्मृतौ द्वितीयाध्याये धर्मस्याधाराः षष्ठेऽध्याये च धर्मस्य घटकाः प्रतिपादिताः। उभयत्र लक्षणशब्दस्य प्रयोगोदृश्यते तद्यथा-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

(मनुस्मृतौ-२.१२, ६.९२)

सम्प्रति राष्ट्रे धर्मनिरपेक्षता प्रवर्तमाना वरीवर्ति। धर्मं प्रति येषामास्थाऽस्ति तान् केचन नेतारः धर्मान्धान् कथयन्ति। एतद्भारतराष्ट्रस्य परमं दौर्भाग्यं भारतस्य त्यागतपस्यातपोवनसरितः पावनप्रवाहो वर्तमाननदीनां सदृशो मलमयोदरीदृश्यते। मनोर्धर्मस्य परिभाषां (लक्षणं वा)-अदृष्ट्वा मनुवादी जनोऽयमिति गालिका प्रसरन्ती दृश्यते। अस्तु प्रकृतमनुसरामः।

ज्ञानं धनं प्राप्य प्रतिष्ठां प्राप्तुं सर्वे यतन्ते। अतो दुर्लभपाण्डुलिपिं विक्रेतुमथवा स्वनाम्ना प्रकाशयितुं मनुप्रतिपादितसामान्यधर्मानपि केचन नाद्रीयन्ते। अतः पवित्रभावनायुक्ता सत्यनिष्ठाः जना एव ग्रन्थालयेषु नियोक्तव्याः। अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्यैका कविता विद्यते-

'ये लम्पटास्त एते शिविकां वहन्ति मार्गे।
परमेश एव रक्षेत्पातिव्रतं वधूनाम्।।'

विधर्मिभिरपि स्वशासनकाले बह्व्यः पाण्डुलिपयो नष्टाः तथा च स्वदेशं ताः गृहीत्वा गता अद्यापि विदेशेषु विशेषरूपेण ब्रिटेनदेशेऽस्माकं राष्ट्रस्य पाण्डुलिपयो विद्यन्ते। अतो भवतुनाम निदेशकः प्राचार्यो वा तस्मादपि पाण्डुलिपयो रक्षणीयाः सत्यनिष्ठैः कर्मचारिभिः। यथोक्तम्-

'न विश्वसेदविश्वस्तं विश्वस्तं नाति विश्वसेत्।'

पाण्डुलिपिग्रन्थादितस्करता विषयेऽपि यदा-कदा वृत्तपत्रेषु वार्ताः

प्रसारिता दृश्यन्ते। अतः सत्यनिष्ठकर्मचारिणामेव नियुक्तिर्भवत्विति।

सारतो वक्तुं शक्यते-

जलाच्च वह्नेरधिकाच्च तापादार्द्राच्च कीटाक्रमणप्रभावात्।
चौरात्तथा चाक्रमणादपात्राद्रक्ष्यं सदा पाण्डुलिपेः सुरिक्थम्।।

पाण्डुलिपिसंरक्षणमधिकृत्यैका कार्यशाला देहलीस्थ पाण्डुलिपिमिशनतः संयोजिताऽऽसीत्। तत्र रानीदुर्गावतीविश्वविद्यालयतो डॉ०कमलनयनशुक्लः पाण्डुलिपिसंरक्षणप्रशिक्षणाय प्रेषित आसीत्। तेन ततो या सामग्री समानीता तस्याः संस्कृतभाषयाऽनुवादो जातः। सागरिकापत्रिकायामस्यालेखस्य प्रकाशनमपि जातम्। तस्यैव यथावश्यकं किञ्चित् परिवर्धनं परिवर्तनं कृत्वाऽत्र पाण्डुलिपिसंरक्षणोपायाः- प्रस्तुतीकृताः सन्ति।

पाण्डुलिपि का अनुसन्धान

लिखा हुआ पन्ना कुछ पीला हो जाता है। अतः पाण्डुरंग पर अंकित हस्तलिखित ग्रन्थों को पाण्डुलिपि के नाम से जाना जाता है॥१॥

आदिकाल में वैदिक वाङ्मय को गुरुमुख से सुनने के बाद रटकर उसकी रक्षा की जाती थी। अतः वेद को आज भी श्रुति कहा जाता है॥२॥

अक्षरों की बनावट के प्रतीक को लिपि नाम से कहा जाता है, यथोचित रूप में विद्वानों ने हाथ से लिखे को पाण्डुलिपि कहना स्वीकार कर लिया है॥३॥

लिपि में अक्षर संकेतों का लिपि के अनुसार विद्वानों ने ज्ञान कर लिया उसके बाद वृक्ष की छालों, पत्रों, कागजों, वस्त्रों, काष्ठपट्टिकाओं, प्रस्तर की शिलाओ और चमड़े आदि पर लिपियों का अंकन प्रारंभ किया। सोने, चाँदी, ताम्र, कांस्य पर भी कुरेदकर लिप्यंकन किए गए॥४, ५॥

पत्रों, मुद्राओं पर पुरानी और नई लिपि का सम्यक् लेखन और पूर्वलिखित का लेखन, पठन और अध्ययन, ये सभी पाण्डुलिपि विज्ञान के क्षेत्र में माने जाते हैं॥६,७॥

पत्थर पर टंकित लेख को शिलालेख कहा जाता है। छाल, कागज और वस्त्र लिखी गई लिपियों का पाण्डुलिपि कहा जाता है। धातु पर लिखे लेखों को ताम्र, कांस्य, स्वर्ण, लौह आदि को धातु के साथ लिपि शब्द का प्रयोग कर ताम्रपत्र आदि कहा जाता है। इन सभी में उट्टंकित को दानपत्र, सन्धिपत्र, आदेशपत्र, उपदेशपत्र के नाम से भी संकेतित किया जाता है॥८-९॥

योग्यता के लिए प्रमाण पत्र, स्वागत के लिए स्वागत पत्र या स्वागत गीतपत्र, अनुबन्ध के लिए अनुबन्धपत्र, सन्धि के लिए सन्धिपत्र, अभिनन्दन के लिए अभिनन्दनपत्र, व्यापार के लिए पंजिका कार्यालय कार्य में प्रयुक्त पत्रों को नस्ती और शासन की सूचनाओं को राजपत्र कहा जाता है। इतिहास की दृष्टि से सुरक्षित बचे या रखे गए इन पत्रों का अतिशय महत्त्व है। अनुसन्धान में इतिहास की महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक जानकारी इनसे मिलती है॥११॥

लिपि शब्द का प्रयोग सूत्रकाल से ही प्रारंभ है। ४.१.४९ सूत्र वार्तिक में **यवनलिप्यां यवनानां लिपिः यवनानीति।** रघुवंश ३.३८ में **लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्।** नैषधीयचरित-महाकाव्य में लिपि शब्द प्रयुक्त है-**अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्** (१.४६) इस प्रकार लिपि शब्द बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। धरती और दीवारों पर कुछ बनाने को भी अवधी भाषा में लीपा-पोती कहते हैं। पोतना, पोताई करना आदि शब्द भी प्रचलित है। कागज या अन्य आधारों पर अक्षरों का चित्र ही तो बनाया जाता है दोनों की प्रक्रिया में साम्य होने से दोनों के मूल में साम्य है। लिप् धातु में इक् प्रत्यय करने पर लिपि शब्द बनता है। अंग्रेजी में Manuscript (मैन्युस्क्रिप्ट) शब्द पाण्डुलिपि के लिए कहा जाता है।

पाण्डुलिपि के इतिहास, सम्पादन और पाठालोचन के विषय में श्रीरामगोपाल शर्मा 'दिनेश' द्वारा सम्पादित पुस्तक में सत्रह निबन्धों का संग्रह मुद्रित हैं। इन निबन्धों में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। यह ग्रन्थ

हिन्दी भाषा में है, इसमें प्रशस्त विद्वानों के निबन्ध हैं। इसको पढ़कर पाण्डुलिपि के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सुविधा के लिए उनके लेखकों और विषयों का उल्लेख किया जा रहा है।

टिप्पणी–श्रीकृष्णचन्द्रशास्त्री ने अपने इस पाठालोचन की समस्या वाले लेख में श्रीमद्भगवद्गीता का एक पद्य उद्धृत किया है–**सखेऽति मत्त्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि॥११.४१॥**

इस पद्य के पाठालोचन में श्रीकृष्णशास्त्री ने शांकर भाष्य को उद्धृत कर कहा है कि यहाँ 'महिमा' शब्द पुल्लिंगी है जबकि उसके लिए यहाँ 'इदं' नपुंसक लिंग में प्रयुक्त हुआ है। यह वैयधिकरण्य संबन्ध वाला प्रयोग संस्कृत भाषा के लिए दोषपूर्ण है किन्तु इसका पाठान्तर भाष्यकार शंकराचार्य को भी नहीं मिला। उन्होंने इस पर भाष्य करते हुए लिखा कि यहाँ 'इमं' पाठ होता तो अच्छा रहता। यहाँ ध्यातव्य है कि इसका मधुसूदन सरस्वती और महामहोपाध्याय हरिहरकृपालु द्विवेदी वाली टीका को शास्त्री जी ने नहीं पढ़ा और केवल शांकरभाष्य पढ़कर पाठालोचन की समस्या और समाधान के लिए इसको उद्धृत कर दिया। उक्त दोनों आचार्य मधुसूदन और आचार्य द्विवेदी के पाठसम्पादन और टीका को देखा ही नहीं। संस्कृत भाषा में पहले अन्वय में कर्त्ता, कर्म और क्रिया के विशेष्य और विशेषणों को क्रमबद्ध किया जाता है तब टीका प्रस्तुत की जाती है। इस पद्य में गीता के अर्जुन के कथन में **'अजानता महिमानं तवेदं'** पद्य में तव के सद्यः बाद में इदं शब्द आ जाने से शंकराचार्य और उक्त निबन्ध के लेखक शास्त्री जी को भ्रान्ति हुई है। महामहोपाध्याय हरिहरकृपालु द्विवेदी की हिन्दी टीका इस प्रकार है– 'आपके माहात्म्य ज्ञान के अभाव में मैंने बार-बार अपराध किया है उससे परम कारुणिक आपको प्रणाम कर अपराध के लिए क्षमा माँगता हूँ। यह दो श्लोकों में कहते हैं सखेत्यादि। आप हमारे समान अवस्था के मित्र हैं- यह मान कर बलात् अपने उत्कर्षज्ञापन रूप

अभिभव (तिरस्कार) से जो कहा है, वह आपके उस विश्वरूप तथा ऐश्वर्यातिशय महिमान को न जानकर (पुल्लिंग पाठ में विश्वात्मक महिमा को न जानते हुए) चित्तविक्षेप रूप प्रमाद अथवा स्नेह से जो कहा जो क्या कहा? यह कहते हैं–हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इति। (४१)' वस्तुतः **यदुक्तं मया इदं (यह सब) तव महिमानमजनता। यदुक्तं से सम्बद्ध** है इदं पद, महिमानं से नहीं॥ गीता का पाठ सही है अन्वय न करने से पाठालोचन में जिस पर पाठान्तर पर विचार नहीं करना था उस पर भी विचार किया गया। जहाँ एकाधिक पाठ उपलब्ध हों वह पाठालोचन का विषय बनता है।)

ये सभी निबन्ध पाण्डुलिपि के सम्पादन और शोधकार्य करने वाले छात्रों को पढ़ने चाहिएँ। इन सभी का सार आगे के विवेचन में दिया गया है। ग्रन्थ के विस्तार भय से सभी को पूर्णतः उद्धृत करना संभव नहीं है। पाण्डुलिपि चिह्नों में एकरूपता नहीं है चाहे वह भाषा हो या लिपि। सिन्धुघाटी सभ्यता के समय भी किसी लिपि का प्रयोग होता था। उस समय की लिपि और पत्रादि की समाप्ति के कारण पत्थर और पकी मिट्टी में अंकित लिपि प्राप्त होती है जिसके पढ़ने में सफलता नहीं मिली। वेदादि की रक्षा श्रवण और कण्ठस्थीकरण से हुई है। वैदिक ऋचाओं में उक्त तथ्यों की प्रामाणिकता पुरातत्त्व की सामग्री से उपलब्ध तथ्यों से भी अधिक प्राक्तन मानी जाती है।

ब्राह्मी-खरोष्ठी-शारदादि लिपि से पूर्व भी कुछ लिपियाँ थीं। सम्प्रति प्रचलित देवनागरी लिपि है जिसमें संस्कृत, हिन्दी, मराठी आदि भाषाएँ लिखी जा रही हैं। संस्कृत को देवनागरी में लिखे जाने पर प्रायः वर्ग के दूसरे चौथे और शल् प्रत्याहार के वर्णों की लिपि के चित्र अपेक्षाकृत अधिक भारी दिखाई देते हैं। उनके उच्चारण की तुलना में प्रथम, तृतीय और चतुर्थ वर्णों के उच्चारण में अधिक हवा नहीं लगती है। प्रायः खड़ी पूर्णविराम सी रेखा '।' अ स्वर के मिले होने का व्यंजन (हल्) में संकेत करती है टवर्ग में यह रेखा आधी ही रहती है क्योंकि हवा बाहर करते समय जीभ का ऊपरी भाग मूर्धा से स्पर्श करने के

लिए ऊपर उठा होने से मुड़ी रहती है। यह देवनागरी लिपि की विशेषता है कि वह वागिन्द्रिय से निकलने वाली हवा का चित्र प्रस्तुत करती है। अतः वर्तमान में विश्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लिपि है। देवनागरी लिपि में लिखित संस्कृत भाषा में वर्णों के उच्चारण स्थान वागिन्द्रिय में क्रमबद्ध दिखाई देते हैं- कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और औष्ठ वर्ग क्रम से व्यवस्थित हैं। इनका उच्चारण कर स्वयं भी इसकी परीक्षा की जा सकती है। इसके लिए इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में देवनागरी लिपि और संस्कृत भाषा की कारिकाएँ दी गई हैं।

पाण्डुलिपि का सम्पादन

जो पाण्डुलिपियाँ दिव्य और लोकशास्त्रोपकारक हैं, उनका सम्पादन निश्चित ही ज्ञानवृद्धि के लिए आवश्यक है॥१॥

जिस पाण्डुलिपि का सम्पादन करना है वह चाहे देश में हो या विदेश में हो उसकी अन्य प्रतियों को देखकर पाठान्तर देते हुए सम्पादन करना चाहिए। पाठभेदों को 'क', 'ख', 'ग' संकेतों में विभक्त कर प्रतियों का संकेत करते हुए सम्पादन करना चाहिए॥२-३॥

कई पाठ मिलने पर ग्रन्थ के सर्वथा उपयुक्त पाठ को मूल ग्रन्थ में रखकर शेष को पादटिप्पणी में देना चाहिए। यदि एक ही पाण्डुलिपि मिलती है तब प्रतिलिपिकार या लेखक ने जो पाठ लिखा है ग्रन्थ में, उसे ही रखना चाहिए। पाद टिप्पणी में अपना मत जो उचित पाठ सम्पादक चाहता है उसे देना चाहिए। कई बार अज्ञान के कारण मूल पाठ को ही सम्पादक बदल देते हैं, यह उचित नहीं है। उदाहरण के लिए काव्यालंकार जो भामह का ग्रन्थ है उसके हेतु प्रतिपादन की कारिका में **'काव्य वैखरी', 'काव्य गैर्वशी' 'काव्यगैर्ह्यमी'** तीन पाठ मिलते हैं यहाँ मूलपाठ 'काव्यवैखरी' को कुछ सम्पादकों ने बदल दिया है। काव्य वैखरी उन्हें संगत नहीं लगा क्योंकि वाक् में वैखरी भेद होता है काव्य का नहीं। पूरी रचना पढ़ने पर यह सिद्ध होता है कि वे वाक् को काव्य मानते हैं और काव्य के स्थान पर पैंतीस बार वाक् शब्द का प्रयोग करते हैं उनका काव्यलक्षण इसका प्रमाण है– **'वक्राभिधेय**-

शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।' यहाँ यह शंका हो सकती है कि उनका काव्यलक्षण तो विद्वानों से शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् को माना है। यह लक्षण नहीं है क्योंकि शब्दार्थ का सहभाव तो सामान्य लोकव्यवहार में भी होता है तब लक्षण अतिव्याप्त आदि दोषों से ग्रस्त हो जायगा। लक्षण असाधारण धर्मवचन होता है उसमें परिवर्तन उचित नहीं होता। जैसे पण्डित- राज जगन्नाथ ने भी वही लक्षण किया है जो भामह का है- पण्डितराज का लक्षण है **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।** भामह ने पूर्व में वक्र शब्द का प्रयोग किया है और रसगंगाधरकार ने 'रमणीय' दोनों के प्रतिपादित स्वयंकृत तात्पर्य समान है भामह ने वक्र का अर्थ किया है **लोकातिक्रान्तगोचरं वचः वक्रोक्तिः** और पण्डितराज ने रमणीयता का अर्थ किया लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञान गोचरता रही शब्द को अधिकरण मानने की बात तो ध्यातव्य है कि **बृहदारण्यक उपनिषद्** में शब्द की व्याप्ति को बताते हुए कहा गया है शास्त्रीय निरूपण में **'यः कश्चन शब्दः स वागेव'** इसी प्रकार वामन भी वाक् के स्थान पर शब्द का प्रयोग करते हैं **काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।** इसका विस्तृत समाधान मेरे ग्रन्थ **'काव्याधिकरणानुभूतिविमर्शः'** में दिया गया है विस्तार भय से यहाँ पाठ सम्पादन में पाठ परिवर्तन नहीं करने के उदाहरण की दृष्टि से यहाँ संकेत किया गया है॥१४॥

पाण्डुलिपि के सम्पादन के पहले सम्यक् रूप से विषय का ज्ञान करना चाहिए शंका होने पर अन्य विद्वानों से परामर्श कर लेना चाहिए बहुत धैर्य और सावधानीपूर्वक पाण्डुलिपि का पाठ सम्पादन करना चाहिए॥५॥

खरोष्ठी, ब्राह्मी, शारदा और उत्कल आदि लिपियों का ज्ञान करके तत्तद् लिपियों में लिखित ग्रन्थों का सम्पादन करना चाहिए। ध्यातव्य है कि संस्कृत के प्राक्तन ग्रन्थ उक्त लिपियों में लिखे गए हैं ब्राह्मी से देवनागरी का विकास बाद में हुआ है॥६॥

यदि देवनागरी लिपि में ग्रन्थ नहीं है तब सम्पादन के पूर्व उस

लिपि का ज्ञान करना चाहिए। पहले पाण्डुलिपि का देवनागरी लिपि में परिवर्तन कर ग्रन्थ को स्वयं लिखकर लिपि परिवर्तन करना चाहिए। यदि देवनागरी लिपि में पाठपरिवर्तन किया जा रहा है तब पाठभेद उसी लिपि में देना चाहिए सर्वोत्तम तो यह है कि प्रतिपृष्ठ प्राक्तन लिपि का छाया चित्र देकर नीचे देवनागरी में लिखा जाय यदि ग्रन्थ के विस्तार का भय है तब भी प्रारंभ और अंत के पृष्ठ का छायाचित्र अवश्य देना चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि सम्पादित ग्रन्थ के ब्राह्मी आदि लिपियों के स्वरूप का पाठक को ज्ञान हो जायगा और ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी सत्यापित होती रहेगी॥६॥

पाठों की भिन्नता देवनागरी लिपि में ही देनी चाहिए, यह भिन्नता पूर्व प्रतिपादित रूप में 'क' 'ख' आदि द्वारा भिन्नपाठ की पाण्डुलिपि को दर्शाना चाहिए॥७॥

सम्पादन में प्राप्त ग्रन्थ की भाषा और लिपि का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित होता है। इसके पाण्डुलिपि मिशन तथा राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के केन्द्रों विशेष रूप प्रयागराज में लिपियों का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके साथ सम्पादक को संस्कृत व्याकरण तथा सम्बद्ध शास्त्र का भी सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है। संस्कृत भाषा के ग्रन्थ के शोधकर्ता में भाषा की प्रकृति और प्रत्ययों का ज्ञान भी अपेक्षित होता है॥८॥

सम्पादक को सबसे पहले सुवाच्य अक्षरों में पाण्डुलिपि को स्वयं लिखनी चाहिए उसे लिप्यन्तर करते हुए भी लिखा जा सकता है- जैसे ब्राह्मी लिपि का देवनागरी में लिखना। पाण्डुलिपि की सुरक्षा के लिए छायाचित्र लेकर उसका उपयोग करना चाहिए। प्रायः विशिष्ट पाण्डुलिपियों के संग्रहालयों में छायाचित्र उपलब्ध हैं। मूल पाण्डुलिपि की सुरक्षा का सदैव ध्यान रखना चाहिए॥९,१०॥

शोधोपाधि के लिए पाण्डुलिपि सम्पादन–

किसी पाण्डुलिपि पर शोध करना हो तब सर्वप्रथम उसे पूर्वोक्त विधि से सम्पादन करना चाहिए। संपादन करते समय बार-बार पढ़ने के कारण उसका प्रतिपाद्य विषय मस्तिष्क में स्थित हो जाता है। उसके

पाठान्तर अथवा प्रूफ आदि देखने से पाठ के कथ्य का ध्यान तो रहता ही है उसमें रंगकर्मियों द्वारा अभिज्ञानशाकुन्तल अथवा अन्य नाटकों के बलात् योजित या निःसारित पाठ का ज्ञान भी हो जाता है उसमें प्रक्षिप्त अंश का ज्ञान भी हो जाता है। इससे समीक्षा में सुविधा रहती है॥१,२॥

पाठालोचन में तथा पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि के अवलोकन से उस ग्रन्थ का ज्ञान होने के साथ शास्त्रीय दृष्टि से विमर्श करने की, सम्पादन करने वाले धीमान् का ग्रन्थ पर अधिकार प्राप्त हो जाता है और शास्त्र और लोक की दृष्टि से विचार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है॥३॥

जिस पाण्डुलिपि पर अनुसंधान वाञ्छित है शीर्षक के अनुसार उससे पहले रूपरेखा बनाई जाती है॥४॥

शोध संस्थान/विश्वविद्यालय को शोधोपाधि की रूपरेखा में कुछ तथ्य प्रायः निर्धारित हुआ करते हैं। उन सभी का विषय की दृष्टि से ध्यान रखना अपेक्षित होता है॥५॥

सर्वप्रथम प्रस्तावना लिखी जाती है उसके बाद उसका (ग्रन्थ का) प्रयोजन लिखा जाता है फिर शोध का प्रयोजन बताया जाता है, ततः शोध करने के औचित्य का प्रतिपादन किया जाता है। उसके बाद प्राक्कल्पना लिखी जाती है। पुनः ऐतिह्य की भूमिका लिखकर सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जाता है। शोध की प्रकृति का उल्लेख कर विषय का प्रतिपादन किया जाता है। प्रस्तावना आदि का स्वरूप पहले इस ग्रन्थ में बताया जा चुका है। यहाँ ग्रन्थ की नवीनता और मौलिकता लिखी जाती है। इसके साथ अध्यायों की क्रमानुसार सूची प्रस्तुत की जाती है तथा ग्रन्थों की सूची, लेखक, प्रकाशन संस्थान और वर्ष के उल्लेख के साथ प्रस्तुत की जाती है॥८॥

उक्त कारिकाओं में प्रस्तावना, प्रयोजन, औचित्य, प्राक्कल्पना, ऐतिह्य भूमिका और सर्वेक्षण इत्यादि प्रतिपाद्यों का उल्लेख किया है। इनमें क्या प्रतिपादन करना है? उसका निरूपण अधोलिखित कारिकाओं में सूचित किया जाता है।

प्रस्तावना– जिस प्रकार नाटक में सूत्रधार, नटी तथा अन्यों द्वारा नाटक की कथावस्तु को सूचित किया जाता है। यह सूचना नाटक के प्रथम भाग (अंक) में दी जाती है। इसी प्रकार पाण्डुलिपि-शोधकर्ता प्रारंभ में शोधप्रबन्ध के विषय की सूचना देकर अपने करणीय विषय की सूचना प्रदान करता है॥१०॥

इसमें पाण्डुलिपि का कथ्य (प्रतिपाद्य विषय) किस प्रकार है? इसकी उपयोगिता क्या है? सम्बद्ध विषय में इसकी मौलिकता क्या है? इसका भी प्रतिपादन किया जाता है॥१०॥

इसके सम्पादन की आकांक्षा क्यों की गई, शोध की क्या विधि अपनाई गई है, इन सभी का साररूप में प्रतिपादन करने को प्रस्तावना कहा जाता है॥११॥

प्रयोजन– विना प्रयोजन के मन्दमति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इस अभ्युक्ति के अनुसार सारांश रूप में पाण्डुलिपि में किसकी प्रेरणा दी गई है? किस प्रकार साहित्य या लोक की प्रेरणा पाण्डुलिपि में निहित है? किस नूतन सिद्धान्त को प्रवर्तित करने की इसमें प्रेरणा निहित है? इन सभी विषयों का यहाँ प्रतिपादन अपेक्षित होता है॥१२॥

औचित्य– अविश्रान्त परिश्रम करके जिस ग्रन्थरत्न की सृष्टि की गई है जो ज्ञानराशि से युक्त है और शास्त्र और लोक का उपकारक है, हाथ से लिखकर जिसकी रक्षा पूर्व विद्वानों ने की है उसका सम्पादन और प्रकाशन करना उचित है क्योंकि इसके प्रकाश में आने पर अनेक शास्त्रोपयोगी और समाजोपयोगी तथ्य सामने आते हैं॥१४,१५॥

इन सभी औचित्यों का प्रतिपादन जो बहुधा दृष्टिगत होते हैं, उनका यथाविषय उल्लेख करना पाण्डुलिपि के सम्पादन में औचित्य की दृष्टि से प्रतिपादनीय होता है॥१६॥

प्राक्कल्पना– जो परिकल्पना है उसे अभिकल्पना भी कहते हैं (तात्पर्य यह है कि पाण्डुलिपिशोध में व्यापक रूप से पाण्डुलिपि के

विषय के पूर्व और उत्तर काल के प्रणीत ग्रन्थों उनके कथ्यों पर विचार किया जाता है।)॥१७॥

शोध की दृष्टि से यह कल्पना पुनरुद्भाविका तथा रचनात्मिका रूप से दो प्रकार की होती है॥१८॥

इतिहास, साहित्य, कला के रचनाकारों और विज्ञानियों द्वारा जो कार्य किया गया है उसको आधार मानकर जो कल्पना द्वारा तत्सम्बद्ध पुनः उद्भावना कर कथ्य को सुस्पष्ट किया जाता है उसे पुनरुद्भाविका कहा जाता है॥१९॥

व्याख्या, टीका, भाष्य, समीक्षा और कथ्यों के मर्म का उद्घाटन करते हुए अध्यापन आदि को पुनरुद्भाविका कहा जाता है। इसमें मूल लेखक के सिद्धान्तों को ही बोधगम्य बनाने का प्रयास किया जाता है॥२०॥

अन्य कृतिकारों की व्याख्या आदि से भिन्न नवीन स्वोपज्ञ सर्जन, जो शास्त्रादि का किया जाता है उसे रचनात्मिका कहा जाता है॥२१॥ रचनात्मिका शक्ति या प्राक्कल्पना का उदाहरण महावैयाकरण महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी है। कालिदास की रचनाओं में भी विलक्षण मौलिकता होने से उन्हें भी रचनात्मिका कल्पना वाला माना जा सकता है। यथा अभिज्ञानशाकुन्तल में दुर्वासा के शाप की कल्पना राजा दुष्यन्त के चरित्र को उज्ज्वलता प्रदान करता है॥२२॥

ऐतिह्य भूमिका–

पाण्डुलिपि के सम्पादन तथा शोध में पाण्डुलिपि यदि मूल लेखक की है तब उसके कर्त्ता की जन्मतिथि स्थान का परिचय देने के साथ उसकी लिपि, भाषा, प्रवृत्ति (विषय प्रतिपादन की स्थिति आदि) का सार रूप में परिचय देना ऐतिह्य भूमिका में आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शोध्य पाण्डुलिपि के पूर्व और उत्तर काल की स्थितियों का भी प्रतिपादन आवश्यक होता है। कई पाण्डुलिपियों के प्रारंभ तथा अन्तिम पुष्पिका में अधिकांश ग्रन्थकार अपना परिचय देते हैं उसमें

आश्रयदाता तथा समकालीन पूर्ववर्ती लेखकों का भी उल्लेख मिल जाता है॥२३॥

ऐतिह्य निरूपण के दो प्रकार के साक्ष्य होते हैं पहला आभ्यन्तर दूसरा बाह्य। आभ्यन्तर साक्ष्य में कवि द्वारा स्वयं प्रतिपादित या कृति के वर्णनों में ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख आभ्यन्तर माना जाता है और अकाट्य होता है। बाह्य साक्ष्य में उसके उत्तरवर्ती लेखकों द्वारा पाण्डुलिपिकार का उल्लेख अथवा उसके पद्यादि का उद्धरण भी बाह्य साक्ष्य के रूप में माना जाता है क्योंकि उसका या उसके पद्यों का उद्धरण यह सिद्ध करता है कि वह उद्धरण कर्ता से पहले हुआ है या समकालिक है। इससे भी कालनिर्धारण सुगम हो जाता है यदि उद्धरण कर्ता का काल प्रमाणित हो चुका हो। इससे ग्रन्थ के प्रभावादि का आकलन किया जा सकता है। भूमिका में पाण्डुलिपि के आधार ग्रन्थों तथा उससे प्रभावित ग्रन्थों का प्रतिपादन आवश्य होता है।॥२५॥

सर्वेक्षण– पाण्डुलिपि के सम्पादन और शोध में बहुत आवश्यक है क्योंकि उसके विषय से सम्बद्ध पूर्व में अथवा बाद में उपलब्ध ग्रन्थों का सर्वेक्षण करना होता है॥२७॥

सुगम बोध और पाण्डुलिपि से उसकी अन्विति के लिए यह कार्य अनिवार्यत: किया जाता है॥२८॥

पूर्वकृत शोधों या सम्बद्ध ग्रन्थों का अवेक्षण और उनकी तुलना करने से सम्पादन और शोध करने का मार्गदर्शन प्राप्त होता है। पूर्वकृत सम्पादनों के अवलोकन से किन बातों को बताना आवश्यक है इसका सम्यक् ज्ञान हो जाता है सभी कृतियों में एकरूपता प्राय: नहीं होती अत: शोध्य कृति की मौलिक विशेषताओं का भी उल्लेख आवश्यक होता है॥२९॥

जिस शीर्षक से पूर्व में शोधग्रन्थ लिखा गया है उसी शीर्षक से शोधप्रबन्ध लिखना प्राय: उचित नहीं होता यथा किसी कृति का साहित्यिक अनुशीलन किया जा चुका है तब उसका सांस्कृतिक या भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है॥३०,३१॥

अतः सर्वेक्षण करने से पिष्टपेषण से भिन्न कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। अतः सर्वेक्षण बहुत आवश्यक होता है॥३२॥

सर्वत्र फोटोकॉपी की सुविधा उपलब्ध है श्रेष्ठ पाण्डुलिपि संग्रहालयों में भी इसकी सुविधा है, इण्टरनेट से भी बहुत शोध सामग्री उपलब्ध की जा सकती है इस सुविधा का उपयोग कर सर्वेक्षण किया जा सकता है॥३३॥

क्योंकि मौलिक शोधकार्य करना ही उचित है नकल करके शोधप्रबन्ध तैयार करना उचित नहीं है। वर्तमान में विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग से सभी उच्च शिक्षा संस्थान नियन्त्रित हैं वहाँ सभी शोधप्रबन्धों को भेजना भी पड़ता है नकल पाए जाने पर शोधोपाधि निरस्त कर दी जाती है अतः परिश्रमपूर्वक सर्वेक्षण करना तो उचित है किन्तु पूर्वकृत शोधों की नकल न करके केवल उनके प्रतिपाद्यों और प्रस्तुतीकरण शिल्प का ज्ञान प्राप्तकर मौलिक अनुसन्धान करना चाहिए॥३४॥

शोध प्रकृति–

स्वरूप, स्वभाव, निसर्ग और प्रकृति प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न है अतः वह स्वभवजा है॥३५॥

प्रकृति और प्रत्यय की आप्ति धातु और प्रत्यय के सन्निधि को कहते हैं। प्रकृति (धातु) मूल रूप है प्रत्ययों और उपसर्गों के योग से उपयोग योग्य अनेक अर्थों वाले पद (शब्द) बनते हैं। इसलिए जो मूल समस्या (शीर्षक) शोध के शीर्षक के रूप में गृहीत है उसको विविध खण्डों (अध्यायों/परिच्छेदों) में विभाजित कर शोध कार्य सम्पन्न करना शोध प्रकृति है। संस्कृत वाङ्मय विशाल है अतः उसके विशिष्ट भाग को ग्रहण कर उस पर विधिवत विचार करना शोधप्रकृति है। जैसे व्याकरण में सुबन्त और तिङन्त की दृष्टि से पदों की विविध स्थिति पर व्यापक रूप से विमर्श किया जाता है॥३५-३७॥

साहित्य की समीक्षा में प्रेरणा और आह्लाद की दृष्टि से कथावस्तु, पात्र और अभिव्यंजना (अलंकार) रस, प्रकृतिचित्रण, सूक्ति आदि पर

विमर्श किया जाता है इसका भाषाविज्ञान, संस्कृति, समाज आदि की दृष्टि से भी अध्ययन किया जात है यही इसकी प्रकृति है। दर्शन में तत्त्वों की मीमांसा की जाती है, ज्योतिष में नक्षत्रों पर विचार कर उसके फलों पर विचार किया जाता है, गणित और फलित इसकी दो दृष्टियाँ हैं जो इसके शोध की प्रकृति की श्रेणी में व्यवस्थित हैं। शोध प्रकृति के विन्यास में विषय के अनुरूप विवेचन करते हुए प्रबन्ध की रूपरेखा के अनुसार उसके विस्तृत निरूपण की योजना बनाकर लेखन कार्य किया जाता है। विशाल संस्कृत वाङ्मय के शोध में विविध विषयों की रूपरेखा का निर्माण किसी तद्विषयक विद्वान् के मार्गदर्शन में किया जाता है क्योंकि मौलिक ग्रन्थों में एकरूपता नहीं होती है अतः उसकी प्रकृति में कुछ अन्तर अवश्य रहता है। उसके लिए यहाँ दिङ्निर्देशमात्र किया गया है॥३४-४०॥

ग्रन्थ परिचय–

ग्रन्थ के परिचय में उसके विषय, प्रणेता, समय और वंशवृक्ष आदि का उल्लेख करना आवश्यक होता है यदि ग्रन्थ प्रकाशित है तब उसके एक या एकाधिक संस्करणों का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करना आवश्यक होता है।

पाण्डुलिपि के ग्रन्थ की लिपि बतानी पड़ती है यदि किसी पाण्डुलिपि का अनेक लिपियों में अंकन किया गया है तब उनका भी वैशिष्ट्य निरूपण पूर्वक परिचय देना आवश्यक होता है। प्रतिरूपों की स्थिति और उसकी प्राप्ति का स्थान तथा समय आदि का आभ्यन्तर और बाह्य साक्ष्यों के साथ प्रतिपादन भी करना आवश्यक होता है। शोध प्रबन्ध में निदर्शन के रूप में यथासंभव पाण्डुलिपि के कुछ अंशों के छाया-चित्र भी देना उचित होता है॥४१,४२॥

अध्याय विभाजन–

शोध प्रबन्ध के अध्यायों का विभाजन तीन प्रकार से किया जाता है– पूर्वबन्ध, मध्यबन्ध और पश्चबन्ध। प्रथम पूर्वबन्ध अनिवार्यतः

शीर्षक, शोधकर्त्ता का नाम, निर्देशक का नाम, विभाग के नाम के साथ विश्वविद्यालय या संस्थान का नाम यह सब मुख पृष्ठ पर ही लिखना होता है। द्वितीय पृष्ठ में भी प्रायः यही उल्लेख रहता है। शोध पंजीयन क्रमांक और दिनांक भी इसमें लिखना उचित होता है।

इसके अग्रिम पृष्ठ में मौलिक शोध को प्रमाणीकरण का निर्देशक द्वारा प्रमाणपत्र लेकर उसे लगाया जाता है जिसमें अग्रेसारित करने वाले प्राचार्य, विभागाध्यक्ष अथवा निदेशक का हस्ताक्षर मुद्रासहित प्रस्तुत किया जाता है। उसके आगे चतुर्थ पृष्ठ पर छात्र को अपने मौलिक शोध करने का प्रमाणपत्र देना होता है जो निर्देशक तथा अग्रेषण अधिकारी द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित होता है। इसमें शोधच्छात्र के हस्ताक्षर के अधोभाग में विभाग एवं शोधसंस्था का नाम भी देना है उचित तो यह है कि शोधच्छात्र को अपना वर्तमान तथा स्थायी पत्र संकेत भी कोष्ठक में लिख देना चाहिए जिससे कालान्तर में शोधच्छात्र से सम्पर्क करने में सुविधा होती है।

इसके आगे शोधप्रबन्ध की प्रस्तावना या प्राक्कथन लिखा जाता है, जिसमें शोध या सम्पादन की स्थितियों का प्रतिपादन और इसी में आभार आदि का उल्लेख भी किया जाता है अथवा आभार का अलग शीर्षक देकर उसे प्रस्तुत किया जाता है। प्रस्तावना के बाद सन्दर्भ-ग्रन्थों के संक्षिप्त संकेतों का निर्देश किया जाता है—यथा रघु. से रघुवंश, श्रीमद्भा. से श्रीमद्भागवत यहाँ लघु संकेतों के साथ पूरे नाम भी लिखना अनिवार्य होता है। सामान्य रूप से पूर्वबन्ध में उक्त रूप में प्रतिपादितों का ही उल्लेख होता है। पाण्डुलिपि यदि एकाधिक हैं जिनके पाठभेद आदि देने हैं तब उनके परिचय के लिए पाण्डुलिपि 'क', 'ख', 'ग' १. २.३. आदि क्रम से विभाजन कर पादटिप्पणी में अक्षरों या संख्या द्वारा निर्देश किया जाता है॥४३-४६॥

मध्यबन्ध—प्रथमतः भूमिका लिखी जाती है। इसमें शोधविषय का व्यापक किन्तु सार रूप में परिचय दिया जाता हैं शोधविषय की विशेषताएँ उपयोगिता तथा शोधप्रबन्ध के विन्यास की स्थितियों का

उल्लेख किया जाता है। वस्तुतः भूमिका में क्या प्रतिपादित करना है? क्यों प्रतिपादित करना है? यह लिखा जाता है और अन्त के उपसंहार में क्या कहा गया है यह बताया जाता है। इस दोनों के मध्य अनेक अध्यायों या परिच्छेदों का क्रमशः संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। मध्य में अध्याय की संख्या शोधविषय के अनुरूप बनानी पड़ती है इस संख्या का कोई बन्धन नहीं है पाँच से बीस या इससे भी अधिक अध्याय हो सकते हैं। इसके बाद स्वतन्त्र रूप से विषय सूची दी जाती है विषय सूची में अध्यायों के उपशीर्षकों के नाम भी देने पड़ते हैं शोधप्रबन्ध अवलोकन के सौविध्य के लिए अध्यायों की पृष्ठ-संख्या के साथ उपशीर्षकों की भी पृष्ठ संख्या देनी होती है। एक विधान यह भी है जैसे अष्टाध्यायी के सूत्रों को अध्याय, पाद और सूत्र संख्या की दृष्टि से प्रत्येक सूत्र के अध्याय, पाद और सूत्र की संख्या लिखी जाती है। इस प्रकार अध्याय और शीर्षक उनके भी लघुशीर्षकों की संख्या लिखी जाती है। यह अधिक वैज्ञानिक पद्धति है अनेक संस्करणों में पृष्ठ संख्या बदल जाने पर भी अभीष्ट अंश को सरलता से देखा जा सकता है। सम्पादन में मूल लेखक की पद्धति ही अपनाना उचित होता है, कुछ पाण्डुलिपियों में पृष्ठ संख्या तो होती है किन्तु श्लोक संख्या कई बार नहीं होती सम्पादन में पद्य संख्यादि का डालना उचित होता है। राजशेखर की काव्य मीमांसा अभी तक कई सम्पादकों द्वारा संपादित होने पर भी उसको कारिकाओं और उद्धरणों का संख्याक्रम नहीं दिया गया था। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने इसका सम्पादन करके कारिकाओं के साथ संख्या भी डाल दी है।

अन्त में उपसंहार में प्रथम से अन्तिम अध्याय तक का कथ्य सूचित किया जाता है तथा यहाँ शोधप्रबन्ध की उपयोगिता भी आरेखित की जाती है।

अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी जाती है जिसमें ग्रन्थनाम, लेखक नाम, प्रकाशन वर्ष और प्रकाशक संस्था का पता दिया जाता है। यदि पुस्तक के रूप में शोधप्रबन्ध का प्रकाशन हो रहा है तब उसमें

प्रमुख लेखकों और ग्रन्थों की अकारादि क्रम से सूची दी जाती है जिसके सामने जहाँ उसका उल्लेख ग्रन्थ में हुआ है उसकी पृष्ठ संख्या भी दी जाती है जिससे यह लाभ होता है कि उसका अध्येता सरलता से यह ज्ञात कर लेता है कि ग्रन्थ या लेखक की अवधारणा का किस रूप में ग्रन्थ में उपयोग हुआ है।

मेरे ग्रन्थ 'साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि में पृष्ठ २५ से २९ तक इस विषय में निरूपण उपलब्ध है वहाँ से इसका अवलोकन किया जा सकता है।

सभी शोधविषयों में सर्वथा साम्य नहीं होता न ही एक ही पद्धति अपनाकर उसे लिखा जाता है अतः शोधविषय की दृष्टि से शोधप्रबन्ध की रूपरेखा विषयविशेषज्ञ के मार्गदर्शन में बनाई जाती है॥४९॥

'लीक छोड़ तीनों चले शायर, सिंह, सपूत' यह अभ्युक्ति प्रसिद्ध है। अतः शोधप्रबन्ध लेखन में जो अधिकतम साम्य होता है उसी का उल्लेख यहाँ किया गया है॥५०॥

पाठालोचन–

यदि किसी मौलिक रचना की पाण्डुलिपियों में समान पाठ नहीं मिलते, तब उनके प्रतिपाद्य विषय के औचित्य की दृष्टि से जो सर्वोत्तम पाठ हो उसे मूल में देकर पादटिप्पणी में अन्य पाठों को देना चाहिए॥१॥

सम्पादक को चाहिए कि अन्य पाठों को उपेक्षित न करके पाठभेदों को ग्रन्थ की पादटिप्पणी में उन्हें देना चाहिए स्वयं की टिप्पणी भी सम्पादक को देनी चाहिए कि उसके द्वारा मूल में प्रस्तुत पाठ क्यों उचित है। (वर्तमान में अहमदाबाद गुजरात के प्रो. वसन्त भट्ट के द्वारा सम्पादित अभिज्ञान-शाकुन्तलम् की पुस्तक तथा उनके सम्पादित पाठ को सम्पादकों को एक बार अवश्य देखना चाहिए।)॥२॥

पहले सम्पादक को ग्रन्थ के प्रारंभ में सभी पाठों का परिचय देकर उसे क, ख, ग आदि रूप में विभक्त कर लेना चाहिए। कई बार ऐसा भी हो सकता है कि अधिकतम शुद्ध पाठ को सम्पादन के लिए

लेने पर किसी स्थल पर अन्य पाठ भी यदि अधिक औचित्यपूर्ण दिखता है तो उसे भी मूलकृति में देना अनुचित नहीं है यह भी ध्यातव्य है॥३॥

समीहित पाठ का चयन और उसे मूल पाठ में रखने को पाठालोचन कहते हैं और ऐसा करने वालों को सम्पादक कहा जाता है॥४॥

पाठालोचन में तीन प्रकार की पद्धतियाँ दिखाई देती है, शास्त्रीया, स्वैच्छिकी और तुलनात्मिका।॥५॥

शास्त्रीया–

भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने जो शास्त्रीय विधान किए हैं भारत में उसे सर्वत्र स्वीकार किया जाता है॥६॥

चाहे पाठालोचन हो अथवा ग्रन्थ लेखन की पद्धति हो चाहे उसकी समीक्षा करनी हो या टीका लिखनी हो सर्वत्र यथाशास्त्र जो विधान किए गए हैं उन्हें स्वीकार किया जाता है ऐसी राष्ट्र की परम्परा रही है॥७,८॥

जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है– 'जो शास्त्रविधि को छोड़ मनमानी विधान करता है वह सिद्धि नहीं प्राप्त करता न श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त करता है। इसलिए कार्य (करने योग्य) और अकार्य (न करने योग्य) की व्यवस्थिति में शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्र में जो विधान किए गए हैं उन्हीं के अनुसार कार्य करना चाहिए॥ गीता १७.२४॥'

यही बात राजशेखर भी काव्यमीमांसा में कहते हैं– काव्यों की रचना हो या उनका अनुशीलन, पहले शास्त्रों का ज्ञान करना चाहिए। बिना दीपक के अँधेरे में रखी सामग्री जैसे नहीं दिखाई देती उसी प्रकार शास्त्रज्ञान के बिना काव्यों की रचना और उनकी समीक्षा संभव नहीं है।

स्वैच्छिकी– स्वैच्छिक पद्धति में भी पाठालोचन के द्वारा कृतिकार के मत में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता॥९॥

अपने विवेक से जो कृतिकार सम्मत पाठ है वही स्वैच्छिकी में चुनना पड़ेगा यही स्वैच्छिक पद्धति है। वस्तुतः लुप्त या त्रुटित पाठ में जो सम्पादक पाठ की निर्मिति करेगा उसे स्वैच्छिक पद्धति कहते हैं॥१०,११॥

स्वैच्छिक पाठ के निर्माण में तटस्थ होना आवश्यक है यदि सम्पादक किसी अन्य मत को मानता है तब मूलकृतिकार की पुष्टि करने वाला पाठ ही देना चाहिए भले ही भूमिका आदि में समीक्षा करते समय अपने मत का औचित्य प्रतिपादित करे। पाठ ऐसा जोड़ा जाय कि उसके उचित अर्थ के ग्रहण में बाधा न हो। कई सम्पादक लुप्त त्रुटित अंश का स्थान छोड़ देते है यदि उचित पाठ रचने का सामर्थ्य नहीं है तब असम्बद्ध पाठ देने से अच्छा है कि उस अंश को खाली छोड़ दिया जाय॥१२॥

स्वैच्छिक पाठ सम्पादन में मूलग्रन्थकार के भाषाशिल्प को सुरक्षित रखना चाहिए। भाषा में विजातीयता नहीं दिखनी चाहिए॥१३॥

पाठालोचन करने के लिए ग्रन्थ के विषय का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए उसमें उचित पदों के चयन की प्रतिभा होनी चाहिए। काव्यभाषा अथवा शास्त्रभाषा के अनुसार उसे लिखने में दक्ष होना चाहिए॥१४॥

यदि पाण्डुलिपि सर्वथा शुद्ध है और वह मूल लेखक द्वारा स्वयं लिखित है तब कोई पद सम्पादक को नहीं बदलना चाहिए। व्याकरण की दृष्टि से यदि भाषा अशुद्ध है उसे चिह्नित कर पादटिप्पणी में उसके शुद्धरूप को देना चाहिए॥१५,१६॥

स्वेच्छा मनमानी करना नहीं है शास्त्र का अनुसरण श्रेष्ठ है। वेदस्मृति और सदाचार आदि धर्म के लक्षण तथा पाणिनितः प्रवृत्त व्याकरण का अनुगमन करना ही मार्ग है। भाषाप्रयोग के विषय में आचार्य भामह के काव्यालङ्कार का षष्ठ परिच्छेद लेखकों को अवश्य पढ़ना चाहिए। भामह का मत है– **'न शिष्टैरुक्तमित्येव न तन्त्रान्तर-साधितम्'** (कहीं शिष्टों ने प्रयोग किया है) तथा पाणिनि व्याकरण जो

संस्कृत भाषा की आसृष्टि एकरूपता बनाएँ रखने में परमोपयोगी है उसके सूत्रों से जो साधु माना जाने वाला शब्द नहीं है उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार पाठालोचनकार को सावधान रहना चाहिए॥१७॥

तुलनात्मिका–

यदि किसी पाण्डुलिपि के अनेक प्रतिरूप मिलते हैं तब उन सभी की छायाप्रतियों का संग्रह कर उन सभी को देखकर पाठालोचन करना चाहए। यदि किसी ग्रन्थ की एक ही पाण्डुलिपि उपलब्ध है तब तुलनात्मक पाठालोचन करना संभव न होने से अपने विवेक से यह कार्य करना चाहिए॥१८,१९॥

एक ही उपलब्ध पाण्डुलिपि का शास्त्र की दृष्टि से पाठालोचन करना उचित होता है॥२०॥

सम्पाद्य ग्रन्थ के विषय से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ में यदि भेद उपलब्ध होता है उसके भेद का संकेत टिप्पणी के रूप में पाठक की जानकारी के लिए अवश्य करना चाहिए। मनुस्मृति (६.९२) का अनुसरण करते हुए मेरा पद्य है जिसका अनुवाद इस प्रकार है– जिसका स्वयं के लिए निर्धारित विधान है जिसमें वैदिक वाङ्मय मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ पूर्व प्रतिष्ठित सज्जनों के आधार पर अपने से सम्बद्ध लोगों का प्रिय करना और अपना प्रिय करने की भावना ही मुख्य भारतीय विधान है अर्थात् जो अपने राष्ट्र की मूल प्रवृत्ति है वस्तुतः यही स्व अर्थात् अपना तन्त्र अर्थात् विधान है। स्वतन्त्र का तात्पर्य स्वच्छन्दता नहीं है, इसका अर्थ है अपने राष्ट्र की प्राकृतिक और सामाजिक स्थिति के अनुसार धर्म (कर्तव्य) का पालन करना स्वतन्त्रता है॥२१॥

प्राप्त पाठों में जो पाठ सर्वोत्तम हो वही पाठ पाठालोचन में सम्पादित ग्रन्थ में रखना चाहिए अन्य पाठों को पादटिप्पणी में रखना चाहिए॥२२॥

कई बार पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों की भी पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तब प्रकाशित ग्रन्थों के साथ पाठों की तुलना करनी चाहिए। प्रायः

दृश्यकाव्यों में रंगमंच की दृष्टि रंगकर्मी पाठों में परिवर्तन कर देते हैं और उसकी अलग से पाण्डुलिपि तैयार कर लेते हैं, दूर देश में गई पाण्डुलिपि बहुत दिनों तक चलती रहती है। यह तथ्य गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद निवासी आचार्य वसन्त भट्ट ने अपने पास शताधिक पाण्डुलिपियों और ग्रन्थों का संग्रह कर अभिज्ञानशाकुन्तलम् का सम्पादन किया है। भगीरथ प्रयास करके विविध प्रकार के पाठों का संकलन भट्ट जी ने किया है। पाठभेद की दृष्टि से उन्होंने एक ग्रन्थ भी प्रकाशित किया है। कालिदास के मूलपाठ के अन्वेषण के लिए विशेष रूप से पाण्डुलिपियों का आपने संकलन किया है। इस प्रकार पाठालोचन में प्रयासपूर्वक सभी पाण्डुलिपियों का संकलन करना चाहिए।

कुछ कर्मकाण्डीय विधान में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र भी संशोधन की अपेक्षा रखते हैं–

जैसे–मल्लिकादीनि सुगन्धीनि मालित्यादीनि वै प्रभोः।

मयाहृतानि पूजार्थं पुष्पाणि प्रतिगृह्यताम्।

यहाँ अन्तिम पाद में गृहाण परमेश्वर! या परमेश्वरि! कहना ठीक है।

पाठ संशोधन की आधुनिक पद्धति दो प्रकार की है–

१. अन्तरङ्ग सम्भावना

२. बहिरङ्ग संभावना

ये दोनों नियम पाठालोचन के हैं–

१. अन्तरंगसंभावना में यदि पाठ विकृत है चाहे वह अर्थ की दृष्टि से हो या भाषा की दृष्टि से ऐसी स्थिति में पाठ परिवर्तन किया जा सकता है।

२. बहिरंग संभावना में मूलपाठ तथैव रखकर पाठ की विकृति का संकेतमात्र किया जाता है।

साहित्यालोचन और पाठालोचन में भेद–

आलोचन पद दोनों (पाठ और साहित्य) में उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त है किन्तु साहित्य और पाठ की आलोचना में भेद है। साहित्यालोचन में साहित्यिक रचना जो पूर्व में पाठालोचन आदि की दृष्टि से व्यवस्थितकर प्रकाशित कर दी गई है उस पर समग्रता से साहित्यिक दृष्टि से वस्तु-विन्यास रसभावादि, पात्रयोजना, शिल्प विधा आदि पर विचार किया जाता है। यद्यपि इन विवेचनों में यदि ग्रन्थ में पाठान्तर मिलते हैं तब भाषा की दृष्टि से विचार करते समय आलोचक अपना दृष्टिकोण व्यक्त कर सकता है। पाठालोचन में ग्रन्थ के सम्पादन में पाण्डुलिपियों में जो भेद प्राप्त होते हैं उसमें सर्वथा उपयुक्त पाठ जो विषय और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है उसे रखकर पादटिप्पणी में अन्य पाठों का भी उल्लेख कर दिया जाता है। आलोचना शब्द का सम्प्रति अर्थापकर्ष हो गया है। विशेष रूप से हिन्दी में किसी व्यक्ति की कमियों को दिखाते हुए उसकी अनुचित प्रवृत्तियों को आरेखित करने को आलोचना कहा जाता है। संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति की दृष्टि से **'आसमन्तात् अवलोकनमिति-आलोचना'** ऐसा कहा जायेगा। साहित्यिक कृति की दृष्टि से आलोचना की परिभाषा मेरी पुस्तक साहित्यानुसन्धानाव-बोधप्रविधि में इस प्रकार की गई है–

'किसी ग्रन्थ को सम्यक् रूप से पढ़कर पहले उसके पड़ने वाले प्रभाव को ग्रहण किया जाता है अर्थात् ध्यान में रखा जाता है, उसके बाद उसका विश्लेषण किया जाता है तदनन्तर उसका मूल्यांकन किया जाता है यह तृतीय स्थिति निर्णयात्मिका होती है जिसमें कृति के औचित्य अथवा अनौचित्य का निरूपण किया जाता है।'

साररूप में यह कहा जा सकता है कि प्रमाता (अध्येता/पाठक/आलोचक) पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी प्रतिक्रिया के कथन को सुधीजन आलोचना कहते हैं। आलोच्यार्थ के विशेषज्ञों को चाहिए कि वे रागद्वेषादि से रहित होकर सत् और असत् के विवेचन में पटुता प्राप्त कर सज्जनता की भावना से युक्त होकर ग्रन्थों की आलोचना करें।

तात्पर्य यह है कि पाठालोचन में कृति के विषय के लिए संगत पाठों के चयन में विशेषज्ञता होनी चाहिए तभी वे पाठालोचन कर सकते हैं। विषय और भाषा में विशेषज्ञता होने पर ही उचित पर्यायवाची पद और क्रिया का चयन कर ग्रन्थ की ठीक प्रकार से आलोचना भी कर सकते हैं।

२५ पाण्डुलिपि सम्पादक की पात्रता–

जिसमें विषय की गहन आस्था हो, जिस भाषा में पाण्डुलिपि लिखी गई हो उसका सम्यक् ज्ञान हो, भाषा और चित्रों को समझने की क्षमता हो, अर्थ की चिन्ता और मन व्यग्र न हो, चित्त स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, सम्पादन विधि का ज्ञाता हो, स्वस्थ होने के साथ आसन में दृढ़ हो अर्थात् काफी समय तक बैठकर लिखने की क्षमता रखता हो॥१,२॥

पाठ भेदों के मिलने पर उचित पाठ के चयन में समर्थ हो, त्रुटित अंशों की पूर्ति का सामर्थ्य भी रखता हो, बुद्धिमान् हो, सम्पादन किए जाने वाले ग्रन्थ के विषय की विशेषताओं को बताने में समर्थ हो, पाण्डुलिपि की महत्ता को बताने में अर्ह हो।॥३-४॥

पाण्डुलिपि के विषय से उसके पारम्परिक इतिहास का ज्ञाता हो, पाण्डुलिपि तथ्यों के उन्मीलन में समर्थ हो। पाण्डुलिपि के प्रतिपाद्य विषय जो अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध हैं उससे उसमें क्या विशेषता है इसके उन्मीलन में समर्थ हो॥५॥

यदि अन्य विषयों के ग्रन्थों में कोई नवीनता अथवा भिन्नता पाई जाती हो तब उसके कारण की खोज और उन्मेष करने की शक्ति रखने वाला श्रेष्ठ सम्पादक कहा जायगा॥६॥

प्रायः पाण्डुलिपि के अन्तिम भाग में या प्रारंभ में स्थान, काल या राजा आदि का उल्लेख रहता है, कभी-कभी कवि के परिवार या परम्परा का उल्लेख रहता है उसमें पद्यादि में कई बार संख्या का उल्लेख सूर्य, चन्द्र, ऋषि, वेद आदि द्वारा **अंकानां वामतो गतिः** के क्रम से पाण्डुलिपिकार कर देता है इसके लिए ज्योतिष आदि शास्त्रों में

प्रयुक्त इन संख्यावाची संकेतों का भी सम्पादक को ज्ञान होना चाहिए। जैसे 'ख' या शून्य का अर्थ आकाश होता है इसी प्रकार नक्षत्रों का, कुज, जीव, मन्दगति आदि का उल्लेख पाण्डुलिपिकार कर देता है, इनका ज्ञान भी सम्पादक को होना चाहिए। इतिहास का ज्ञान होने से किसी राजा का नाम आने पर उसके काल का ज्ञान सम्पादक को हो जाता है, शक, विक्रम, ख्रीस्त, हिजरी आदि नाम से भी काल की सूचना दी जाती है, जिनकी काल गणना में वर्षों में पर्याप्त अन्तर रहता है अतः सम्पादक को इनका भी ज्ञान होना चाहिए। हस्तलेख सुवाच्य हों जिससे 'प', 'य', 'थ' 'म', 'भ' में भ्रान्ति न हो॥७-१०॥

महामाहेश्वर अभिनव गुप्त ने अपने सम्पादन शिल्प का स्वयं उल्लेख किया है–

'मैंने उपादेय पाठ को सम्पादित किया है और अन्य पाठ को पादटिप्पणी में संकेत किया है। पदों की स्फुट व्याख्या की है, परस्पर विरोधी पदों के विरोधों का निराकरण किया है, उसे सम्यक् पूर्णता प्रदान की है, लक्ष्य का अनुसरण किया है, जो श्लिष्ट वक्तव्य है उनका विवेचन किया है, पुनरुक्तियों (दो बार कहे गए अंशों) का समाधान किया है। इस प्रकार से मैंने संग्रह किया है यही व्याख्या का प्रकार अपनाया है।'

सम्पादक की व्याकरण शास्त्र में दक्षता अनिवार्य है, जैसा कि कहा गया है–

हे पुत्र! अधिक मत पढ़ो किन्तु व्याकरण अवश्य पढ़ो, जिससे 'स्वजन' को 'श्वजन' (अपना आदमी का कुत्ते का आदमी), सकल (सम्पूर्ण) का शकल (खण्ड) नहीं और सकृत् (एक बार) का शकृत् (विष्ठा) न हो जाय। इसी प्रकार अंश (टुकड़ा/भाग) का अंस (कन्धा) न हो जाय।

मत्स्य पुराण में लेखक का लक्षण इस प्रकार है–

'मेधावी, वाक्पटु, प्राज्ञ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सभी शास्त्रों में जिसका अभिनिवेश हो ऐसा सज्जन लेखक श्रेष्ठ होता है।'

पाण्डुलिपि सम्पादक का कर्तव्य है कि वह देश या विदेश में जहाँ भी सम्पाद्य ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ मिलें प्रयासपूर्वक उनकी छायाप्रति प्राप्त करे। उनका संग्रह कर पहले सभी का उसकी लिपि का ज्ञान कर सम्यक् अध्ययन करे। उनमें जो पाठ सर्वोत्तम प्रतीत हो हस्तलेख की दृष्टि से नहीं विषय की सम्बद्धता की दृष्टि से उसे लगे कि श्रेष्ठ पाठ है उसका ही मुख्य पाठ रखे, शेष का पादटिप्पणी में प्रदर्शित कर सम्पादन करे। सम्पादन में **मक्षिका स्थाने मक्षिका** इस सिद्धान्त का पालन करना पड़ता है अपने से कुछ जोड़ना या निकालना उचित नहीं होता त्रुटियों का सङ्केत पादटिप्पणी में किया जाता है।

एकबार **शब्दश्छन्दोऽभिनार्थाः–** भामह की इस कारिका को पढ़ाते समय एक छात्र ने बताया कि मेरी पुस्तक में 'वैखरी' छपा है 'काव्यगैह्यमी' नहीं तब मैंने कहा- इसके बारे में कल बताऊँगा। मैंने काव्यालंकार का परायण किया तो मुझे ज्ञात हुआ कि काव्य के पर्याय के रूप में भामह वाक् शब्द का प्रयोग अनेक बार करते हैं अतः यह निश्चित है कि काव्य/वाक् के चार भेदों में (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में) में परिगणित वाणी का एक-एक भेद है अतः वाक् को काव्य मानने वाले भामह शब्द के स्थान पर वैखरी का प्रयोग कर रहे हैं जो मनुष्य के लिए प्रयोग योग्य है। अतः पाठ में देने से शंका समाधान करने में सुविधा रहती है। अतः पाठभेदों को पादटिप्पणी में अवश्य देना चाहिए।

पाण्डुलिपि सम्पादन में सामान्य मानवधर्म (कर्तव्य) की स्थिति–

सभी प्रकार की मानव की अर्हता के निर्धारण में मनु अग्रगण्य हैं। द्वितीय अध्याय में धर्म का आधार बताकर षष्ठ अध्याय में मानव धर्मों, कर्तव्यों का निरूपण करते हैं–

'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध-मनुष्य में ये दश गुण होने चाहिए।'

१. धैर्य– पाण्डुलिपि सम्पादन में सम्पादक को धैर्यशाली होना चाहिए।

२. क्षमा– पाण्डुलिपि की प्राप्ति में कठिनाइयाँ-पाण्डुलिपि संग्रहालय के कर्मचारी का सहयोग न मिलना, पाण्डुलिपि का विषय धर्म आदि अपने अनुकूल न होना आदि में क्षमाशीलता की आवश्यकता होती है क्योंकि मूल लेखक के सिद्धान्तों को बदल कर नहीं लिखा जा सकता।

३. दम– सम्पादक में सहनशक्ति होनी चाहिए, अनेक प्रकार के अवरोध भी आ सकते हैं अतः उन्हें सहते हुए अपने कार्य को पूरा करना चाहिए।

४. अस्तेय– सम्पादन की भूमिका में नकल (चोरी) करके कुछ नहीं लिखना चाहिए, बार-बार ग्रन्थ को पढ़कर अपनी दृष्टि से मौलिक विवेचन करना चाहिए, किस रूप में ग्रन्थ उपयोगी है इसका मौलिक विवेचन करना चाहिए। पाण्डुलिपियों के संग्रहालय में कार्य करते समय अन्य महत्त्वपूर्ण किन्तु अप्रकाशित को चुराना या उनके तथ्यों को चुराना नहीं चाहिए उस पर शोधपत्रादि लिख जानकारी देना ही धर्म (कर्तव्य) सम्मत है।

५. शौच– मन, वाणी और शरीर की पवित्रता के साथ पाण्डुलिपियों को धूल, शीत आदि से बचाना, संग्रहालय अधिकारी को उसकी दुर्दशा की सूचना देना शुचिता है। पाण्डुलिपि को स्याही आदि से गंदा न करना शुचिता है।

६. इन्द्रिय संयम– अपनी प्रवृत्ति को पवित्र रखकर शास्त्र या सम्पादन या शास्त्रीय विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान तो उचित है किन्तु कुप्रवृत्ति का प्रवेश न हो यह प्रयास करना चाहिए। प्राक्तन काल में एक ऋषि के आश्रम में पढ़ने अथवा शोध-करने वालों युवती-युवक का विवाह धर्म विरुद्ध माना गया है, उसका वैज्ञानिक कारण यह है कि वे आपस में भाई-बहन की तरह ही व्यवहार करें।

७. धी– स्मरण शक्ति को 'धी' भविष्य की सोच रखने को मति कहा जाता है और तत्काल निर्णय करने की क्षमता को बुद्धि कहा जाता

है और नवीन उन्मेष वाली शक्ति को प्रज्ञा अथवा प्रतिभा कहते हैं। अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य का सम्पादन में भी ध्यान रखना चाहिए।

८. विद्या– मनुष्य के जीवन यापन के लिए किस प्रकार का ज्ञान आवश्यक है ईशावास्योपनिषद् का पहला मन्त्र तथा उसका नाम सर्वत्र ईश के वास होने का रेखांकन करता है इसका द्वितीय मन्त्र भारतीय भावनारूप कर्म करते हुए शतायु होने की प्रेरणा देता है। यह कर्म किसी योग्यता से ही सफल जीवन जीने के लिए आवश्यक है अतः विद्याप्राप्ति को अनिवार्य किया है। सम्पादन में भी ग्रन्थ के विषय, उसकी लिपि और भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः एक तद्विषयक ज्ञान धर्म (कर्तव्य) का सूचक है।

९. सत्य– सत्य व्यवहार, सत्यवचन, ईमानदारी आदि पाण्डुलिपि के सम्पादन में इमानदारी के साथ सभी पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर सर्वोत्तम पाठ जो मूलग्रन्थकार की भावना की सिद्धि में उपयोगी है, उसी का चयन करना चाहिए।

१०. अक्रोध– पाण्डुलिपियों की प्राप्ति, पाण्डुलिपि की अस्पष्टता आदि पर क्रोध न करके प्रयासपूर्वक उसे पढ़ना चाहिए छोटे अक्षरों को बड़ा दिखने वाले काँच की सहायता से देखना चाहिए, जिससे जो मूल लेखक ने लिखा है उसी का लेखन किया जा सके। इस प्रकार बिना विचलित हुए आक्रोश रहित होकर पाण्डुलिपि के सम्पादन में प्रवृत्त होना चाहिए।

धर्मशास्त्र और पुराण को भी शास्त्र माना जाता है इसलिए महाकवि भवभूति ने सभी के लिए कहा है– शास्त्र में प्रतिष्ठा (शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान) सहजबोध (सुस्पष्ट-ज्ञान) प्रागल्भ्य (सही बोलने और लिखने की निर्भीकता) अभ्यस्तगुणा वाणी (भाषा पर सम्यक् अधिकार) कालानुरोध (युगबोध जिस काल और युग में सम्पादन किया जा रहा उसका तथा रचनाकाल की स्थिति और कारणों का ज्ञान) प्रतिभानवत्व (नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा)

कामदुधा क्रियासु–उक्त गुण कामधेनु के समान सफलता प्रदान करते हैं चाहे लेखन हो या सम्पादन।

–मालतीमाघव–३.१५

भवभूति प्रोक्त गुणों का सार इस प्रकार है–

१. सम्पादक पाण्डुलिपि के विषय का ज्ञाता हो तथा पाण्डुलिपि की लिपि और भाषा का ज्ञान भी उसे होना चाहिए।

२. उसे भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए और पाण्डुलिपि की भाषा और प्रतिपाद्य विषय के प्रति तटस्थ रहना चाहिए।

३. उसमें सुवाच्य अक्षरों (चाहे लिप्यन्तर करना हो अथवा उसी भाषा में लिखना हो) लिखने की पात्रता हो।

४. पाण्डुलिपियों के प्रतिरूप का सत्यनिष्ठा ने अन्वेषण करने में आस्थावान् हो।

५. उसे अवेक्षण (पदाधान) में निपुण होना चाहिए उसे सम्बद्ध भाषा के पदों और पदार्थों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए, विशेष रूप से सम्बद्ध भाषा के व्याकरण में पटु होना चाहिए।

६. उसे इतिहास में प्रवीण तथा पाण्डुलिपिकालीन देश, काल, शासक आदि का ज्ञान होना चाहिए।

७. उसे दृढ़-आसन वाला, सहिष्णु शास्त्राभ्यास करने वाला तथा प्रतिभाशाली होना चाहिए।

(शोधच्छात्र की अर्हता पूर्व में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित है वे योग्यताएँ भी सम्पादक में अपेक्षित हैं।)

पाण्डुलिपि संरक्षण

'बढ़ाने से रक्षण श्रेष्ठ होता है' यह प्रसिद्ध अभ्युक्ति है अतः उपलब्ध पाण्डुलिपियों की रक्षा प्राथमिकता के साथ करनी चाहिए॥१॥

पाण्डुलिपि की जल, कीड़ों, चूहों और शीत से रक्षा करनी

चाहिए। यह वाङ्मयी देवी मनीषियों द्वारा रक्षण योग्य है॥२॥

चोरों से, आक्रमणों से, अनभिज्ञों के हाथों से पाण्डुलिपियों को बचाना चाहिए। जैसे माँ की रक्षा की जाती है उसी प्रकार इनकी रक्षा करनी चाहिए। मन, वाणी और कर्म से पूरी तन्मयता से पाण्डुलिपियों की रक्षा करनी चाहिए॥३॥

जिनकी मातृकाओं (पाण्डुलिपियों) की रक्षा की भावना हो ऐसे ही कर्मचारियों या विशेषज्ञों की पाण्डुलिपि संग्रहालयों में नियुक्ति की जानी चाहिए। (ऐसा न होने से तक्षशिला और नालन्दा में जलने से बची पाण्डुलिपियाँ स्वतन्त्र भारत के संग्रहालयों से चुराकर ब्रिटेन, जर्मनी आदि देशों को बेंच दी गई हैं।)॥४॥

सामान्य जन के स्पर्श से भी पाण्डुलिपियों को दूर रखना चाहिए केवल छायाचित्रों को ही उन्हें दिखाया जाना चाहिए॥५॥

सभी पाण्डुलिपि संग्रहालयों छात्राचित्र कक्ष प्रायः बड़े शासकीय ग्रन्थालयों में बनाए जा चुके हैं या बनाए जा रहे हैं। इससे बार-बार स्पर्श पाण्डुलिपियाँ मुक्त रहेंगी। इससे पाण्डुलिपियों का मूल रूप सुरक्षित रहेगा॥६॥

सबसे पहले पाण्डुलिपि की लेखन सामग्री पर विचार करना आवश्यक है। यद्यपि वर्तमान में टंकण मुद्रण सुलभ होने से तथा कम्प्यूटर एवं पेनड्राइव में लेख सामग्री की सुरक्षा संभव होने से प्राक्तन काल की पाण्डुलिपि जैसी लेखन की स्थिति नहीं है तथापि यदि किसी के हस्त लेख को यथावत् सुरक्षित रखना है तब यह भी विचारणीय विषय बनता है। अतः यहाँ विचार किया जा रहा है।

सर्वप्रथम पाण्डुलिपि के लिए प्रयुक्त कागज कपड़ा आदि हैं उनकी तथा उसमें प्रयुक्त होने वाली स्याही की उत्तमता आवश्यक होती है। पत्र (कागज) में प्रयुक्त गोर्द (Pulp) कितना शुद्ध है? कितनी अम्लता है? उसका परिमाण क्या है? उसका भार क्या है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर प्राप्तकर उसकी उम्र का ज्ञान किया जा सकता है।

यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में सरलता से इसका ज्ञान किया जा सकता है। वर्तमान में सरलता के कारण जैसा मिल गया उसी का उपयोग कर लिया जाता है। क्योंकि हस्तलेख का शीघ्र ही टंकण और प्रकाशन कर दिया जाता है। फिर भी अन्ताराष्ट्रिय सन्धिपत्र आदि में पूर्व निर्दिष्ट मानकों का ध्यान रखा जाना चाहिए। यह सब पाण्डुलिपि निर्माण के पूर्व की सावधानियाँ हैं जिनसे पाण्डुलिपि की दीर्घजीविता निर्धारित की जाती है।

'वर्द्धनाद् रक्षणं श्रेयः' तथा स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया आदि जनोक्तियों के अनुसार जो पाण्डुलिपियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं उनका संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है। इनके संरक्षण के लिए यथाज्ञान संरक्षण विधियों का यहाँ निरूपण किया जा रहा है।

१. जलवायु की दृष्टि से संरक्षण–

(क) तापक्रम की आर्द्रता का प्रभाव–

पाण्डुलिपियों में गत्ता, सरेस, लेप आदि प्रमुख हैं–सापेक्षिक आर्द्रता, आम्लीय या लवणयुक्त हवाएँ, धूलिकण, सूर्य किरण अथवा अन्य ताप, इन्हें प्रभावित करते हैं अधिक ताप होने से पत्र कठोर हो कुरकुरे होकर टूट जाते हैं। आर्द्रता के प्रभाव से स्याही फैल जाती है तथा पत्र आपस में चिपक जाते हैं। इस समय भारत में प्रायः शीतकाल में मैदानी भागों में ५ से १० से.ग्रे. तथा ग्रीष्मकाल में ४३ से ४६ से.ग्रे. तापमान की स्थिति रहती है। इससे पाण्डुलिपियाँ प्रभावित होती हैं। वैज्ञानिकों के मतानुसार वायुमण्डल में ३३ से.ग्रे. तापक्रम में २७ से.ग्रे. आर्द्रता में पाण्डुलिपियों में कीटाणु उत्पन्न होते हैं। ये हस्तलिखित ग्रन्थों को नष्ट करते हैं।

(ख) महानगरों में स्थित ग्रन्थालयों में विशेष औषधिक उपचार करने से वायुमण्डल में सल्फर डाईआक्साइड सल्फरेटेड, हाईड्रोजन इत्यादि से युक्त वायु की अधिकता से पाण्डुलिपियों में प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के वायु से पाण्डुलिपियों के पन्ने अम्लता से युक्त

हो जाते हैं। इससे कीटों के उत्पन्न होने से पाण्डुलिपियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(ग) सूर्यातप प्रभाव– सूर्य की किरणों के प्रभाव से पाण्डुलिपियों के पन्ने पीले पड़ जाते हैं इससे धीरे-धीरे पन्ने नष्ट हो जाते हैं तथा उसकी स्याही भी धूमिल हो जाती है।

(घ) आर्द्रता का प्रभाव– पाण्डुलिपि के संग्रहालयों में वर्षाकाल में आर्द्रता बढ़ जाती है इससे पत्र आर्द्र हो जाते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि पन्ने परस्पर चिपक जाते हैं। जब उन्हें अलग करने पढ़ने का प्रयास किया जाता है तब वे फट जाते हैं। एक पन्ने की स्याही अन्य में (पृष्ठ भाग में) प्रतिबिम्बित होने लगती है। इससे कीटों की वृद्धि भी होने लगती है। इसलिए पाण्डुलिपि संग्रहालयों के भवनों की निर्मिति ऐसी हो जो शीतरोधक हों। वर्षा ऋतु में पाण्डुलिपि के संग्रहालयों में प्रतिदिन निरीक्षण कर जल के स्राव को रोकने का प्रयास करना नितान्त आवश्यक होता है।

पाण्डुलिपि संरक्षण के उपाय–

वातानुकूल यन्त्र से पाण्डुलिपि ग्रन्थों के संरक्षण के लिए वातावरण में अनुकूल तापक्रम रखा जा सकता है। प्रायः २२ से.ग्रे से २५ से.ग्रे. तापक्रम तथा ४५% से ५०% से.ग्रे. तक आर्द्रता की स्थिति अनुकूल होती है। परिस्थिति का नियमन वातानुकूलित यन्त्र से किया जा सकता है। जब वायु से जल के साथ क्षारीय मान (P.H.) ८:६ अधिक होता है यह क्रिया उचित होती है।

वायु प्रक्षालन विधि (Air Wash System)

इस विधि से धूलिकणों का परिमार्जन किया जा सकता है। आतप से रक्षा के लिए पाण्डुलिपि भवन की किवाड़ें एवं खिड़कियाँ बन्द हों और वे गाढ़े अवलेपन से युक्त हों अर्थात् उन पर रंग रोगन लगा होना चाहिए। क्योंकि पुरानी किवाड़ों पर दीपक आदि का प्रकोप संभावित रहता है जो फैलकर पाण्डुलिपियों तक पहुँच सकता है।

जलशोषक रसायन–

जिस ग्रन्थागार में वातानुकूलन संभव नहीं है, ऐसी स्थिति में आर्द्रता के नियमन के लिए 'निर्लकैकैल्सियम' और 'क्लोलाइट सिलिकाजैल' इन दोनों रसायनों का प्रयोग लाभकारी होता है। आर्द्रता को नियन्त्रित करने के लिए उचित परिभाषा में पाण्डुलिपि संग्रहालय के कोनों में इधर-उधर रखना चाहिए तीन घण्टे बाद वायु मण्डलीय आर्द्रता के कारण यह स्वयं भी गीला हो जाता है गीला हुआ सिलिका जैल रसायन गरम करके पुनः उपयोग में लाया जा सकता है। कमरे के आकार की दृष्टि से इस रसायन का परिमाण निश्चित किया जाता है। आर्द्रता अधिक है तब कुछ मात्रा बढ़ा दी जाती है। प्रायः २०-२५ घनमीटर कक्ष के लिए दो या तीन किलोग्राम रसायन का प्रयोग उचित होता है।

इस समय आर्द्रता निरोधक यन्त्र (Delumalifire) आदि यन्त्र उपलब्ध है।

रजतमीन और परोष्ण (Silver Fish and Cockroach)

शीतोष्ण जलवायु में रजतमीन (मछली के आकार के चाँदी की तरह चमकने वाले लगभग चीटे के भार के बराबर), परोष्ण (काक्रोच) ये प्रायः नालियों के शीतल भाग में अधिक रहते हैं किन्तु आलमारी के नीचे या पुस्तकों की आलमारियों में घुस जाते हैं तथा पुस्तकों में भी आ जाते हैं काले और कपिश रंग के झींगुर से बड़े आकार (चिपटे बादाम की तरह) होते हैं। ये प्रायः कोष्ठों, वेष्टन के भीतर घुस जाते हैं अधिकतर अंधेरे में रहते हैं अलमारी या वेष्टन खोलने पर इधर-उधर भागने लगते हैं। रजतमीन भी इसी तरह पुस्तकों के पन्नों में भी छिप जाते हैं। पुस्तकों को ले जाने के काम में आने वाले मोटे पुष्ठे और लकड़ी की बनी पेटियों में विशेष रूप से अण्डे देकर अपने वंश की वृद्धि करते हैं। पुस्तकों के आने के बाद पुस्तकों को आलमारी में भले उपचारित कर रखा गया हो किन्तु पैकेटों में बाहर ये प्रायः विकसित

होते हैं आलमारी खुली रह जाने पर पुस्तकों के अन्तरालों में अपना स्थान बना लेते हैं और पुस्तकों को हानि पहुँचाते हैं।

कई बार ग्रन्थालय में जो अध्ययन के कक्षों में पर्याप्त स्थान होते हैं वहाँ कर्मचारी और विद्यार्थी खाद्य सामग्री का उपयोग करते हैं उनमें इन्हे गिरे हुए अन्नकण जीवित और स्वस्थ रखने में सहयोग करते हैं। अतः ग्रन्थालय के बृहद् अथवा लघुकक्षों में खाद्य सामग्री ले जाने पर कठोरता से प्रतिबन्ध किया जाना चाहिए॥

मनुष्य के खाद्यकणों से स्वास्थ्य लाभ करके वहीं रहकर पुस्तकों को खाना प्रारंभ करते है॥ अतः उनके निवास के योग्य सामग्री ग्रन्थालयों में न रहे इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए।

इनके विनाश के लिए डी.डी.टी., पारेथरमसोडियम क्लोराइट ब्रैगोन प्रभृति चूर्णों का प्रयोग सावधानी से (मुँह बाँधकर) करना चाहिए। पाण्डुलिपियों या ग्रन्थों का प्रयोग मनुष्य करते हैं अतः ऐसा प्रयोग न किया जाये मनुष्य कि भी वहाँ जाने पर मूर्च्छित हो जाय। ऐसी पुस्तकों को छूते समय मुँह में पट्टी बाँधी जाय और बाद में साबुन से अच्छी तरह हाँथ मुँह धोने चाहिए। यथासंभव ग्रन्थों पर अत्यन्त विषाक्त रसायन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। हो सके तो रसायनों को पुस्तकों पर न डालकर उनके पार्श्व के रिक्त स्थानों में इनका प्रयोग करना चाहिए। मलय चन्दन का बुरादा और नीम की सूखी पत्ती का चूर्ण या नीम की लकड़ी का बुरादा भी प्रयोग में लाया जा सकता है।

पुस्तककीट और पुस्तक यूप Book Vorm Lice

पुस्तकीय कीड़े और यूप रजतमीन और काक्रोच से अधिक हानिकारक है। इनका आक्रमण पुस्तकों के ऊपरी भाग के पन्नों सिले हुए स्थान पर होता है। ये कीड़े पुस्तकों में छेद करके पन्नों तथा अक्षरों को नष्ट करते हैं। प्रथमतः एक कीट जातक और दूसरा कीट भृंग कहा जाता है।

रक्षण के उपाय–

विषाक्त हवा धूमन (Fumination with GAS)

उक्त कीटों से पाण्डुलिपियों और अन्य ग्रन्थों की रक्षा के लिए विषाक्त धुएँ से इनको उपचारित किया जाता है। धूमन करते समय यह ध्यान रखना है कि पुस्तकें न जल जायँ। पुस्तकों को किसी सन्दूक में वायु और अग्नि के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए नीचे धुआँ करना है बॉक्स में नीचे छिद्र हो जिससे धुआँ पुस्तकों में घूमती हुई ऊपर से निकल जाय अतः बॉक्स के नीचे धुवाँ करना है जिससे प्रकृतितः वह छिद्रों में घुसकर ऊपर निकलेगी। बाबा रामदेव के प्रवचन से ज्ञात हुआ है कि गाय के सूखे कण्डे के धुएँ से भी कीटाणु नष्ट होते हैं। गाय के गोबर के कण्डे में कपूर, गोघृत-गूगल आदि हवनीय द्रव्य भी डालना उचित है। असिता (Mildco) (फफूँद/काई) फफूँद या काई के फैलने में आर्द्रता कारण होती है। प्रायः २७-२५ से.ग्रे. तापक्रम में यह त्वरित गति से बढ़ती है। ४-५ से.ग्रे. तापक्रम होने पर इनका नूतन प्रसार नहीं होता। ३६ से अधिक तापक्रम नष्ट हो जाती हैं। ये पुस्तक के ऊपरी भाग में वृक्ष के चित्र जैसी दिखती हैं। शुद्ध वायु के संचार में इनका प्रसार नहीं होता है। पाण्डुलिपि संग्रहालयों में २२-२५ से.ग्रे. सापेक्षिक अवस्था में तापमान होना उचित होता है। वायु के अभाव में बिजली के पंखे से वायु का संचार किया जाय यह उचित है। चारों तरफ से खिड़की दरवाजे बन्द कर रात्रि में भी यह व्यवस्था की जानी चाहिए।

बम्र (वल्मीक/दीमक)

पाण्डुलिपि और पुस्तकों को हानि पहुँचाने वाले कीटों में दीमक का प्रमुख स्थान है ये जमीन पर वृक्षों और सूखी लकड़ियों और घरों में मिट्टी पर रखे काष्ठ के उपकरणों पर प्रायः अपना स्थान बना लेते हैं, ये मिट्टी की वामी बनाकर काष्ठ या पुस्तकों को खाते हुए विकसित होते रहते हैं। महर्षि वाल्मीकि के नाम का कारण यह है कि एक आसन पर बैठकर ध्यान की अवधि में देहाध्यासगत होने पर दीमकों ने उन्हें

ढक लिया अतः वे वाल्मीकि कहे गए। उन्होंने दीमक की बामी का विनाश कर रामायण की रचना की अतः ये दीमक आज भी उसका बदला लेने के लिए पुस्तकों को नष्ट करते रहते हैं। अतः इनके दुष्प्रभाव से ग्रन्थों की रक्षा करनी चाहिए।

इनमें एक रानी होती है जो तीन हजार अंडों का सर्जन करती है अतः इनका विकास बहुत शीघ्रता से होता है। रक्षण का प्रथम उपाय तो यह है ग्रन्थालयों में कहीं जीर्ण पत्रों-पैकेटों को नहीं रहने देना चाहिए शैत्य का अभाव भी होना चाहिए ग्रन्थालयों में मुँह धोना और पानी गिराना भी नहीं चाहिए क्योंकि इन्हीं जीर्ण-शीर्ण पत्रों आदि में शीत के संमिश्रण से दीमक विकसित होते हैं। अतः इन्हें ग्रन्थालय में ही नहीं ग्रन्थागार के चारों ओर भी नहीं जमा होने देना चाहिए। कई बार ग्रन्थालय की खिड़कियों की चौखट लकड़ी की होती हैं उन पर बाहरी धूल आकर जम जाती है वर्षाकाल में पानी की छीटें गीली होने पर इन पर दीमक का संक्रमण हो जाता है अतः उन पर धूल न जमा होने देना तथा रंगरोगन करना भी आवश्यक होता है क्योंकि खिड़कियों पर दीमक विकसित होकर ग्रन्थालय के भीतर भी प्रवेश कर जाते हैं। ग्रन्थालय के समीप आर्द्रता न हो इसके लिए चारों ओर बरामदे रखे जाय जिससे वर्षाकाल में जल पर्याप्त दूरी पर गिरकर बह जाय और दीवारों पर छोटें न पड़े।

यदि पर्याप्त वर्षा या शीत के समय अनेक उपायों के करने पर भी नमी आ जाय तब पहले ग्रन्थालय की आर्द्रता के निःसारण का उपाय करके, 'श्वेतार्सेनिक रसायन और आर्सेनिक रसायन के साथ जल का मिश्रण करके डी.डी.टी. रसायन या मिट्टी के तेल (किरोसिन ऑयल) का मिश्रण करके भित्ति के छिद्रों में मार दिया जाय। काष्ठ की आलमारी के पायों और उनके नीचे के भाग क्रव्यपतेल का प्रतिमास गाढानुलेपन किया जाय।'

ग्रन्थालय की दीवार से आलमारियों को इतना दूर रखा जाय की

सफाई कर्मचारी उनके पीछे जाकर सफाई और अनुलेपन का कार्य कर सके।

काष्ठनिर्मित उपकरणों में २०% जिंक क्लोराइट रसायन का जलीय मिश्रण करके समय-समय पर उसका लेपन करना चाहिए। आलमारी के बाहरी भाग में टेबिल पर, काष्ठ की सीढ़ियों पर भी दीमक और अन्य कीटों का आक्रमण होता है। अतः ग्रन्थालय तथा उसके आस-पास भी कीटों के जन्म के निरोधक उपायों को करना चाहिए।

इसके लिए जिंक फास्फाइड ३-५%, आर्सेनिक आक्साइड १०-१५%, बेरियम कार्बोनेट, बेरियम नाइट्रोफेनाइल इत्यादि का प्रयोग अथवा वैज्ञानिक विकास में विकसित कीटनाशकों का प्रयोग करना चाहिए जो बाजार में उपलब्ध हों।

देसी उपचार भी किए जा सकते हैं यथा नीम की पत्तियों को सुखाकर बनाया गया चूर्ण, मलयगिरि चन्दन का चूर्ण कपूर जो मनुष्य के लिए हानिकारक नहीं है उनका भी उपयोग किया जा सकता है। नीम की लकड़ी में दीपक का प्रकोप नहीं होता अतः उसकी लकड़ी का बुरादा भी प्रयोग में लाया जा सकता है। (मनुष्य के लिए हारिकारक नहीं किन्तु दीमक आदि के नाशक चूर्ण के लिए वैज्ञानिकों को अनुसन्धान करना चाहिए) आर्द्रता राहित्य के लिए निरन्तर ग्रन्थों का निरीक्षण तथा साफ-सफाई बहुत आवश्यक होती है।

ग्रन्थालय संरक्षण की अन्य सावधानियाँ–

१. ग्रन्थालय में ज्वलनशील पदार्थ मिट्टी का तेल, पैट्रोल, डीजल न रखा जाय।

२. ग्रन्थालय में अध्ययन हेतु रखी कुर्सी और मेज का उपयोग, जलपान, भोजन या पार्टी आदि के लिए कदापि न किया जाय। प्रायः देखा जाता है कि नियुक्ति, पदोन्नति, उपाधि प्राप्ति और पुरस्कार प्राप्ति तथा अभिनन्दन आदि के लिए सहज उपलब्ध ग्रन्थालय का बृहत् कक्ष

ही उपयोग में लिया जाता है इस पर शत-प्रतिशत नियन्त्रण होना चाहिए। इसमें अन्न के कणों और पात्रों के वहीं पड़े रह जाने से बड़ी हानि की संभावना रहती है। इसके लिए प्रमुख अधिकारी के आदेशानुसार मोटे अक्षरों में लिखकर स्थान-स्थान पर सूचना लगी रहनी चाहिए। नास्ता करते पाए जाने पर दण्ड का प्रावधान भी होना चाहिए।

ग्रन्थालय में नियुक्त अधिकारी आदि के धर्म (कर्तव्य)–

मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में धर्म (मानवीय कर्तव्य पालन) के आधारों का संकेत है तथा षष्ठ-अध्याय में पालनीय धर्म घटकों का उल्लेख किया गया है दोनों स्थलों पर 'धर्मलक्षणम्' यह लिखा है–

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

(मनुस्मृति २।१२,६।९२)

इस भारतीय धर्म की परिभाषा न जानने के कारण तथा राष्ट्र में 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द की असंगत अन्विति के कारण कुछ तथाकथित नेता मनुवादी और धर्मान्धशब्द का प्रयोग कर भारतीय शास्त्रों में विश्वस्त जनता को गर्हित विचार वाली सिद्ध करने का कुत्सित प्रयास करते हैं। अंग्रेजी के रिलीजन, हिन्दी के पन्थ या सम्प्रदाय और उर्दू के मजहब शब्दों का अर्थ धर्म न होकर विश्वमानव का यह कर्तव्य बोधक शब्द है और मनु द्वारा प्रतिपादित (६।९२) श्लोक का विधान मनुष्यमात्र के लिए है। यह समझने में कोई कठिनाई नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय में लिखा ध्येय वाक्य (स्लोगन) 'यतो धर्मस्ततो जयः' का सन्दर्भ और अर्थ जानने का प्रयास ९०% प्रतिशत नेता नहीं करते इसलिए अर्थ प्राप्ति के लिए भारत जैसे राष्ट्र में भ्रष्टाचार चरम पर पहुँच गया है। मनु के धर्म लक्षण को जानना आवश्यक है कम से कम शोधकर्त्ताओं को बहुत आवश्यक है अतः उसको यहाँ समझाया जा रहा है। यह राष्ट्र का

दुर्भाग्य है कि भारत की त्याग, तपस्या और तपोवन की त्रिवेणी भारतीय नदियों की तरह दूषित हो गई है। मनु के धर्म की मूलपरिभाषा को बिना पढ़े मनु के कर्तव्य सिद्धान्त को मानने वालों को मनुवादी कहकर धिक्कारा जाता है। अतः मनु के धर्म (कर्तव्य विधान) को समझना आवश्यक है–

१. **धृति**- किसी वस्तु की प्राप्ति या कार्य की सफलता के लिए उतावली न करके धैर्य धारण करना चाहिए।

२. **क्षमा**- मनुष्य को जरा सी बात पर आक्रोश करना उचित नहीं होता, उसमें क्षमा करने की भावना होनी चाहिए।

३. **दम**- क्षमा से ही जुड़ा है सहनशक्ति सर्दी-गर्मी, लाभ और हानि, सम्मान और अपमान दोनों को सहने की शक्ति या भावना है दम।

४. **अस्तेय**- चोरी न करना, कमीशन खोरी, अपहरण आदि न करना (पाण्डुलिपि चुराना, बेचना पाप और अपराध है।)

५. **शौच**- मन, वाणी, शरीर और पर्यावरण को पवित्र रखना। मनः पूतं समाचरेत्। ध्वनिप्रदूषण, कूड़ा करकट आदि को रोकना शौच है।

६. **इन्द्रिय संयम**- ज्ञानेन्द्रियों (सुनाना/सुनना, स्पर्श करना, देखना, स्वादु वस्तु का उपयोग तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध) में संयम, इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों पर संयम आवश्यक है।

७. **धी**- इसमें स्मरण शक्ति को मेधा, आगामी स्थिति को ध्यान में रखना मति, तत्काल पर विचार करना बुद्धि है तीनों से युक्त को प्रज्ञा या प्रतिभा कहा जाता है। अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य पर विचार करना मनुष्य का धर्म है।

८. **विद्या–** जीवन में कुछ सीखना, किसी कार्य में दक्षता प्राप्त करना विद्या है अर्थात् जीने के लिए कर्म करना, जिसके लिए किसी प्रकार की योग्यता होना आवश्यक है।

९. **सत्य**- सत्यव्यवहार, सत्यवचन, ईमानदारी मानव जीवन यापन के लिए आवश्यक है।

१०. **अक्रोध**- क्रोध न करना। क्योंकि क्रोध से मोह और मोह से बुद्धिविभ्रम और स्मृति के नष्ट होने पर मनुष्य नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार मनु ने मनुष्य के धर्मों (कर्तव्यों का) प्रतिपादन किया है। इन दश धर्मों (कर्तव्यों) का पालन न करने वाले को नीतिशतककार भर्तृहरि ने पशु के समान कहा है–

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

ज्ञान और धन प्राप्तकर सभी प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं। अतः दुर्लभ पाण्डुलिपि का विक्रय करने अथवा अपने नाम से प्रकाशित करने के लिए सामान्य धर्मों का पालन नहीं करते। ऐसी अनेक घटनाएँ सर्वविदित हैं। अतः पवित्र भावनायुक्त अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति पाण्डुलिपि संग्रहालयों में होनी चाहिए। अभिराज राजेन्द्र मिश्र की एक कविता है–

जो लम्पट हैं वहीं पालकी लेकर चल रहे हैं
अतः ईश्वर ही वधुओं के पातिव्रत की रक्षा करें।

विधर्मियों ने भी अपने शासन काल में नालन्दा और तक्षशिला की पाण्डुलिपियों को जला दिया जो कई महीनों तक जलती रही। जो कुछ ज्ञान बच पाया वह भारतीयों की अतुलनीय स्मरण शक्ति के कारण उन्हें फिर से लिखकर वेदादि को सुरक्षित रखा जा सका। विशेष रूप से आज भी हमारे यहाँ की बहुत उपयोगी पाण्डुलिपियाँ ब्रिटेन और जर्मनी आदि देशों में संग्रहीत हैं जिन्हें शारीरिक और आर्थिक परेशानी सहकर उन्हें प्रतिलिपि के रूप में प्राप्त करने का भारतीय प्रयास करते हैं। अस्तु।

अतः निदेशक, प्राचार्य, विभागाध्यक्ष और कुलपतियों से भी सत्यनिष्ठकर्मचारियों द्वारा उनकी रक्षा का प्रयास करना चाहिए। चाहे

अधिकारी हों या कर्मचारी पाण्डुलिपि की चोरी करने पर उन्हें कठोर दण्ड मिलना चाहिये।

पाण्डुलिपि संग्रहालयों तथा ग्रन्थालयों में सत्यनिष्ठ कर्मचारियों की ही नियुक्ति की जानी चाहिए तथा निश्चित समयावधि में ग्रन्थों का विशेष अभियान चलाकर सत्यापन भी किया जाना चाहिए, विशेष रूप से सम्बन्धित अधिकारियों और कर्मचारियों की सेवानिवृत्ति के पूर्व यह सत्यापन अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। सामान्य नियम भी है कि कार्य ग्रहण करते समय सेवानिवृत्त होने वाले कर्मचारी से संग्रहालयों में पुस्तकों के साथ अन्य उपकरणों का सत्यापन करना अनिवार्य होता है। पुस्तक या सामग्री के कम पाए जाने पर सम्बन्धित उत्तरदायी से उसकी वसूली भी की जानी चाहिए।

सार रूप में कहा जा सकता है पानी, आग, अधिक ताप, आर्द्रता कीटों के आक्रमण, चोरों, आक्रमणकारियों और अपात्र के हाथ में देने से पाण्डुलिपियों को बचाने का प्रयास करना चाहिए।

लिपिविज्ञानम्

अभिव्यक्तौ विचारणामुपाया बहवो मताः।
तेभ्यः स्थायित्वमादातुं लिप्यन्वेषो महत्तमः।।१।।

ध्वन्यात्मिका च या भाषा सद्य एव विलीयते।
अतो तदक्षरं रूपं लिपिरूपेण निश्चितम्।।२।।

देशकालासमानत्वात् तद्रूपेष्वसमानता।
जाताऽक्षरलिपौ नूनं देशकालादिभेदतः।।३।।

अतो हि लिपिबाहुल्यमद्यापि समवाप्यते।
तासां बोधस्य विज्ञानं लिपिविज्ञानमुच्यते।।४।।

भारतीयाः परम्परा ताल्वादिवाग्गतानामुच्चार्यमाणानां ध्वनीना-मुत्पत्तिरादिदेवस्य महादेवस्य शिवस्य ढक्कानादात् सञ्जातेति मन्वते।

यथोक्तम्-

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।'

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्यमहेश्वरात्'-इति शिक्षावचनमपि प्रमाणम्। अतः-अइउण् १। ऋलृक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८। घढधष् ९। जबगडदश् १०। खफछठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४।। इति माहेश्वराणि सूत्राणि कथ्यन्ते।

ध्वन्यङ्कने सम्प्रति देवनागरीलिपिः सर्वोत्तमा वर्तते यतो हीयं लिपिः वायोर्निर्गमने मुखे जिह्वास्थितिचित्रमिवाङ्कितं दृश्यते। उच्चारणे 'अ' सर्वेषु वर्णेषु ब्रह्मवत् सम्मिलितमक्षरं यथा सर्वत्र ब्रह्मणो व्याप्तिर्भारतीयैदार्शनिकैः स्वीकृता। व्यासेनाग्निपुराणे महाभारते (श्रीमद्भगवद्गीतायां) च प्रोक्तम्-

'अक्षराणामकारोऽस्मि' (गी०-१०.३३)। 'अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।। (अ. ३३९, पु.)

३.१.२ देवनागरीलिप्यामकारचिह्नस्य स्थितिः

अग्नि अकारस्य प्रतीकम् 'ा' इत्यस्ति यथा 'क' अकारस्वरयुक्तः किन्तु तद्रहितः 'क। क्।' खकारः 'ख' गकारः 'ग'-इतिमात्रमवशिष्यते। मूर्धन्यवर्णेषु जिह्वा मुखस्योर्ध्वभागं स्पृशति अत टकारादिषु लम्बमानः-अकारो वायोरवरोधकारणात् अकारस्य प्रतीकभूता लम्बरेखा पादरूपा भवति। अस्मिन् विषये लिपिविचारे तुलनात्मकाध्ययने सर्वोत्तमा लिपिर्देवनागरी-एव प्रतीयते। हकादिष्वकार उच्चारणार्थ इति वैयाकरणानां मतमतोऽकार-युक्तेऽप्यक्षरे स्वरचिह्नानि योक्तुं शक्यते। अकारे सर्वेषां स्वराणामङ्कनं भवितुमर्हति-यथा- आ अि अी अु अू ओ औ अं अः। अस्तु यया लिप्या ग्रन्थोऽयं लिख्यते तद्वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्य लिपिविज्ञानविषये सङ्क्षेपेण यथाज्ञातं प्रस्तूयते। अस्याध्यायस्यान्तभागे त्रिंशत्पर्द्यैर्देवनागर्या निरूपणमस्ति।

कस्याश्चिदपि परिचयप्रदाने तस्या-आकारं, प्रकृतिं प्रवृत्तिञ्च ज्ञात्वैव तस्या अन्तरङ्गं बहिरङ्गं च स्वरूपं प्रतिपादयितुं कश्चित् समर्थो भवति। लिपेरत्यन्तं महत्त्वमस्ति यतोहि लिप्यैव भाषारूपेण सुरक्षिता भवति येन तया प्रतिपादितं ज्ञानं कर्तुं शक्यते। लिपिः-ध्वनिप्रतीकचिह्नैः सम्बद्धा भवति चिह्नमेव-'अक्षरम्' आङ्ग्लभाषायाञ्च-'अल्फावेट'-इति कथ्यते। लिपिशब्दस्य प्रयोगस्तु पाणिनेरष्टाध्याय्यामपि प्राप्यते किन्त्वस्या आरम्भः कदा जात इति निश्चितरूपेण वक्तुं न शक्यते। सङ्ख्यासु पञ्च यावत्पञ्चरेखाः संश्लिष्टा इव दृश्यन्ते रेखामाध्यमेन पञ्चाङ्कानङ्कितुं शक्यते। यथा १= = ।।= शीघ्रलेखने-एतेषु सम्मिलने वर्तुलत्वं च जातम्। पञ्चाङ्कानां चिह्नानि मन्ये ह्यादौ विकसितानि-अत आमलकफलादिगणने 'गाही इति-उच्चारणं कुर्वन्तो गणयन्ति। अल्पज्ञा अपि जना एतेन-अभ्यस्ता भवन्ति यद् दशगाहीतः पञ्चाशत् तथा च विंशतिगाहीतः शतं फलानि भवन्ति'। शुक्लयजुर्वेदेऽपि 'पञ्च च मे दश च मे' इत्यादि रूपेण सङ्ख्याया उल्लेखो दृश्यते। किन्तु श्रुतिस्तु श्रुतिरेवातस्तया लिपिस्थितिसमस्या समाधानं न भवति।

केषाञ्चिन्मतं विद्यते यत्प्रथमं चित्रात्मिकालिपिविकसिता। अङ्कलेखनविकासस्तु मानवाङ्गुलिभिरेवाऽभवत्-इति तासां स्थित्याऽनुमीयते। भामहेन शब्दार्थनिश्चयविषये तु सङ्केतोऽकारि-

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः।।

-काव्यालङ्कारे-६.१३

अत्र 'वर्ण'- शब्दस्य प्रयोगो न तु शब्द-शब्दस्य। यस्यापरोऽर्थो हरित्पीताद्यपि भवति तथापि वर्णाऽकाराभिव्यञ्जनमपि भवति। इति तु सत्यं यदक्षराणामाकाराणां निश्चितौ काचिदभिस्वीकृतिरवश्यं विद्यते।

भामह की इस कारिका की हिन्दी व्याख्या में आचार्य देवेन्द्र शर्मा ने लिखा है-

'सृष्टि के आरम्भ में इस प्रकार का संकेत किसने किया? आखिर कुछ लोगों ने यह मिलकर निर्णय किया होगा कि अमुक क्रम से अमुक वर्ण उच्चरित होकर अमुक अर्थ के बोधक हों, जिस दिन यह निर्णय हुआ उसके पहले कैसे काम चलता था ? जिस प्रकार पहले चला उसी प्रकार बाद में भी चल सकता था फिर एकाएक यह कैसे अनुभव हुआ कि ऐसे संकेतों का निर्धारण किस माध्यम से किया गया ? फिर जो संकेत निर्धारित हुए वे आगे चलकर बदले क्यों गए ? बदले गये जो किसकी सम्मति से ? आज वही भाषा नहीं बोली जा रही है जो सृष्टि के आरम्भ में बोली और समझी जाती थी, न जाने उसका कितनी बार परिवर्तन हुआ है। ऐसी अनेक तरह की शंकाएँ हैं जिसका समाधान इस मत (भामह के मत) से नहीं हो सकता।

आचार्यदेवेन्द्रनाथशर्मणः प्रश्नैः स्पष्टं भवति यद्भाषाया अथवा लिपेरुत्पत्तेर्विषये सम्यक् समाधानं न सम्भाव्यते। यथा मनुष्यस्य मनसि ये भावाः सन्ति तेषां पूर्णाऽभिव्यक्तिर्भाषया न सम्भाव्यते तथैव लिप्या-उच्चरिताया: पूर्णाभिव्यक्तिर्न भवति। लिखितभाषा-उच्चरितभाषाया स्थूलरूपं विद्यते। यतोहि-उच्चरितभाषया बलतानस्वरादितो योऽर्थभेदो भवति स

लिखितभाषया न प्रस्तोतुं शक्यते। अद्य लिपेर्यद्विकसितं रूपं विद्यते तदाधृत्य प्रारम्भिकरूपस्य कल्पना न सम्भाव्यते।

इतिहासकाराः कथयन्ति यल्लिपिविकासस्य सोपानमस्ति। मुख्यतः त्रीणि सोपानानि सन्ति-१. चित्रलिपिः, २. भावलिपिः, ३. ध्वनिलिपिः

१ चित्रलिपिः- (Pictography) प्राक्तनतमेयं लिपिरस्यां कस्यचिदपि वस्तुनश्चित्रं निर्माय भावाभिव्यक्तिं प्राक्तनाः कुर्वन्त आसन्। यथा पर्वतसूचनायोच्चावचरेखांकनम्, मनुष्यस्य कृते तच्चित्रम् वृक्षस्य कृते तच्चित्रम्। अस्यां लिपौ पर्याप्तस्थानस्यावश्यकता भवति। अस्यां साङ्केतिकानामनन्तताव्शात् महती त्रुष्टिर्विद्यते। अस्यां चित्रनिर्माणेऽधिकस्य समयस्याप्यावश्कता भवति। अस्यां केवलं स्थूलवस्तुनश्चित्रणं भवति। अस्यां प्रेमदयादिवर्णनं न सम्भाव्यते। चित्रलिपौ दोषास्तु बहवः सन्ति सर्वोत्तमो गुणोऽयं विद्यते यत्समेषां कृते बोधगम्येयं भवति। मतदातारः सर्वभाषाऽभिज्ञा न भवन्ति, अतः प्रसिद्धतमक्षेत्रीयभाषायां प्रत्याशिनां नामानि लिखित्वापि समेषां कृते निर्वाचनायोगः केषाञ्चित् प्रसिद्धानां वस्तूनां चिह्नानि प्रत्याशिभ्यो ददाति। एवमेव सार्वजनिकप्रसाधनकक्षप्रवेशद्वारपार्श्वे पुरुषस्य महिलाया वा चित्रं संलग्नं दृश्यते तेनालिपिज्ञा अपि स्वोपयोगस्थलं चिन्वन्ति। हरितरक्तवर्णाभ्यां गमनागमननियन्त्रणमपि सर्वविदितमेव। केचन सूत्रलिपिमपि स्वीकुर्वन्ति तस्यां सूत्रे रज्जौ वा ग्रन्थिं कृत्वा यदा-कदा तस्यां हरितपीतादिवर्णतोऽपि सङ्केतः क्रियते। अस्या लिपेरुल्लेखः हेरोडोट्स-इति नाम्ना विदुषाऽकारि। पैरौ प्राप्ता 'क्वीपु'सूत्र- लिपिरस्ति।

भावलिपिः (Indeography)

भावलिपिः चित्रलिपेरेव विकसिता लिपिः। अस्यां प्रतीकचिह्नानि विकसितानि। यथा पर्वतकृते वक्ररेखाङ्कनम्। प्रथमं शून्यं (०) सूर्याय प्रयुक्तं किन्तु कालक्रमेण दिनस्यापि वाचकं जातम्। अस्या लिपेरुदाहरणानि-उत्तरामेरिका-चीन-अफ्रिकाप्रभृति देशेषु प्राप्यन्ते। चीनीभाषायामद्यापि-अनेके शब्दा भावलिपिरूपा विद्यन्ते। रेखामयी चित्रलिपिः मिस्र-केलिफोर्निया-प्रभृति-देशानां लिपयः सन्ति। विकसितं रूपमस्ति तत्रास्या लिपेः।

ध्वनिलिपिः (Phonetic Script)

लिपिविकासे ध्वनिलिपिर्महत्त्वपूर्णोपलब्धिः। यतो हि-अस्यां लिपौ चित्रभावयोरुपरिगत्वा प्रत्येकं ध्वनिमङ्कितुं शक्यते। ध्वनिलिपेरुदाहरणरूपा देवनागरीरोमनप्रभृतिलिपयः सन्ति। केचन विद्वांसः देवनागरीलिपिम्-अक्षरमूलां (सिलेविक) तथा च रोमनलिपिं वर्णमूलां (अल्फाबेटिक) इति मन्वते। एते-अक्षरमूलातः (देवनागरीलिपितः) वर्णमूलां (अलफावेटिक) लिपिं श्रेष्ठां मनुते। 'सेलेबिपलशब्दः'-आङ्ग्लभाषायाः 'सिलेबिल'-इत्यस्मिन्-एकदोच्चारिते शब्दे यावन्तो ध्वनयो भवन्ति तेषां गणना क्रियते, यथोक्तमाचार्यदेवेन्द्रनार्थशर्मणा-'एक सिलेबल में उतनी ही ध्वनियों की गणना की जाती है जिनका एक साथ उच्चारण किया जाता है। इस दृष्टि से अब तक, तब तक चन्दन, ताण्डव, का सिलेबिक (Syllabile का) रूप होगा-

(अब्/तक्) (चन्/दन्) (ताण्/डव्) कहने की आवश्यकता नहीं है कि अब तक और अब और तक् दो ही सिलेबिल है किन्तु वर्ण चार हैं। इसलिए अंग्रेजी के अन्धाधुन्ध अनुकरण पर नागरी को सेलेबिक लिपि मान लेना भ्रान्ति है। सिलेबिक लिपि की अपेक्षा अल्फाबेटिक लिपि को उत्कृष्ट कहना भी गलत है। यह बात केवल यान्त्रिकता की दृष्टि से कही जाती है लेकिन लिपि का सम्बन्ध केवल यन्त्र से नहीं है। (द्रष्टव्य-भाषाविज्ञान की भूमिका, पृष्ठ-३४७-४८)

देवनागरीलिपिरक्षरात्मिका (Syllable) तथा चाङ्लभाषालिपिः वर्णात्मिका (Alphabetic) अस्ति। देवनागर्याष्टङ्कणे वर्णेषु स्वरचिह्नानि योज्यन्ते किन्तु आङ्गलभाषायां केवलं वर्णानां टङ्कणं भवति। अतो यान्त्रिक-सौविध्यवशादाङ्लभाषाया रोमनलिपिं पाश्चात्याः श्रेष्ठां मन्वते। सम्प्रति वैज्ञानिकविकासेन मानवोच्चारितध्वन्यकनं यन्त्रं करोति। अतः देवनागरी लिपिस्तु यथोच्चार्यते तथैव यन्त्रमुट्टङ्कयति किन्तु (नो) No, तथा नो (Know) But वा Put इत्यनयोरुच्चारणभेदो (बट/पुट) इत्याद्यङ्कने तस्यासामर्थ्यमस्ति। अतः पाश्चात्यैरेव साम्प्रतं कथ्यते यत्संस्कृतभाषा तथा च देवनागरीलिपिरेव सङ्गणकयन्त्रकृते सर्वोत्तमा विद्यते। आचार्य- देवेन्द्रनाथ-

शर्मणा-उक्तमासीद् यत्-'लिपि का सम्बन्ध केवल यन्त्र से नही है'। वस्तुतस्तस्य 'भाषा विज्ञान की भूमिकेति ग्रन्थलेखनसमयेउच्चरित-भाषायाष्टङ्कण यन्त्राणि नासन् किन्त्वद्य सन्ति। तस्य कथनमद्य पाश्चात्यैरेव स्वीकृत्याद्योद्घोषितम्। इति हर्षविषयः। अतो ध्वनिलिपिदिशा देवनागरी-लिपिर्यया हिन्दीसंस्कृतमराठीनेपालीभाषा लिख्यन्ते सा सर्वोत्तमा विद्यते। ब्राह्मीलिपितोऽस्या विकासो जातः।।

३.१० भारतीयाः पाण्डुलिपयो लिपिविज्ञानञ्च

प्राक्तनकाले भारते मुख्यतो द्वे लिपी प्रचलिते-आस्ताम्-खरोष्ठी, ब्राह्मी च। ब्राह्मीलिपितो विकसिता अनेका लिपयः सन्ति यथा-१. गुप्तलिपिः, २. कुटिललिपिः, ३. प्राचीना नागरी, ४. शारदा, ५. बंगला तथा च दक्षिणशिल्पतोऽन्या लिपयोऽपि विकसिताः।

खरोष्ठी-खरोष्ठीलिपिप्रयोगः प्राय उत्तरपश्चिमभागे प्रचलित आसीत्। पंजाबप्रदेशे केचन राज्ञोऽशोकस्य शिलालेखाः खरोष्ठीलिप्यां प्राप्यन्ते। अशोकात् प्राक् खरोष्ठीलिपिटङ्कितोऽभिलेखो न प्राप्यते।

यथोक्तमाचार्यदेवेन्द्रनाथशर्मणा-'वस्तुतः खरोष्ठी विदेशी थी, पश्चिमोत्तर भारत कुछ दिनों तक ईरानियों के अधिकार में था। वहाँ यही लिपि प्रचलित थी, अतः अशोक के अभिलेख उसी लिपि में लिखे गए। -भाषाविज्ञान की भूमिका पृ.-३४९

खरोष्ठी दक्षिणहस्ततो वाममग्रेसरन्ती लिख्यते। अतः सामिवमीयया भाषया-इयं प्रभाविता विद्यते। केचन विद्वांसः-अरबीलिपितोऽस्या विकासं मन्वते। खरोष्ठीलिपौ ३७ वर्णानि सन्ति। अत आर्यभाषाङ्कनेऽसमर्थेयं लिपिः। अत एव भारतान्निर्गतेयं लिपिः। खरोष्ठ्यां लिपौ मात्राणां स्वराणाञ्च ह्रस्वदीर्घभेदोऽपि नास्ति। खरोष्ठीलिपौ संयुक्ताक्षरलेखनस्य व्यवस्था नास्ति, अतः संयुक्ताक्षरबहुलायाः संस्कृतभाषायाः कृते लिपिरियं नोपयुक्ता विद्यते। ब्राह्मीलिपितोऽस्याःलिपेः सम्बन्धस्थापनं नोचितम्।

ब्राह्मीलिपिः

ब्राह्मीलिपेर्व्युत्पत्तिस्त्रिधा क्रियते-

१. ब्रह्मणा निर्मिता-अतो ब्राह्मी। (ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वतीतिरूपेणामरकोषकार इमां भाषायाः पर्यायरूपां मनुते)

२. ब्राह्मणैर्निर्मिताऽतो ब्राह्मी कथ्यते।

३. ब्रह्म शब्दः वेदस्य ज्ञानस्य च वाचकः। ब्रह्मरक्षणायेयं निर्मिताऽतो ब्राह्मी कथ्यते।

केचन विद्वांसोऽस्या उद्गमः-चीनीयूनानीप्रभृतिभाषातो मन्वते किन्तु भारतीयाः प्रशस्ता विद्वांस इमां भारतीयां भाषां मन्वते। चीनीलिपिश्चित्रात्मिका, अस्या ब्राह्मीलिपेरुत्पत्तिरसम्भवा। सामीलिपिः वामतो दक्षिणं लिख्यतेऽतस्तस्या अपि ब्राह्मीलिपिर्जातेति कथनं न सङ्गच्छते। ग्रीकसामीप्रभृतिलिपित एतावदन्तरं ब्राह्मीलिपितो विद्यते यत् कथमपि कश्चित्सम्बन्धो न सम्भाव्यते।

भारतीया परम्पराऽपि न स्वीकरोति यद् ब्राह्मीलिपिरायातिता लिपिः। राष्ट्रस्य सर्वाधिकीं वैज्ञानिकीम् अङ्कप्रणालीं तथा च दशमलवप्रणालीं समग्रः संसारः स्वीकृतवान् तदा लिपिर्बाह्यदेशादानीतेति कथनं न युज्यते। ब्राह्मीलिपौ वेदादिभाषाया ध्वनिसाम्यमपि वरीवर्ति। अतो नूनमियं ब्राह्मीलिपिर्भारतीयैः परिकल्पिता भारतीयैव लिपिरस्ति नास्ति सन्देहः।

बह्व्यो भारतीया लिपयो ब्राह्मी लिपित एव विकसिताः सन्ति।

१. गुप्तलिपिः-अस्याः लिपेः प्रचारो भारते चतुर्थपञ्चमख्रीस्तशत्यामासीत्। गुप्तकालिकैः शासकैः प्रवर्तितत्वादियं गुप्तलिपिः कथ्यते।

२. कुटिललिपिः-अस्यां लिपावक्षराणि कुटिलानि (वक्राणि) भवन्ति, अतः कुटिला लिपिः कथ्यते। कुटिललिपित एव नागरी, शारदा लिपिश्च विकसितेऽभवताम्।

३. प्राचीना नागरी लिपिः- इमां दाक्षिणात्या नन्दीनागरीत्यपि कथयन्ति। इयं लिपिः-अष्टमीनवमीशताब्दीतः षोडषीं शतीं यावत्-प्रचलिताऽसीत्। प्राक्तन्या नागर्याः पूर्वशाखातो बङ्गलिपेर्विकासो जातः। अस्याः पश्चिमीशाखातो महाजनी, राजस्थानी गुजराती कैथीत्यादि लिपीनां विकासो जातः।

४. शारदालिपिः-अस्याः लिपे प्रसारः काश्मीरे पंजाबे च प्रदेशे प्राप्यते। शारदालिपित एव वर्तमाना काश्मीरी टक्की, गुरुमुखीति लिपयः निर्गता विद्यन्ते।

५. बंगलिपिः-अस्या उत्पत्तिः प्राक्तननागरीलिपितो दशमशताब्द्याम-भवत्।

दाक्षिणात्याः शैल्याऽधोलिखितानां लिपीनां विकासो जातः–

१. पश्चिमी-इयं लिपिर्दक्षिणमहाराष्ट्रे मैसूरे च पञ्चमख्रीस्तशताब्द्यां प्रयुक्ताऽऽसीत्।

२. मध्यप्रदेशीया-इयं लिपि मध्यप्रदेशे, हैदराबादस्योत्तरे भागे बुन्देलखण्डे पञ्चमीशतीतोऽष्टमशताब्दीं यावत्प्रचलिताऽऽसीत्।

३. तेलुगुकन्नड़ी-इयं लिपिः महाराष्ट्रस्य दक्षिणेभागे हैदराबादस्य दक्षिणभागे मैसूरचेन्नईत उत्तरपूर्वभागे प्रचलिताऽऽसीत्। पञ्चमीशतीतश्चतुर्दश-शताब्दीं यावदस्या अनेकरूपभेदा अभवन्। अस्या एव लिपेः वर्तमाने तेलुगुकन्नड़लिपी निर्गते स्तः।

४. ग्रन्थलिपिः-इयं लिपिर्मद्रासे (चेन्नईक्षेत्रे) प्रचलिताऽऽसीत्। सप्तमशताब्दीतः पञ्चदशशताब्दीं यावदस्यामनेकानि रूपान्तरणानि जातानि यस्या वर्तमाने मलयालमलिपिस्तथा च तुलुलिपिर्विकसिते जाते। तमिललिपौ वर्णानामपूर्णता विद्यतेऽतः संस्कृतभाषाग्रन्था ग्रन्थलिप्यैव लिख्यन्ते। एवं प्रतीयते यत्संस्कृतग्रन्थेषु प्रयोगत्वादस्या नाम ग्रन्थलिपिरित्यभवत्।

५. तमिललिपिः-अस्याः लिपेः प्रयोगः सप्तमशताब्दीतोऽद्यावधि कृतो विद्यते। तमिललिपेरक्षराणि प्रायशो ग्रन्थलिपिसदृशानि दृश्यन्ते।

६. कलिङ्गलिपिः-कलिङ्गलिपेर्लेखाः सप्तमशताब्दीत एकादशशताब्दीं यावत्प्राप्यन्ते। अस्याः लिपेरक्षराणि प्रायः समकोणानि विद्यन्ते। अस्यां नागरी-तेलुगु-कन्नड़ी-ग्रन्थलिपीनां सम्मिश्रणं दृश्यते।

उक्तानां लिपीनां विकासः ब्राह्मीलिपित एव जातः। राष्ट्रे द्वे विदेशलिपी प्रयुक्ते दृश्येते-रोमनलिपिः-उर्दूलिपिश्च। रोमनलिपेः प्रयोग आङ्लशासन-काले विकसितः, उर्दूलिपिर्मुगलशासने समागता। रोमनलिपिः केवलमाङ्ग्ल-

भाषा- लेखने प्रयुक्ता भवति, उर्दूलिपिश्च उर्दूसाहित्यादिलेखने प्रयुज्यते।

हिन्दीभाषा-देवनागरीलिपौ लिखिता हिन्दीभाषा भारतीयसंविधानेन राजभाषारूपेण स्वीकृता। संस्कृतभाषाग्रन्थानां मुद्रणे देवनागरीलिपेरेव प्रयोगः सम्प्रति प्रचलति। हिन्दीभाषाग्रन्था अपि देवनागरीलिप्यामेव विद्यन्ते। देवनागरीलिपेः प्रयोगः मराठीभाषायाःकृते तथा नेपालीभाषायाःकृतेऽपि भवति। उत्तरभारतस्य समस्ताः लिपयो देवनागरीलिपेरेव भेदा वर्तन्ते।

उक्तं लिपिविषयकं विवरणं 'भाषाविज्ञान की भूमिका'-इति हिन्दीग्रन्थमाश्रित्य मया संस्कृतभाषाछात्राणामुपकाराय प्रस्तुतम्। एतदर्थ-महम् आचार्यदेवेन्द्रनाथशर्माणं प्रति कृतज्ञतामावहामि। देवनागरीलिपिं प्रति-आचार्यदेवेन्द्रनाथशर्मणोऽवधारणा तद्भाषया-एवात्र प्रस्तूयते-

देवनागरी उन आदर्शों पर भी खरी उतरती है जो किसी अच्छी लिपि के लिए आवश्यक होते हैं। आदर्श लिपि में निम्नलिखित बातों की आवश्यकता होती है-

१. ध्वनि और लिपि में सामंजस्य होना चाहिए। अर्थात् जो बोला जाय वहीं लिखा जाये।

२. एक ध्वनि का संकेत हो, अर्थात् ध्वनि और संकेत में निश्चितता हो। रोमन में एक ध्वनि के लिए अनेक संकेत काम में लाए जाते हैं। जैसे-क के लिए K (King) C (cat) Q (queen) Ck (Cuckoo) ch (chemistry) इसी तरह रोमन में एक संकेत से अनेके संकेत काम में लाये जाते हैं। उदाहरणार्थ 'A' से आठ ध्वनियों को अभिव्यक्त करने का काम लिया जाता है जो इन शब्दों में विद्यमान है- Rat, Ball, Many, Fare, Made, Was, Steward।

इसी तरह उर्दू में एक 'ज' के लिए जे, जाद, जो, जाल ये चार संकेत काम में लाए जाते हैं। 'स' ध्वनि के लिए भी से, सिन्, साद-तीन संकेत काम में आते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि एक संकेत में अनेक ध्वनियों की अभिव्यंजना और एक ही ध्वनि के लिए अनेक ध्वनियों का प्रयोग लिपि सम्बन्धी बहुत बड़ा दोष है। देवनागरी इससे मुक्त है।

३. आदर्श लिपि में किसी भाषा में समग्र को अंकित करने की क्षमता होनी चाहिए। आज संसार में जो लिपियाँ प्रचलित हैं, उनमें यह गुण जितना देवनागरी में है, उतना किसी दूसरी लिपि में नहीं। रोमन और उर्दू इस दृष्टि से बहुत ही हेय है। रोमन में ख, छ, ठ, थ, फ, घ, झ, द, ध, भ आदि महाप्राण ध्वनियों अथवा ङ, ञ, ण आदि अनुनासिक ध्वनियों के लिए कोई संकेत नहीं है। यदि 'वाङ्मय' अथवा 'याच्ञा' शब्द लिखना हो तो उसे न रोमन में लिख सकते हैं न उर्दू में।

४. लिपि को सुपाठ्य और सन्देहरहित होना चाहिए ऐसा नहीं कि एक संकेत में दूसरे संकेत का भ्रम हो जाये। उर्दू कीम्विन्दियों के कारण या जेर जबर आदि स्वर की मात्राओं का प्रयोग न होने से पढ़ने में जो उलझन पैदा होती है उसे सभी उर्दू दाँ परिचित हैं। उर्दू के सम्बन्ध में एक कहावत है कि 'खुदा से जुदा हुए एक नुक्ते के लिए।

५. सौन्दर्य भी लिपि का एक महत्त्वपूर्ण गुण है।

६. आधुनिक वैज्ञानिक युग में यान्त्रिक सौकर्य अर्थात् टंकण की सुविधा भी ध्वनि की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

७. आधुनिक युग गति और वेग का युग है लिपि में त्वरा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। आशुलेखन की सुविधा जीवन का अनिवार्य अंग बन गई है। देवनागरी इन सभी शर्तो को पूरा करती है। दूसरी किसी भी लिपि की तुलना में यह नि:सन्देह.....अधिक वैज्ञानिक और निर्दोष है[१]।

संस्कृतभाषा सम्प्रति देवनागर्यामेव लिख्यते। हिन्दीभाषाऽपि देवनागर्यामेव लिख्यते किन्तु सम्प्रति **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'** (८/४/५८) इति सूत्रानुसारेण हिन्दी प्रायो न लिख्यते यथा अङ्क, चञ्चल, घण्टा, मन्थर परम्परा शब्दा हिन्द्याम्-अंक, चंचल, घंटा, मंथर, परंपरा-रूपेण लेखनाय भारतशब्दवल्यायोगेनाप्यनुमतिः प्रदत्ता। परिणामतः संस्कृतभाषायामस्य प्रभावः प्रायशः दृश्यते।

---

१. भाषाविज्ञान की भूमिका, लेखक-देवेन्द्रनाथ शर्मा पृ०-३५६-५८

केवलं 'वाङ्मय' शब्दे 'ङ्' इत्यस्याङ्कनमनिवार्यमस्ति वस्तुतोऽत्रानुस्वारो नास्ति वाक् पदस्य 'क' इत्यस्य 'ङ'–इति रूपं पदे पूर्वप्रयुक्तकारणादस्ति। अनुस्वारप्रयोगः कदाचित् क्षम्योऽपि स्यात् किन्तु 'घन्टा, चन्चल' इति रूपेण प्रयोगः सर्वात्मनाऽनुचिततोऽस्ति।

लिपि विज्ञान

विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अनेक उपाय किए गए हैं। उनके स्थायित्व के लिए सबसे उत्तम उपाय लिपि का अन्वेषण है॥१॥

जो ध्वन्यात्मक भाषा है वह शीघ्र नष्ट हो सकती है। अतः उसका अक्षर रूप लिपि के रूप में निश्चित हुआ॥२॥

देश और काल की भिन्नता के कारण विविध लिपियों का विकास हुआ जिससे उनके स्वरूप में भिन्नता पाई जाती है। इसके कारण आज भी अनेक लिपियाँ पाई जाती हैं। इसके अवबोध के विज्ञान को लिपि विज्ञान कहा जाता है॥३,४॥

भारतीय परम्परया ताल्वादिवाग्गत उच्चार्यमाण ध्वनियों को महादेव शिव के ढक्कानाद से उत्पन्न मानते हैं। जैसा कि कहा गया है–

'नृत्त की समाप्ति पर नटराजराज (भगवान् शिव) ने चौदह बार डमरू बजाया। सनकादि सिद्ध ऋषियों के उद्धार की कामना से इस शिवसूत्र के जाल का विमर्श करता हूँ।'

शिक्षा (उच्चारण की पद्धति बताने का शास्त्र) ग्रन्थ में यह तथ्य स्वीकार किया गया है 'यह अक्षरसमाम्नाय महामहेश्वर से प्राप्त किया गया है।'

इनको माहेश्वर सूत्र कहा जाता है, इनको पहले ब्राह्मी लिपि में प्राप्तकर देवनागरी लिपि में लिखा जाने लगा। ब्राह्मी, शारदा, बँगला आदि लिपियों में भी संस्कृत के ग्रन्थ अभी तक पाण्डुलिपियों के रूप में प्राप्त होते हैं।

ध्वन्यंकन सम्प्रति देवनागरी लिपि में किया जाता है इसी लिपि में हिन्दी, मराठी तथा हिन्दी की विभाषाएँ भी लिखी जाती हैं।

इस देवनागरी लिपि में वर्तनियों के आकार मुख से निकलने वाले वायु की स्थिति की सूचना देते से प्रतीत होते हैं। प्रायः इनकी आकृति की रेखाओं को धातु का बनाकर उनका तुला पर यदि भार देखा जाय स्पर्श व्यंजनों ('क' से 'म' तक) प्रायः वर्ग के प्रथम से द्वितीय और तृतीय से चतुर्थ भारी हैं। अन्तस्थ वर्ण (यण् प्रत्याहार वाले अक्षर) तथा स्वरों के उच्चारण स्थान जो स्पर्श व्यंजनों के साथ पठित हैं। उनकी विशेषता यह है कि उच्चरित तो उन्हीं स्थानों से होते हैं पर वाग्यन्त्र में परस्पर अवयव अत्यन्त निकट आ जाते हैं किन्तु एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। ॐ (ओम्) जो प्रणव के रूप में विख्यात है और नासा के विज्ञानियों के अनुसार सूर्य चलते समय ॐ की ध्वनि निकालते हुए आगे बढ़ता है यह भी अद्भुत है, कि संस्कृत के स्वरों में प्रथम 'अ' स्वरों के मध्य में स्थित 'उ' तथा व्यंजनों के अन्त में स्थित 'म्' इनकी समष्टि का उच्चारण ऊर्जा का पुंज सूर्य करता चलता है। अतः वेदों के पाठ और अधिकांश तान्त्रिक प्रयोगों में प्रारंभ और अन्त में ॐ के उच्चारण का विधान प्राक्तन ऋषियों के मन्त्र साक्षात्कार का और उनसे शिवत्व की प्राप्ति का ज्ञापक है। संस्कृत व्याकरण के सूत्रों में शब्दों की सिद्धि के लिए माहेश्वर सूत्र से निर्मित प्रत्याहारों का तथा मात्रिकाओं ('क' से 'म' तक) का उपयोग किया गया है। अतः संस्कृत भाषा के अक्षरों की देवनागरी लिपि अत्यन्त वैज्ञानिक है। शिव के ढक्कानाद का अक्षरों में ध्वन्यङ्कन उसका क्रम निश्चित ही किसी पराशक्ति से उद्भावित है। यह कथा प्रचलित है कि हनुमान् ने सूर्य से व्याकरण पढ़ा था। वर्णों के उच्चारण में कायाग्नि का उल्लेख है-**'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनःकायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतः॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥'**

उच्चारण में 'अ' जगत् में ब्रह्म की तरह सर्वत्र व्याप्त रहता है गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है 'अक्षराणामकारोऽस्मि' व्याकरण शास्त्र का मत भी है 'हकादिष्वकार उच्चारणार्थः।' अग्निपुराण में भी कहा गया है–

अक्षर पर ब्रह्म है, सनातन है, अजन्मा है और व्यापक है। उपनिषद् ग्रन्थों में कहा जाता है कि यह चैतन्य ज्योति और ईश्वर है। (अग्निपुराण अ. ३३९)

देवनागरी लिपि में अकार के अङ्कन की स्थिति

अकार का प्रतीक चिह्न 'ा' है देवनागरी लिपि के अधिकांश अक्षरों में यह स्पष्ट दिखता है इसके निकलने पर अक्षर स्वर रहित हो जाता अर्थात् 'अच्' से हीन हो जाता है और अगले वर्ण से इसका संयोग हो जाता है **'अज्झीनं परेण संयोज्यम्'** यह नियम है। जैसे क–ा=क् ख–ा=ख्, ग–ा=ग्, घ–ा=घ्, ङ इस वर्ण का कण्ठ के साथ नासिका स्थान भी है अतः हवा थोड़ी दूर निकल कर मुड़कर नासिका छिद्र की ओर ऊपर की ओर उठ के फिर नीचे उतरती है इसलिए इसका 'ङ' आकार बन जाता है यह वर्ण किसी शब्द के प्रारम्भ में नहीं आता मध्य में किसी स्वर के साथ रहता है जब पूरा (अर्थात् स्वर युक्त रहता है) जैसे 'तिङन्त' किन्तु कवर्गीय वर्णों के आने पर अन्य से संयुक्त होकर जैसे 'गङ्गा' लिखा जाता है अथवा स्वररहित 'ङ्' के रूप में लिखा जाता है हिन्दी में वर्तमान में अनुस्वार 'स्व' के रूप में प्रयुक्त होता है शब्दावली आयोग ने 'वाङ्मय' शब्द को छोड़कर सभी अन्य शब्दों के आगे रहने पर अनुसार के रूप में लिखने की अनुशंसा की है जैसे गंगा, कंकाल आदि किन्तु संस्कृत के विद्वान् अभी प्रायः कवर्ग के साथ पूर्ण परम्परा के अनुसार संयुक्त रूप में ही लिखते हैं इसमें टङ्कण यन्त्रों के चलाने वाले भी प्रायः अनुस्वार ही टाइप कर देते हैं जो निश्चित ही देवनागरी लिपि के प्रवर्तक की भावना के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। 'च' वर्ग में भी निकलने वाली हवा की स्थिति का ही रेखांकन है। च–ा='च', छ–ा= 'छ्' ज–ा='ज', झ–ा='झ्', ञ–ा='ञ' इस (चवर्ग) में 'छ' के उच्चारण में दबी हुई कुछ हवा घूम कर निकाली जाती है अतः इसकी रेखाओं में घुमाव दिखाई देता है अन्यवर्णो में 'ा' (अ) को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

'ट' वर्ग में 'ा' (अ) की आकृति लगभग एक चौथाई दिखाई देती है उसका कारण है मूर्धा (मुख के अन्दर का ऊपरी भाग) टवर्ग के उच्चारण के लिए छूना आवश्यक होने से जीभ मुड़कर ऊपर उठने के कारण घूम कर निकलती है अत: सभी गोलाई से युक्त हैं इनमें भी 'ण' के उच्चारण हेतु मूर्धा के साथ नासिका से निकलना आवश्यक होने से उसे ऊपर जाकर फिर नीचे आकर निकलना पड़ता है अत: 'ण' की आकृति इस प्रकार है।

'त' वर्ग में त-ा='ꣃ', थ-ा='꣄', 'द' वर्ण अल्पप्राण हैं अत: आकृति अ का 'ा' चौथाई ही ऊपर प्रदर्शित है। ध महाप्राण (अधिक हवा के दवाब वाला वर्ण होने से उसमें 'ा' पूरा है ध-ा='ꣅ' और 'न' में न-ा='꣆' यह दाँत के साथ नासिका से उच्चरित होने पर भी 'अ' के प्रभाव को पूरी तरह नहीं छोड़ पाता अत: 'अ' का प्रतीक ा प्राय: पूरा दिखाई देता है।

'प' वर्ग में ओष्ठों के मिले विना उच्चारण संभव ही नहीं है किन्तु उच्चारण के लिए अ स्वर का निकलना आवश्यक होता है अत: इस वर्ग में अ 'ा' सभी वर्णों में है। जो सुस्पष्ट है। इस प्रकार सभी स्पर्श व्यञ्जनों में अ 'ा' की स्थिति अथवा अन्य स्वरों की स्थिति को आकृति हवा का रेखाचित्र इस लिपि को विश्वश्रेष्ठ सिद्ध करता है यह भी विशेष बात है कि इन वर्णों की आकृतियों में स्वरों का सन्तुलन चित्र में दिखाई देने के कारण शुद्ध उच्चारण अर्थात् जैसा लिखा जाय वैसा ही उच्चारण किया जाय। इसमें देवनागरी लिपि सर्वोत्तम सिद्ध होती है।

इसी प्रकार अन्त:स्थ वर्णों (य,र,ल,व) में भी हवा की आकृति बनती दिखाई देती है–

य-अ='꣇'+ा य, इसका भी उच्चारण स्थान तालु है जो कण्ठ के मूर्धा के बीच का भाग है। स्पर्श व्यंजन (क से म) इनके उच्चारण में वाग्यन्त्र के नीचे और ऊपर के अवयव आपस में एक दूसरे का स्पर्श करते हैं यह ध्यान रखना है कि मुख का उपरी भाग स्थिर रहता है नीचे स्थित जिह्वा यथोचित रूप में अपने पश्च, मध्य और अग्रभाग में वर्णों

की दृष्टि से ऊपरी भाग का स्पर्श व्यंजनो के उच्चारण के लिए स्पर्श करती है और अन्तःस्थ वर्णों में अत्यन्त निकट होकर य,र,ल,व का उच्चारण हवा की गति को नियोजित करके करती है। र–अ=र् 'स्वरं दृष्ट्वा ह्यधो याति व्यञ्जनं चोर्ध्वमाप्यते' यदि 'र' में कोई स्वर जुड़ता है तब नीचे 'ɹ' उलटा होकर लगता है जैसे राजेन्द्र यहाँ न्+द्+र्+अ है यदि व्यंजन 'र्' के आगे आता है तब यह व्यंजन के ऊपर व्यंजन जिस स्वर में मिला है जलतुम्बिका न्याय से उसके ऊपर लगता है जैसे आविर्भाव। ल–I='ल' यह व्यंजन में जुड़ने पर उसमें पहले दिखाता है जैसे अल्प किन्तु जब इसमें कोई व्यंजन जुड़ता है और यह स्वर युक्त होता है तब यह व्यंजन के आगे दिखाई देता है जैसे क्लीव।

व–I=व्+अ=व यह किसी व्यंजन या अन्तस्थ वर्ण से जुड़ता है तब पहले दिखाई देता है जैसे व्यास, जब इसमें कोई व्यंजन जुड़ता है और यह स्वर युक्त है तब आगे या नीचे दिखता है जैसे क्वाथ, विद्वान् श–I=श यह र में मिलने पर 'श्र' के रूप में लिखा जाता है अन्य वर्णों में स्वररहित जैसा प्रदर्शित है वैसा ही रहता है यथा श्याम।

ष–I=ष् इसके अ (I) से युक्त रहने पर यदि पूर्व में क् रहता है तब प्रसिद्धतम संयुक्त अक्षर 'क्ष' के रूप में रहता है जिसका मूल स्वरूप सर्वथा पहचान में नहीं आता अतः हिन्दी की वर्ण माला पृथक् रूप से दर्शायी जाती है। इसी प्रकार प्रसिद्ध संयुक्त अक्षर 'ज्ञ' है जिसमें न् + ञ=ज्ञ है इसे भी हिन्दी वर्णमाला में स्वतन्त्र रूप से बताया जाता है, हिन्दी में 'ग्य' जैसा उच्चारण की नासझी से होता है और इसे रोमन वर्तनी में gy कर दिया जाता है। अंग्रेजी में ध्वनि संकेत कम होने से 'ञ' को भी N द्वारा संकेतित किया जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञ को JNA करके लिखा जाना उचित है। ह–I=ह् इसका उच्चारण स्थान कण्ठ है किन्तु उच्चारण में इसमें निकलने वाली हवा बहुत अधिक होती है अतः मध्य प्राण है। ह जब किसी वर्ण से स्वर रहित रूप में मिलता है तब यह इस प्रकार होता है–'ह्य' 'ब्रह्म'। ब्राह्मण और ब्रह्म का हिन्दी के अल्प ज्ञान रखने वाले ब्रह्म के ब्रम्ह और चिह्न को चिन्ह लिख

देते हैं जो गलत है। इसका उच्चारण स्थान कण्ठ है और म का ओष्ठ के साथ नासिका भी है। ये मुख में सबसे आगे हवा निकालते हुए ध्वनि उत्पन्न करते हैं जबकि कण्ठ सबसे पीछे है अतः बोलने में असावधानी रखने से ऐसा गलत उच्चारण होता है। 'क' वर्ण तथा 'प' वर्ग के पहले आने वाले विसर्ग की उच्चारण स्थिति भी विलक्षण है। 'क' 'ख' पहले आने वाले विसर्ग की सूचना के लिए इस तरह का संकेत किया जाता है इसको जिह्वामूलीय कहते हैं और 'प' 'फ' के पहले आने वाले विसर्ग का संकेत भी यही ( ) है इसे उपध्मानीय कहते हैं। लघु कौमुदी अथवा सिद्धान्तकौमुदी के संज्ञा प्रकरण को ध्यान से प्रयोग-पूर्वक किसी व्याकरण के तलस्पर्शी विद्वान् से उच्चारण और लेखन विधि समझना प्रत्येक संस्कृत के शोधच्छात्र के लिए नितान्त आवश्यक है।

उक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि संस्कृत भाषा की उच्चारण विधि और देवनागरी लिपि सर्वश्रेष्ठ है। इसे जैसा लिखा जाता है वैसा उच्चरित किया जाता है इसमें ध्वनियों की संख्या भी अन्य भाषाओं से अधिक है। एक विशेषता यह भी है कि इस भाषा का अनुष्ठान और तान्त्रिक प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है। इसके ऊँ का महत्त्व पहले बताया जा चुका है।

किसी के परिचय के लिए उसके आकार, प्रवृत्ति और प्रकृति का ज्ञान करके ही उसके अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग के प्रतिपादन में कोई समर्थ हो सकता है। लिपि का अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि लिपि से ही किसी ज्ञान को भाषा के माध्यम से चिरस्थायी बनाया जा सकता है। लिपिबद्ध होने से उसकी प्रतिलिपियाँ करने से अनेक लोगों तक उस ज्ञान को बाँटा जा सकता है। लिपि के चिह्न को अक्षर कहा जाता है जो ब्रह्म कहा जाता है। महान् शब्दशास्त्री व्याकरणवेत्ता भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में कहा है–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

उपनिषदों में 'वाग् वै ब्रह्म' कहा गया है। अतः ऐसी देवनागरी लिपि जिसमें वायु की स्थिति का चित्र बना है इसके सर्वोत्तम बताने में शपथ की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट है।

लिपि ध्वनि प्रतीक चिह्नों से सम्बद्ध होती है चिह्न को ही अक्षर कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे 'अल्फावेट' कहते हैं। लिपि शब्द का प्रयोग पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी मिलता है किन्तु इसका आरम्भ कब से हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संख्याओं में पाँच संख्या तक सुक्ष्म रूप से रेखाओं को पहचाना जा सकता है जैसे–

। = ≡ शीघ्र रेखाओं के अंकन में ये मिल जाती है १२३४५ रोमन (अंग्रेजी) में इसे स्पष्ट प्रदर्शित कर (12345) लिखा जा सकता है। अल्पज्ञ जन गावों में गाही अर्थात् ५ जो हो एक हाथ की अंगुलियों की संख्या भी होती है। उससे पाँच 'फलों' के साथ करके गिनते हैं जब पाँच बार हो जाता है तब पच्चीस, दस बार हो जाता है तब पचास और बीस बार होने पर एक सौ संज्ञा हो जाती है। शुक्ल-यजुर्वेद में भी 'पञ्च च मे', दश च मे इत्यादि रूप में संख्या का उल्लेख मिलता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि पहले चित्रात्मक लिपि विकसित हुई। अंकलेखन का विकास मनुष्य की अंगुलियों की संख्या से हुआ। मौन भोजन करते समय एक या दो रोटी का संकेत अंगुलियों से ही आज भी किया जाता है। काव्यशास्त्र के आचार्य भामह ने कहा है इतने इस प्रकार के वर्ण इस अर्थ के बोधक होंगे ऐसा लोगों द्वारा निश्चित संकेत स्वीकृत किए गए होंगे। भामह की कारिका में वर्ण शब्द का प्रयोग किये गया है जो अक्षर के साथ रंग का भी बोधक है। रंगों द्वारा भी संकेत दिया जाता है हरी, लाल और पीली बत्ती से भी संकेत ग्रहण किया जाते हैं वायरिंग करने में तीन रंग के तारों का प्रयोग किया जाता है जिसमें प्रायः पावर वाला तार लाल रखा जाता है जिससे अन्य मेकेनिक उसको देखकर पंप आदि के तारों को पीले को पीले से लाल को लाल से और नीले को नीले से जोड़ना है यह समझ जाता है। अतः वर्ण की रंग के अर्थ में अन्विति यथोचित रूप में सार्थक होती है यह

निश्चित है कि अक्षरों के निर्णय में कोई स्वीकृति अवश्य रही होगी। भामह की हिन्दी व्याख्या में आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इस प्रकार की है–

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के प्रश्नों से स्पष्ट होता है कि लिपि की उत्पत्ति के विषय में सम्यक् समाधान संभव नहीं है। जैसे मनुष्य के मन में जो भाव आता है उसकी अभिव्यक्ति भाषा से संभव नहीं होती उसी प्रकार लिपि से भी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। लिखित भाषा उच्चरित भाषा का स्थूल रूप है। क्योंकि उच्चरित भाषा द्वारा बल, तान, स्वर आदि द्वारा जो अर्थ होता है, वह लिखित भाषा में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। अतः लिपि का जो विकसित रूप है उसके आधार पर उसके प्रारंभिक रूप की समुचित कल्पना नहीं की जा सकती।

इतिहासकारों का मत है कि लिपि विकास का सोपान (क्रम) है। मुख्य रूप से इस के तीन सोपान हैं–

१. चित्रलिपि २. भावलिपि ३. ध्वनिलिपि

चित्रलिपि (Pictography)- यह प्राक्तनतम लिपि है इसमें किसी वस्तु का चित्र बनाकर मनुष्य अपनी भावाभिव्यक्ति करता था जैसे पर्वत को बताने के लिए नीची ऊँची रेखा खीचना इसमें संकेतित रूप में प्रदर्शित करने में बहुत त्रुटियाँ थीं। लिपि में पर्याप्त स्थान की आवश्यकता थी, समय भी अधिक लगता था, इसमें किसी स्थूल वस्तु का चित्रण होता था। इसमें प्रेम, दया आदि का चित्रण संभव नहीं था। चित्रलिपि में बहुत दोषों के होने के बाद भी इसमें विशेषता यह थी कि बहुत लोगों के लिए बोधगम्य थी। जैसे निर्वाचन के समय मतदाता सभी भाषाओं को नहीं जानते बहुत से मतदाता ऐसे भी हैं जो किसी भाषा को नहीं जानते, अतः प्रत्येक दल अथवा नेता का चुनाव चिह्न देखकर अपना मतदान कर सकते हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक शौचालयों में महिला-प्रसाधन में महिला का चित्र और पुरुष प्रसाधन में बाहर पुरुष का चित्र बना दिया जाता है इसी प्रकार राजमार्गों में बच्चों का बस्ता लेकर दौड़ना बगल के खम्भों में मुड़ने का या चौराहे या रेल क्रासिंग

के पहले विशेष संकेत बनाना, ये चित्र लिपि के ही संकेत हैं। हरी और लाल बत्ती से गमना- गमन नियन्त्रित करना सड़क पर सफेद पहियों से संकेत करना। कुछ विद्वान् सूत्रलिपि का भी संकेत करते हैं इसमें धागे या रस्सी में गाँठ लगाकर याद रखना। ग्रन्थि शब्द का प्रयोग तो आज वर्ष ग्रन्थि (वर्ष गाँठ) के रूप में होता है। कोई व्यक्ति कितने वर्ष का हो गया वर्ष के पूरे होने पर डोरी में एक गांठ लगाकर याद किया जाता था। (जन्मदिन शब्द का प्रयोग आज लोग करते हैं जो मूर्खता पूर्ण है जन्मतिथि शब्द ही ठीक है। क्योंकि तिथि आने पर वही दिन भी हो यह संभव नहीं, भारतीय परम्परा में तिथि में जन्म या मृत्यु विषयक कर्मकाण्डीय विधान होते हैं, क्यों? २९ फरवरी चार साल बाद आती है किन्तु भले तिथि का समय कम हो किन्तु प्रतिवर्ष आती अवश्य है।) इस प्रकार भारतीय तिथि निरूपण भी वैज्ञानिक है।

भावलिपि–भावलिपि चित्रलिपि का ही विकसित रूप है। इसमें प्रतीक चिह्नों का विकास हुआ। जैसे पर्वत के लिए टेढ़ी रेखाओं का बनाना, प्रथमतः सूर्य के लिए एक गोला (0 शून्य के समान) प्रयुक्त था किन्तु कालक्रम से दिन का भी वाचक बन गया। इस लिपि के उदाहरण उत्तर-अमेरिका, चीन और अफ्रीका आदि देशों में प्राप्त होते हैं। चीन में अभी तक अनेक शब्द भावलिपि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। रेखामयी चित्रलिपियाँ मिश्र, केलीफोर्निया आदि देशों की लिपियाँ हैं।

ध्वनिलिपि (Phonetic Script)– लिपि के विकास में ध्वनि लिपि का विकास महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, क्योंकि इस लिपि में चित्र और भाव से ऊपर जाकर प्रत्येक ध्वनि का अंकन किया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक ध्वनियों को अंकित किया जा सकता है। ध्वनिलिपि का उदाहरण देवनागरी आदि लिपियाँ हैं। कुछ विद्वान् देवनागरी लिपि को अक्षरमूला और रोमन लिपि को वर्णमूला (अल्फावेटिक) कहा है। कुछ विद्वान् रोमन लिपि को श्रेष्ठ बताते हैं। सेलेबिक शब्द अंग्रेजी भाषा का है सिलेबिल इसमें एक साथ उच्चरित होने वाली सभी ध्वनियों को गृहीत किया जाता है। जैसा कि आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कहा है–

देवनागरी लिपि अक्षरात्मिका (Syllable के रूप में) है। अंग्रेजी भाषा (रोमन लिपि) अल्फावेटिक है। देवनागरी लिपि के टंकण में स्वरचिह्न भी लगाए जाते हैं किन्तु अंग्रेजी भाषा में केवल वर्णों का टंकण होता है। इसलिए अनुस्वार, विसर्ग, मात्रा आदि की झंझट होती है किन्तु रोमन लिपि में केवल वर्ण ही टंकित करने पड़ते हैं इसलिए उसे श्रेष्ठ बताते हैं।

वर्तमान में वैज्ञानिक विकास के कारण ध्वन्यंकन भी किया जाने लगा है (अर्थात् बोलकर भी आप कम्प्यूटर और मोबाइल में अपने वाक्य लिख सकते हैं) मानव द्वारा उच्चरित जिन ध्वनियों को यंत्र सुनता है वही लिखता है अतः देवनागरी लिपि तो जैसा उच्चारण है वैसा ही अंकन करेगी किन्तु अंग्रेजी के नो (No) और नो (Know) तथा Put तथा But के टंकण में वह समर्थ नहीं है। अतः आज पाश्चात्य भी स्वीकार करने लगे हैं कि संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि ही कम्प्यूटर के लिए सर्वथा उपयोगी हैं। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कहा है लिपि का सम्बन्ध केवल यन्त्र से ही नहीं है। वस्तुतः उनके ग्रन्थ लेखन के समय (भाषा विज्ञान की भूमिका के लेखन) उच्चरित भाषा के टंकण का विधान विकसित नहीं था किन्तु आज है। जो पाश्चात्य विद्वान् आचार्य शर्मा के कथन का खण्डन करते थे आज उनके कथन को उपयुक्त मानकर देवनागरी लिपि और संस्कृत भाषा को सर्वोत्तम बता रहे हैं। देवनागरी का विकास ब्राह्मीलिपि से हुआ है यह सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं।

भारतीय पाण्डुलिपियाँ तथा लिपिविज्ञान

प्राचीन काल में भारत में दो लिपियाँ प्रसिद्ध थीं–

खरोष्ठी और ब्राह्मी। ब्राह्मी लिपि से अनेक लिपियाँ विकसित हुई हैं यथा १. गुप्तलिपि २. कुटिल लिपि, ३. प्राचीन नागरी, ४. शारदा ५. बंगला तथा दक्षिण शिल्प की अन्य लिपियाँ।

खरोष्ठी– खरोष्ठी लिपि प्रायः भारत के उत्तर पश्चिम में

प्रचलित थी। पंजाब प्रदेश में राजा अशोक के कुछ शिलालेख इस क्षेत्र में प्राप्त हुए हैं। अशोक के कार्यकाल के पूर्व खरोष्ठी लिपि के अभिलेख नहीं प्राप्त होते। जैसा कि आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने लिखा है- 'वस्तुतः खरोष्ठी विदेशी थी पश्चिमोत्तर भारत कुछ दिनों तक ईरानियों के अधिकार में था। यहाँ यही लिपि प्रचलित थी, अतः अशोक के शिलोलेख उसी लिपि में लिखे गए। (भाषाविज्ञान की भूमिका पृ. ३४९।)

खरोष्ठी लिपि दाहिने हाँथ से बायीं ओर बढ़ती हुई लिखी जाती है। अतः सामीवर्गीय भाषा से यह प्रभावित है। कुछ विद्वान् अरबी लिपि से इसका विकास मानते हैं। खरोष्ठी लिपि में ३७ वर्ण हैं। अतः आर्य भाषा के लेखन में यह लिपि असमर्थ है। अतः यह लिपि भारत से बाहर हो गई। खरोष्ठी लिपि में मात्राओं और स्वरों में ह्रस्व दीर्घ का भेद नहीं है। खरोष्ठी लिपि में संयुक्त अक्षर लिखने की व्यवस्था नहीं है। अतः संयुक्त अक्षर युक्त संस्कृत भाषा को लिखने में यह सर्वथा असमर्थ है। ब्राह्मी लिपि से इसका सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं है।

ब्राह्मी लिपि–

ब्राह्मी लिपि की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जाती है।

१. **ब्रह्मणा निर्मिता - अतो ब्राह्मणी।** ब्राह्मी भाषा का भी पर्यायवाची शब्द है- **ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाणवाणी सरस्वती व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः।**

२. **ब्राह्मणैर्निर्मितेयं ब्राह्मी।**

३. ब्रह्म शब्द वेद ज्ञान का वाचक है, ब्रह्म की रक्षा के लिए यह निर्मित है अतः ब्राह्मी कही जाती है। (ब्रह्म का अर्थ ज्ञान भी है **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**)

कुछ विद्वान् इसकी उत्पत्ति चीनी और यूनानी प्रभृति भाषाओं से मानते हैं। चीनी लिपि चित्रात्मिका है इससे ब्राह्मी की उत्पत्ति असम्भव

है। सामी लिपि बाएँ से दायीं ओर लिखी जाती है। अतः उससे इसकी उत्पत्ति मानना संगत नहीं है। ग्रीक सामी प्रभृति लिपियों से ब्राह्मी में इतना अधिक अन्तर है कि किसी प्रकार इनसे इसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

भारतीय परम्परा भी स्वीकार करती है कि ब्राह्मी लिपि आयातित नहीं है। भारत की सर्वाधिक वैज्ञानिक अंक प्रणाली तथा दशमलव प्रणाली सारे संसार ने स्वीकार किया है तब यह भारतीय ब्राह्मी लिपि बाहर से आयातित है वह कैसे माना जा सकता है? ब्राह्मी लिपि का वैदिक ध्वनियों से ध्वनि साम्य है अतः विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद से सम्बद्ध होने से यह भारतीय लिपि ही है इसमें सन्देह नहीं है।

बहुत सी भारतीय लिपियाँ ब्राह्मी लिपि से ही विकसित हुई हैं यथा–

१. गुप्तलिपि– इस लिपि का प्रसार भारत में चौथी और पाँचवी ख्रीस्त शताब्दी में था। यह लिपि गुप्त शासकों द्वारा प्रवर्तित होने से गुप्तलिपि कही जाती है।

२. कुटिललिपि– इस लिपि के अक्षर टेढ़े (वक्र) होते हैं अतः कुटिल लिपि कही जाती है। कुटिललिपि से ही नागरी और शारदा का विकास हुआ है।

३. प्राचीन नागरीलिपि–इस लिपि को दाक्षिणात्य नन्दी नागरी लिपि भी कहते हैं। यह लिपि आठवीं और दशवीं से सोलहवीं शताब्दी तक प्रचलित थी, प्राचीन नागरी की पूर्व शाखा से बंगला लिपि का विकास हुआ है। इसकी पश्चिमी शाखा से महाजनी, राजस्थानी, गुजराती और कैथी आदि लिपियों का विकास हुआ।

४. शारदा लिपि– इस लिपि का विकास काश्मीर, पंजाब प्रदेश में प्राप्त होता है। शारदा लिपि से ही वर्तमान काश्मीरी, टक्की और गुरुमुखी लिपियाँ विकसित हुई हैं।

५. बंगलिपि– इस लिपि की उत्पत्ति नागरी लिपि से दशवीं ख्रीस्त शताब्दी में हुई।

दाक्षिणात्य शैली से अधोलिखित लिपियों का विकास हुआ है–

१. पश्चिमी– यह लिपि दक्षिण महाराष्ट्र और मैसूर में पाँचवीं ख्रीस्त शताब्दी में प्रयुक्त हुआ करती थी।

२. मध्यप्रदेशीय– यह लिपि मध्यराष्ट्र में हैदराबाद के उत्तर बुन्देलखण्ड में पाँचवीं शताब्दी से अष्टम शताब्दी तक प्रचलित थी।

३. तेलगू कन्नड़ी– यह लिपि महाराष्ट्र के दक्षिण भाग हैदराबाद के दक्षिण भाग मैसूर, चेन्नई से उत्तर-पूर्वभाग में प्रचलित थी, पाँचवीं शती से चौदहवीं शताब्दी तक इसके अनेक रूप भेद हुए। इसी लिपि से वर्तमान में तेलगू और कन्नड़ी प्रचलित हुई हैं।

४. ग्रन्थलिपि– यह लिपि मद्रास (चेन्नई) क्षेत्र में प्रचलित थी। सप्तम शताब्दी से पंद्रहवीं तक इसके अनेक रूप होते रहे जिससे मलयालम लिपि तथा तुलु लिपि विकसित हुई। तमिल लिपि में वर्णों की पूर्णता है अतः संस्कृत भाषा के ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत ग्रन्थों का इस लिपि में लेखन हुआ इसलिए इसे ग्रन्थ लिपि कहा जाने लगा।

५. तमिल लिपि– इस लिपि का प्रयोग सप्तम शताब्दी से अभी तक प्रचलित है। तमिल लिपि के अक्षर प्रायः ग्रन्थ लिपि के समान दिखाई देते हैं।

६. कलिंग लिपि– कलिंग लिपि के लेख सप्तम शताब्दी से एकादश शताब्दी तक प्राप्त होते हैं। इस लिपि के अक्षर प्रायः समकोण हैं। इस लिपि में नागरी, तेलगू, कन्नड़ी और ग्रन्थ लिपि का सम्मिश्रण दिखाई देता है।

उक्त सभी लिपियों का विकास ब्राह्मी से ही हुआ है। भारत राष्ट्र में दो विदेशीय लिपियों का भी प्रयोग प्रचलित हुआ– रोमन लिपि तथा उर्दू लिपि। रोमन लिपि का प्रयोग अंग्रेजों के शासन काल में हुआ और

उर्दू लिपि मुगल शासन काल में प्रचलित हुई। रोमन लिपि में अंग्रेजी भाषा का लेखन किया जाता है तथा उर्दू लिपि का प्रयोग उर्दू साहित्य के लेखन में होता है।

हिन्दी भाषा– देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा भारतीय संविधान में राजभाषा के रूप में स्वीकृत है। संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का मुद्रण भी देवनागरी लिपि में ही हुआ करता है। देवनागरी लिपि का प्रयोग मराठी तथा नेपाली भाषा के लेखन में किया जाता है। उत्तर भारत की समस्त लिपियाँ देवनागरी लिपि का ही भेद हैं। उक्त लिपि विषय के विवरण यहाँ छात्रों के उपकार के लिए आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा की पुस्तक भाषाविज्ञान की भूमिका से लिया गया है। देवनागरी लिपि पर डॉ. शर्मा के विचार उन्हीं की भाषा में प्रस्तुत है–

संस्कृत भाषा इस समय देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। हिन्दी भाषा भी देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है किन्तु **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'** (८.४.५८) इस सूत्र के सिद्धान्त का पालन हिन्दी में नहीं होता। जैसे अङ्क, चञ्चल, घण्टा, मन्थर, परम्परा आदि शब्दों को अंक, चंचल, घंटा, मंथर, परंपरा के रूप में लिखा जा सकता है। भारतीय शब्दावली आयोग से अनुमति भी सोदाहरण प्रदान की गई है। केवल वाङ्मय' शब्द ही इस प्रकार लिखा जायगा। वस्तुतः यहाँ वाक्+मय की सन्धि है अतः इसे अनुस्वार लगा कर लिखना गलत है। हिन्दी के अनभिज्ञ लेखक जो वांग्मय/वांमय/या वांगमय लिख देते हैं इस प्रकार लिखना सर्वथा अनुचित है। अनुस्वार लगाकर 'चंचल' या 'घंटा' लिखना ठीक न होने पर भी हिन्दी की एकरूपता के लिए शासकीय आयोग की स्वीकृति स्वीकार करना किसी प्रकार वैयाकरणों को मान्य नहीं होने पर भी विवशता में स्वीकार्य हो सकता है किन्तु 'चन्चल' 'घन्टा' लिखना सर्वथा असह्य है। श्रीमान् पूज्य, श्रीमान् प्राचार्य को श्रीमान पूज्य, श्रीमान प्राचार्य लिखने से तो दोनो की सन्धि अपूज्य अप्राचार्य के रूप में हो जाना किसी रूप में उचित नहीं है।

उपसंहारः

प्राक्तना ये सुरब्राह्मीवाङ्मयस्य मनीषिणः।
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रास्ते कवयश्च सुधीवराः।।१।।

ते नासन् प्रविधौ बद्धाः स्वतन्त्राश्शास्त्रचिन्तने।
प्रविधिस्तु स्वयं तेषां सद्वाचमनुधावति।।२।।

येषु सा प्रतिभादेवी नवनवोन्मेषशालिनी।
ते यथा सम्प्रपद्यन्ते प्रविधिर्जायते तथा।।३।।

सामान्यानां कृते यत्नो न त्वयं प्रतिभाजुषाम्।
अन्यग्रहप्रकाशेन सृतिं पश्यति नार्यमा।।४।।

विधानं प्राक्तनानां यज्जीवनाधायकं परम्।
साहित्यादिकला तेषां मते ब्रह्मसहोदरी।।५।।

लक्ष्यं हि भारतीयानां विद्यते परमं महत्।
'लीयते परमानन्दे या कला सा कला मता'।।६।।

साम्प्रतं सीमितं ज्ञानं क्षमत्वं चापि सीमितम्।
पाश्चात्यानां प्रभावेण शोधोपाधिं प्रकल्पितम्।।७।।

दृष्ट्वा तत्प्रविधिः प्रोक्तो यथादृष्टं यथाश्रुतम्।
प्रविधिश्चान्तिमो नायं लोको भिन्नरुचिर्यतः।।८।।

शोधज्ञसूरिसूर्येभ्यः प्रविधिर्मे प्रदीपवत्।
इत्थं ज्ञात्वापि नूत्नानां शोधेच्छूनां कृते कृतः।।९।।

शोधटीकासमीक्षादिप्रविधिज्ञानहेतवे।
यथामति कृतो यत्नो मेऽयं भद्रत्वमश्नुताम्।।१०।।

आसृष्टेः संस्कृतस्यास्य स्थितिः सम्यग् भविष्यति।
कालान्तरेऽवबोधाय भाषेयं सम्प्रयुज्यताम्।।११।।

सहस्त्राधिकवर्षाद्या चैकरूपा विराजते।
तदुद्धारकदेवाय तस्मै पाणिनये नमः।।१२।।

लोकेषु मानवास्तित्वं यावत् स्थास्यति कुत्रचित्।
अक्षरेयं सुरब्राह्मी तावत्तद्धितकारिणी।।१३।।

यथा वेदर्षयो व्यासवाल्मीक्यादिमहर्षयः।
तथा बोधदिशैकैव सुरब्राह्मी प्रतिष्ठिता।।१४।।

भाषेयमेकरूपास्ते पठने लेखने सदा।
अद्भुतयाऽनयाशक्त्या विश्वव्याप्ता विराजते ।।१५।।

प्रथितं वाङ्मयं चास्या विश्वमङ्गलहेतवे।
शान्तिसद्भावदं नूनं सर्वेषां हितकारकम्।।१६।।

शक्तिः शान्तिमयी मान्या दुर्भावस्य विनाशिनी।
भावनायाश्च पावित्र्यं रक्ष्यतां विश्वनायकैः।।१७।।

विधिना दण्डमात्रेण दुराचारो न नश्यते।
दुष्कृत्यस्य विनाशाय सद्भावो हि वितीर्यताम्।।१८।।

विश्वस्य गुरुता हेतुर्जानद्भिरपि नायकैः।
कथं न ध्यायते विज्ञैः सूक्तिरम्यं हि वाङ्मयम्।।१९।।

दूरदर्शनविज्ञप्तौ नित्यं नग्नप्रदर्शनम्।
शासनानुमतं किन्तु मनोर्धर्मो न सम्मतः।।२०।।

धृतिः क्षमादितः[1] प्रोक्तो धर्मो विश्वोपकारकः।
संयुक्तराष्ट्रसङ्घे किं विचारार्थं न प्रस्तुतः।।२१।।

---

१. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृतौ-६/९२
'यतो धर्मस्ततो जयः' सर्वोच्चन्यायालये सिद्धान्तरूपेणाङ्कितः॥ किन्तु धर्मः क इति, यस्योल्लेखः सर्वोच्चन्यायालये तदादर्शरूपेणापिः न कृतः।
इदमेव भारतस्य स्वकीयं तन्त्रम्। अतो धर्मलक्षणमिदं भारतस्याचारसंहितास्यादिति निवेदनम्।

धर्मस्य लक्षणं चैतत् सर्वोच्चन्यायमूर्तये।
देयं सम्यक्परीक्षार्थं मूढभ्रान्तिसमाप्तये।।२२।।

अङ्किता नित्यशो दृष्टा सर्वोच्चन्यायमन्दिरे।
गान्धारीकथिता सूक्तिः 'यतो धर्मस्ततो जयः'।।२३।।

स हि मानवधर्मोऽयं वर्णितो ज्ञायतां समैः।
मनुस्मृतिगतश्चासौ नृणां कर्तव्यबोधकः।।२४।।

यो हि यथा-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। मनुस्मृतौ-६/९२

धर्मा एते न कस्यापि सम्प्रदायस्य पुष्टये।
विश्वमानवकर्तव्यदृष्ट्यैतेप्रतिपादिताः।।२५।।

संस्कृतस्य हि साहित्यमेतानाधृत्य सर्जितम्।
रामादीनां चरित्रं यत्सर्वं धर्मान्वितं परम्।।२६।।

भारतीयं हि साहित्यं विश्वमङ्गलहेतवे।
अनुसन्धीयतां सम्यक् ह्येतदर्थं निदर्शितम्।।२७।।

इत्यलं पल्लवितेन

कृतमत्रभूरिभाषितेन।

इतिशम्। असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।

प्रयागमण्डलान्तर्गतसमहनग्रामनिवासिनः सिद्धान्तज्योतिषाचार्यस्य पण्डितरामाभिलाषद्विवेदिनः पुत्रेण राष्ट्रपतिसम्मानितेन महामहोपाध्यायेनाचार्य-रहसबिहारिद्विवेदिना प्रणीतोऽयं- 'अनुसन्धानसम्पादनप्रविधिः' विक्रम सं. -२०७४ माघपूर्णिमातिथौ बुधवासरे पूर्णतामाङ्गत। (तदनुसारेण ३१ जनवरी २०१८ ख्रीस्ततिथिः)

उपसंहार–

प्राक्तन संस्कृतवाङ्मय के मनीषी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र थे, चाहे वे कवि हो या श्रेष्ठ विद्वान्। वे किसी प्रविधि से आबद्ध नहीं थे वे मौलिक रूप से शास्त्रीय चिन्तन और लेखन में स्वतन्त्र रूप से अपने विचार व्यक्त करते थे। प्रविधि तो उनकी वाणी का अनुगमन करती थी। जैसा कि भवभूति ने कहा है–

'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'॥१,२॥

जिनमें वह नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विद्यमान थी वे जैसा प्रवृत्त होते थे वैसी ही उनकी प्रविधि बन जाती थी॥३॥

यह अनुसन्धान प्रविधि लेखन का मेरा प्रयास सामान्य अध्येताओं के लिए है न कि श्रेष्ठ विद्वानों और प्रतिभाशालियों के लिए है क्या सूर्य अन्य ग्रहों के प्रकाश में अपने चलने का मार्ग देखता है? अर्थात् नहीं देखता, वह स्वयं प्रकाशमान् है॥४॥

प्राक्तनों का जो विधान है अत्यन्त जीवनाधायक है और श्रेष्ठ है, साहित्यादि कलाएँ ब्रह्मास्वाद के समान आनन्दप्रद हैं।

भारतीयों का लक्ष्य बहुत महान् है। इनका मत है कि वही श्रेष्ठ कला है जो परमानन्द में लीन कर दे॥६॥

इस समय सीमित ज्ञान है और सामर्थ्य भी सीमित है। पाश्चात्यों के प्रभाव के कारण शोधोपाधि की कल्पना की गई। उसके कारण अनुसन्धान प्रविधि लिखने का यह प्रयास किया गया है जैसा देखा और सुना है वैसा लिखने का प्रयास इसमें किया गया है। अतः यह शोध प्रविधि अन्तिम नहीं है क्योंकि लोक भिन्न रुचि का होता है। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है॥७,८॥ शोध के ज्ञाता विद्वान् जो सूर्य से दीप्तिमान् हैं उनके लिए मेरा यह ग्रन्थ उनके सामने दीपक के समान है यह जानते हुए नए शोधच्छात्रों और सम्पादकों के लिए मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है॥९॥

शोधप्रविधि, टीका, समीक्षा, व्याख्या, आलोचना आदि की प्रविधि

का ज्ञान कराने के लिए यथामति मैंने यत्न किया है यह मंगलकारक हो॥१०॥

मेरा विश्वास है कि अपौरुषेय वैदिक वाङ्मय जो ऋषियों द्वारा साक्षात्कृत और आज तक संस्कृत भाषा के चिरनूतन होने के कारण है इस भाषा की वर्णमाला भी शंकर के ढक्कानाद से निर्गत है। यह तब तक रहेगी जब तक संसार रहेगा। यह विकृतिरहित भाषा है विकृति का अभाव ही इसके अमर भाषा होने का कारण है। यह परिवर्तन रहित है अतः पूर्व में इसमें रचित साहित्य अनन्तकाल तक पढ़ा और समझा जायेगा। भविष्य में भी समझा और पढ़ा जाने वाला एकमात्र संस्कृत साहित्य ही होगा। अतः कालान्तर में भी अवबोध के लिए सर्वविध ज्ञान इस भाषा में उपनिबद्ध किया जाना चाहिए॥११॥

हजार से अधिक वर्षों से जो संस्कृत भाषा एक ही रूप में प्रयुक्त हो रही है उसके उद्धारक मुनि पाणिनि को प्रणाम है॥१२॥

संसार में मानव के अस्तित्व तक यह संस्कृत भाषा जहाँ भी रहेगी या उसका उपकार करती होगी॥१३॥

जिस प्रकार वेद, ऋषि, व्यास, वाल्मीकि आदि अमर हैं उसी प्रकार अवबोध की दृष्टि से यही एक मात्र भाषा संस्कृत है जो बोलने पढ़ने और लिखने में एक ही रूप में प्रयुक्त होती हुई अमर है। इसी अद्भुत शक्ति के कारण विश्व में व्याप्त होकर स्थित है॥१४,१५॥

इसका विस्तृत वाङ्मय विश्व के कल्याण के लिए शान्ति और सद्भाव देने वाला और विश्व का हितकारक है॥१६॥

वह शान्तिमयी शक्ति ही मान्य है जो दुर्भाव का विनाश करती हो। भावना की पवित्रता की विश्वनायकों को रक्षा करनी चाहिए॥१७॥

(विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है और उसका है प्रथम अग्नि सूक्त, जिसके प्रथम तीन शब्द व्यापक, विश्व कल्याणकारी और प्रेरक हैं—अग्निमीळे पुरोहितम्। अग्नि का हवनाग्नि परक भाष्य तो सर्वविदित है। किन्तु अग्नि की व्याप्ति सूर्य, शरीर के तापमान और राष्ट्रशक्ति तक

व्याप्त है अर्थात् वही उर्जा इड्य (पूज्य/मान्य) है जो पुरोहित हो। इन तीनों शब्दों में पूरे संस्कृत-वाङ्मय का सन्देश अन्वर्थ है। इसी प्राचीनतम ग्रन्थ का अन्तिम सामनस्य सूक्त भी 'संगच्छध्वम् संवदध्वं शं वो मनांसि जानताम् (साथ चलें, समान बोले, मंगलमय मन हो) इस प्रकार ऋग्वेद के प्रथम और अन्तिम सूक्तों का विस्तार प्राक्तन संस्कृत वाङ्मय में उद्भावित है।')॥१७॥

विधि (कानून) द्वारा दण्ड देने से दुराचार जिसमें भ्रष्टाचार भी सम्मिलित है नष्ट नहीं होता दुराचारों के विनाश के लिए जन-जन में वैदिक सद्भावना का विकास (वितरण) करना अनिवार्य है॥१८॥

भारत राष्ट्र की विश्वगुरुता का हेतु जानते हुए भी नेताओं द्वारा (विज्ञजनों द्वारा) विश्वकल्याणकारी सूक्तिरम्य संस्कृत वाङ्मय पर ध्यान क्यों नहीं दिया जाता?॥१९॥

दूरदर्शन पर प्रतिदिन नग्न प्रदर्शन दिखाया जाता है, ऐसा शासन की अनुमति से होता है किन्तु मनु के धर्म (कर्तव्य) के विधान की उपेक्षा की जाती है। मनुष्य के कर्तव्य विधान मनु ने इस प्रकार बताए हैं–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (६.९२)

इन कर्तव्यों का पालन न करने वालों को भर्तृहरि ने पशु कहा है– 'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।'॥२०॥ धृति और क्षमा- इत्यादि रूप में प्रोक्त धर्म जो विश्वमानव के कर्तव्य विधान हैं, सारे विश्व के लिए कल्याणकारी हैं। मनु के धर्म (मानवकर्तव्य) के लक्षण को संयुक्त राष्ट्र संघ में विचार के लिए क्यों नहीं प्रस्तुत किया जाता?॥२१॥

इस (मनु प्रोक्त) धर्म के लक्षण सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्तियों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किया जाना चाहिए जिससे धर्मान्ध कहने वाले मूर्खों की भ्रान्ति का निराकरण हो सके, मुझे विश्वास है कि इसे वे (न्यायाधीशगण) विश्वमानव की आचार संहिता के रूप में स्वीकार

करने की अनुशंसा करेंगे॥२२॥ उच्चन्यायालय का ध्येय वाक्य भी इसकी प्रेरणा देता है- 'यतो धर्मस्ततो जयः' (जहाँ धर्म का पालन होगा वहीं विजय है) यह सूक्ति महाभारत में गान्धारी द्वारा प्रोक्त है जो दुर्योधन (अपने पुत्र) को आशीर्वाद देने के समय कहा था। बेटे दुर्योधन ने गान्धारी से जब पाण्डवों पर विजय प्राप्त करने का आशीर्वाद माँगा तब माँ होकर भी विजय का आशीर्वाद नहीं दिया और कहा–बेटे! जहाँ धर्म (मनु प्रोक्त धर्म के दस मानव के कर्तव्यों) की विद्यमानता होगी वहीं विजय होगी। तात्पर्य यह है कि न्याय देते समय पुत्र भी यदि अपराधी है तब उसे दण्ड मिलना चाहिए। इसीलिए यह सूक्ति भारतराष्ट्र के सर्वोच्च न्यायालय का ध्येयवाक्य डॉ. अम्बेडकर और सरदार वल्लभभाई पटेल आदि मनीषियों ने रखा है। इस ध्येयवाक्य को शोधच्छात्र न्यायाधिपों और अधिवक्ताओं को समझाएँ इसलिए यहाँ समझाने का प्रयास किया गया है॥२३॥

मनु द्वारा विश्वमानव के हित के लिए जो धर्म विधान किया है यह सभी को आत्मसात् करना चाहिए॥२४॥

'मनुस्मृति के धर्म लक्षण के श्लोक की व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है।'

यह धर्म (कर्तव्य) का विधान किसी सम्प्रदाय विशेष की पुष्टि के लिए नहीं है यह विश्वमानव का कर्तव्य विधान है इसी दृष्टि से यह प्रस्तुत है॥२५॥

संस्कृत भाषा का समग्र सत्साहित इसी भावना से अनुप्राणित है। सत्यं वद, धर्मंचर, संगच्छध्वं संवदध्वम्, आराष्ट्रे शूर इषव्योऽतिव्याधी जायताम्, अयं निजः परोवेति गणनालघुचेतसाम् उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ आदि ध्येयवाक्य जो शास्त्रों में आदेशात्मक रूप में प्रतिपादित हैं उन्हीं का वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि महान् संस्कृत कवियों ने अपने ग्रन्थों के वस्तुविन्यास में पात्रों के माध्यम से व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किए हैं। रामादि का चरित धर्मान्वित है अतः श्रेष्ठ और प्रेरक है॥२६॥

भारतीय संस्कृतवाङ्मय विश्वकल्याण के लिए प्रस्तुत है इस दृष्टि को ध्यान में रखकर अनुसंधान किया जाय इसलिए यहाँ (उपसंहार) में उसे प्रस्तुत किया गया है॥२७॥

अधिक कहने से क्या लाभ?

शोध के रहस्य को और अधिक क्या बताया जाय?

सभी का कल्याण हो, असत् नहीं सन्मार्ग पर चलाएँ, अन्धकार नहीं प्रकश की ओर ले चलें।

प्रयागराज जिले के समहन ग्राम के निवासी सिद्धान्त ज्योतिषाचार्य पण्डित रामाभिलाष द्विवेदी के पुत्र राष्ट्रपति सम्मानित महामहोपाध्याय आचार्य रहस बिहारी द्विवेदी के द्वारा रचित यह साहित्यानुसन्धानसम्पादन-प्रविधि ग्रन्थ विक्रम संवत् २०७७ चैत्र पूर्णिमा तदनुसार दिनांक १४ अप्रैल २०२० को हिन्दी भाष्य सहित पूर्ण हुआ।

शुभं भूयात्

परिशिष्टम्-१

संस्कृता भारती तल्लिपिर्नागरी

प्राकृतं वस्तुजातं पुरा प्राप्यते
संस्कृतं तत्प्रयोगार्हतामश्नुते।
संस्कृता वाक्तथा धातुभिः प्रत्ययैः
पाणिनिव्याकृता संस्कृता भ्राजते॥१॥

हर वस्तु पहले प्राकृत (अनगढ़) रूप में प्राप्त होती है। जब उसका संस्कार कर दिया जाता है, तब प्रयोग योग्य होती है जैसे प्रस्तर की शिला गढ़कर जब मूर्ति के रूप में कर दी जाती है तब उसकी पूजा होती है बालक को संस्कारयुक्त कर दिया जाता है वह दिव्य आचरण वाला हो जाता है इसी प्रकार वर्णों की योजना कर उसे जब व्यवस्थित कर भाषा के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है, तब उसमें दिव्य ज्ञान विज्ञान प्रस्तुत किया जाता है, जो लोक व्यवहार के लिए प्रयुक्त किया जाता है। संस्कृत भाषा शिव के ढक्कानाद से उत्पन्न चौदह सूत्रों और इन्हीं वर्णों में निर्मित पाणिनि आदि के सूत्रों की सहायता से धातु और प्रत्ययों के सुन्दर संयोग द्वारा व्याकृत और व्युत्पादित है। यह विकृति रहित होने से अमर है॥१॥

कादिभिर्मावसानैः स्पृशद्व्यञ्जनैः
शम्भुसूत्रैस्तथाल्भिश्च वर्णैः समैः।
पाणिनिप्रोक्तसूत्रैस्ततो वार्तिकै-
र्भाष्यकृद्भिः स्फुटा संस्कृता भारती॥२॥

संस्कृत भाषा में- क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न और प फ ब भ म ये सभी स्पर्श व्यंजन हैं।

फेफड़े के ऊपर कण्ठ से ओष्ठों तक मुख का भीतरी ऊपरी और नीचे का तथा इनके बीच में स्थित तालु, जिह्वा को वाग् यन्त्र, वागिन्द्रिय या उच्चारण स्थान कहा जाता है। उक्त क से म तक के वर्णों के उच्चारण में कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ वाले भाग जिह्वा के विशिष्ट स्पन्दन से एक दूसरे का स्पर्श करते हैं अतः इन्हें स्पर्श कहते हैं– कादयोमावसानाः स्पर्शाः। वर्णों में जिनका तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान होता है उन्हें सवर्ण कहा जाता है– तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१.२.९) इन वर्णों तथा माहेश्वर सूत्र के वर्णों के सहयोग से बने सूत्रों, उनके भाष्यों और वार्त्तिकों से संस्कृत भाषा सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रतिष्ठित है॥२॥

वर्गतः सूत्रतश्चात्र वर्णक्रमो
येन सूत्राश्रिता शब्दसिद्धिः कृता।
अल्पवर्णैश्च शब्दैरिह व्याकृतौ
विस्तृतार्थान् लभन्ते बुधा वाग्विदः॥३॥

कवर्गादि तथा माहेश्वर सूत्र के प्रत्याहारों से जो वर्णों का क्रम है, उन पर आधृत शब्दों (पदों) की सिद्धि व्याकरणशास्त्र में की गई है। अल्पवर्ण वाले शब्दों से प्रकृति प्रत्यय के योग से विस्तृत रूप में अर्थ भाषाविद् लोग प्राप्त करते हैं॥३॥

अन्यभाषासु वाक्याय शब्दत्रयं
संस्कृतायां तदर्थं तदेका क्रिया।
'गच्छ' 'गच्छामि' चेत्यादितोऽध्याहृतं
संस्कृते त्वं तथाऽहं स्वयं निश्चितम्॥४॥

अन्य भाषाओं में वाक्य बनाने के लिए प्रायः तीन पदों (शब्दों) की आवश्यकता होती है किन्तु संस्कृत भाषा में एक क्रिया पद से भी वाक्य बन सकता है। जैसे 'गच्छ' (जावो) या 'गच्छामि' (जाता हूँ) ऐसा कहने पर कर्ता 'त्वं' (तुम) या 'अहं' (मैं) स्वयं अन्वित हो जाता है॥४॥

संस्कृतं संस्कृता वेति नाम्ना श्रुता
वागियं विश्वभाषा जनिर्विद्यते।
सम्प्रदायप्रजातिस्थलानां क्वचिन्-
नाम्नि चास्यां न गन्धः समाध्रीयते॥५॥

इस भाषा को संस्कृत अथवा संस्कृता कहा जाता है। यह (संस्कृत) भाषा सभी भाषाओं की जननी कही जाती है। इसके नाम (संस्कृत शब्द) में किसी सम्प्रदाय, जाति या स्थान की गंध कहीं नहीं प्रतीत होती। वाल्मीकि रामायण में इसे संस्कृता कहा गया है हनुमान् का वाक्य है- **'यदि वाचं प्रदास्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।॥५॥**

सुप्तिङन्तैः पदैरत्र शब्दार्थता
वाक्यविन्यासहेतौ सदा निश्चिता।
कर्म कर्ता क्रिया सन्तु भिन्नक्रमे
किन्तु वाक्यार्थबोधः समो जायते॥६॥

कर्म (पुस्तकं) सुबन्त (रामः आदि) तथा तिङन्त (पठति आदि) भले ही भिन्न क्रम में लिखे जाय किन्तु वाक्यार्थ बोध में भिन्नता नहीं आती, समान अर्थ अन्वित होता है। अर्थात् वाक्य का अर्थबोध एक ही प्रकार का होता है॥६॥

संस्कृतायां कृदन्ते तथा तद्धिते
धातुभिः प्रत्ययैर्भाति विज्ञानता।
प्रत्ययैरर्थबोधः पृथक् कल्पते
तत्कवेर्भाव इत्यस्ति काव्यं यथा॥७॥

संस्कृत भाषा में कृदन्त तथा तद्धित में धातुओं और प्रत्ययों की योजना अत्यन्त वैज्ञानिक है। प्रत्ययों में अर्थबोध अलग-अलग हो जाता है। जैसे कवि शब्द में ष्यञ् प्रत्यय योजित करने पर कवि के भाव या कर्म को काव्य कहते हैं। कवि शब्द में यदि तस्य भावस्त्वतलौ (५.९. ११९) सूत्र से 'त्व' लगा दिया जाय तब कवित्व और तल् लगा दिया जाय तब कविता बन जायेगा। कवित्व किसी मनुष्य, गुण, विशेष या

शक्ति/योग्यता के अर्थ में प्रयुक्त होगा, और कविता में प्रबन्ध रचना का बोध न होकर लघ्वी रचना का बोध होगा। जैसे रघुवंश को काव्य (महाकाव्य) कहेंगे किन्तु कविगोष्ठी की अल्प वाक्यों वाली रचना को कविता कहेंगे। जबकि धातु कुं शब्दे या कवृवर्णने में भावबोधक प्रत्यय ही लगे हैं अतः विशेष परिस्थिति में काव्य के अर्थ में विद्वान् कविता का भी प्रयोग कभी-कभी करते दिखाई देते हैं यथा- प्रो. रेवा प्रसाद द्विवेदी ने काव्यालङ्कारकारिका ग्रन्थ में कहा है-**'अलंकृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला।'** धातु के पूर्व लगने वाले 'प्र, परा आदि उपसर्गों से भी अर्थ बदल जाता है॥७॥'

शब्दकोषो महान् संस्कृता या गिरः
सन्ति शब्दा अनेके समानार्थगाः।
किन्तु भावे समेषां पृथग्भङ्गिमा
येन भावावबोधः स्फुटः कल्पते॥८॥

संस्कृत भाषा का शब्दकोष विशाल है, समान अर्थ के बोधक अनेक शब्द हैं किन्तु भावार्थ पृथक् भंगिमा लेकर उपस्थित होता है। जिससे प्रयोग किए गए शब्द अपने अर्थ को प्रसङ्गानुसार स्फुटित करते हैं। जैसे राष्ट्रपति के आने पर वक्ता महामहिम कहेगा, शंकराचार्य के लिए 'श्रद्धेय', पिता के लिए 'पूज्य', मित्र के लिए 'आदरणीय' और कनिष्ठ के लिए 'प्रिय'। किन्तु अंग्रेजी में 'आनरेबिल' या 'रिस्पेक्टेड' दो ही शब्द सभी के लिए प्रयुक्त होंगे। इसी प्रकार पत्नी (प्रेम करने वाली) भार्या (जिसका भरण-पोषण किया जाय) जाया (सन्तानोत्पत्ति करने वाली।) पिता (रक्षा करने वाला) जनक (पैदा करने वाला) यहाँ भावावबोध और कर्तव्यबोध पृथक् होने से उचित पर्यायवाची शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ वक्ता कर सकता है॥१८॥

संस्कृतायां हि वर्णो यथा लिख्यते
सोऽत्र ताल्वादियत्नैस्तथा पठ्यते।
शब्दतत्त्वं परब्रह्म रूपाक्षरं
मन्यते शब्दविद्भिर्बुद्धैर्भारतैः॥९॥

संस्कृत भाषा में जैसा लिखा जाता है वैसा ही तालु आदि से पढ़ा जाता है। संस्कृत के मनीषी शब्दतत्त्व को परम ब्रह्म रूप और अक्षर (अविनाशी) मानते हैं जैसा कि वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में भर्तृहरि ने लिखा है– 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' (१.१)

इस प्रकार संस्कृत के विद्वान् शब्दतत्त्व को ब्रह्मसदृश अविनाशी मानते हैं। इसीलिए संस्कृत वर्णों को अक्षर (कभी न नष्ट होने वाला) कहा गया है॥९॥

देवपूर्वा लिपिर्नागरी या परा
लिख्यते संस्कृता वाग्यया साम्प्रतम्।
अक्षरं ब्रह्मरूपं ह्याकारध्वनिः
कण्ठतः सर्ववर्णेष्वयं विद्यते॥१०॥

इसकी लिपि भी वर्तमान में देवनागरी है नागर महौषध या विश्व को कहा जाता है, नागरी से वैश्विकता का बोध होता है इसका पूर्व पद देव दीपन और दान का बोधक है। हर प्रकार के ध्वनि चिह्न भी इसमें अंकित किए जा सकते हैं। इसी में वर्तमान में संस्कृत भाषा लिखी जाती है। संस्कृत की अकार ध्वनि ब्रह्मरूप है। इसका उच्चारण स्थान कण्ठ है। शिव के ढक्कानाद से निर्गत यह प्रथम अक्षर है शिव को श्रीकण्ठ भी कहा जाता है। मूलतः कण्ठ द्वार से ही वायु निःसृत होकर जिह्वा के पश्च, मध्य तथा अग्रभाग के यथायथ ऊँचा, नीचा और आगे की ओर बढ़ने से वर्णों का उच्चारण होता है। सभी वर्णों के उच्चारण में अकार सहयोगी होता है हल् (व्यंजनों) का उच्चारण अ के विना नहीं हो सकता है। सभी वर्णों में पूरा या चतुर्थांश अकार (ा) रहा भी करता है॥१०॥

जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण कहते हैं–

अक्षराणामकारोऽस्म्यहं सर्वतः
कृष्णगीतोक्तवाक्यं परं सङ्गतम्।

सर्ववर्णेष्वकारस्य रेखाङ्कनं
नागरीवर्णचित्रेषु राराज्यते॥११॥

'मैं अक्षरों में अकार हूँ' श्रीमद्भवद्गीता में ऐसा श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं। सभी वर्णों में अकार (ा) ऊपर से नीचे की ओर आने वाली रेखा देवनागरी लिपि में सर्वत्र व्याप्त है। **'हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः।'**

ऐसा कथन सभी व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध है। जहाँ कण्ठ से वायु के सीधे निकलकर जीभ ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, र और ह के उच्चारण के लिए ऊपर मूर्धा की ओर उठती है उन अक्षरों में अकार की यह सीधी रेखा अपने चतुर्थांश के रूप में लगी रहती है। वह इसलिए क्योंकि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण के वायु का निर्गमन कण्ठ में ही आगे बढ़ता है। उसके पहले आत्मा (चेतन/जीवात्मा) बुद्धि से अर्थ ग्रहण कर मन को विवक्षा में लगाती है और मन कायाग्नि (शरीर की ऊर्जा) ९८.६ फार्नहाइट तापमान (अग्नि) को आहत करता है तब वह अग्नि वायु को प्रेरित करता है, तब हवा विवक्षित अर्थाभिव्यंजक वर्णों को मुखस्थित वागिन्द्रियों की सहायता से स्वरों को प्रेरित करती है। पाणिनीय शिक्षा में इसकी कारिका इस प्रकार है–

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरियति मारुतम्॥'

मारुतस्तूच्चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

इस प्रकार देवनागरी लिपि में हवा के निर्गमन की स्थिति के चित्र ही लिपि के रूप में हैं। इसलिए यह सर्वोत्तम लिपि है। इसीलिए देवनागरी लिपि में लिखित संस्कृत भाषा जैसी लिखी जाती है वैसी ही उच्चरित होती है॥११॥

मूलतोऽधोगतो लम्बरेखामयो
ह्यक्षराणामकारो दरीदृश्यते।
कण्ठमूलं विना नास्ति वायोर्गतिः
पादरूपा क्वचित्पूर्णरूपा क्वचित्॥१२॥

ऊपर से नीचे की ओर आने वाली सीधी रेखा (।) सभी अक्षरों में अकार की रेखा दिखाई देती है। इसका कारण व्याकरण के सभी ग्रन्थों में प्रतिपादित है–**'हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः'**। प्रथमतः कण्ठमूल से वायु का निःसारण होता है, जैसे चेतना (ब्रह्म) के विना प्राणियों में कोई स्पन्दन नहीं हो सकता, उसी प्रकार वर्णों में अकार के विना उच्चारण संभव नहीं होता। लिपि में भी सभी स्वर मात्राएँ लगाकर उसे लिखा जा सकता है यथा- आ अि अी अु अू अे अै ओ औ अं अः। संस्कृत में 'ऌ' भी एक स्वर है इसका उपयोग नगण्य है उदाहरण के लिए एक प्रयोग सन्धि प्रकरण में प्राप्त होता है ऌ+आकृतिः=लाकृतिः। इस प्रकार गीता में महर्षि व्यास द्वारा श्रीकृष्ण द्वारा कहलाया गया वाक्य 'अक्षराणामकारोऽस्मि' देवनागरी लिपि में सार्थक दिखाई देता है। यह अकार सभी अक्षरों में कहीं पूरा और कही ऊपर की ओर चतुर्थांश रूप में दिखाई देता है॥१२॥

संस्थितिः सा ङकारे छकारे ततः
सा टवर्गे णकारेतरेष्वल्पगा।
सा दकारे रकारे हकारे तथा,
चान्यवर्णेषु पूर्णा दरीदृश्यते॥१३॥

'अ' (।) की स्थिति पाद रूप में (१/४) ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, र, और ह में होती है तथा क आदि में '।' रेखा सभी वर्णो में होती है जब इनमें अन्य अन्य अच् प्रत्याहार के (जिन्हे स्वर कहा जाता है) लगते हैं तब भी रेखा पूरी रहती है किन्तु जब इनका संयोग अन्य व्यंजनों से होता है तब यह रेखा हट जाती है और आगे वाले व्यंजन वर्ण में जुड़ जाता है 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' इस व्याकरण के नियम से यह स्थिति दिखाई देती है॥१३॥

ऊर्ध्वज्वालार्थकोऽयं च रेफः सदा
यो ह्यकारं विना व्यञ्जनाग्रेसरन्।
तत्स्वरस्योर्ध्वभागे दरीदृश्यते
किन्तु लब्धे स्वरे चुल्लिका काष्ठवत्॥१४॥

ऊर्ध्वज्वाल अर्थात् सूर्य का पर्यायवाची रेफ सर्वदा अकार के (अथवा स्वर के न होने पर व्यञ्जन वर्णों के आगे जाते हुए उस व्यंजन) लगे स्वर के ऊर्ध्व भाग में दिखाई देता है किंतु जब इसमें स्वर लगा रहता है और स्वररहित व्यंजन इसमें जुड़ता है तब यह चूल्हे में लगी तिरछी लकड़ी के समान दिखाई देता है जैसे- राजेन्द्र॥

रूपहीनस्य वायोर्न चित्रस्थितिः
किन्तु मार्गस्थितेरेवसङ्कल्पने।
अक्षरोच्चारणे तद्गती रेखया
चित्रयन्ती लिपिर्नागरी दृश्यते॥१५॥

'रूपरहितस्पर्शवान् वायुः' यह वायु का लक्षण है अतः उसका चित्र यह लिपि है ऐसा तो कहीं कहा जा सकता किन्तु वाग्यन्त्र (मुख के उच्चारण) से वर्णों के उच्चारण की कल्पना करके इसके निर्गमन की गति की कल्पना करके वायु की स्थिति का चित्रण करती हुई देवनागरी लिपि दिखाई देती है॥१५॥

शम्भुढक्कानिनादस्य रेखाङ्कनं
सूरिभिः प्राक्तनैः साधु चक्रे परम्।
तत्र वर्णक्रमोऽनेकदृष्ट्या चितः
स्थानयत्नादिबोधाय वर्गीकृतः॥१६॥

प्राक्तन ऋषियों ने शिव के ढक्कानिनाद का रेखांकन 'अ इ उ ण्' आदि चौदह वर्णबोधक सूत्रों में वर्णों के रूप में किया है। सूत्रों में दृष्टिगत अन्तिम हल् (व्यंजन वर्ण) प्रत्याहारों के सीमांकन के लिए किए गए हैं अतः इत् संज्ञा होकर उनका लोप होता है। इन सूत्रों में वर्णों का चयन स्थान-प्रयत्न आदि अनेक दृष्टियों से क्रमबद्ध रूप में किया गया है॥१६॥

उर्ध्वमूलं ह्यधश्चेश्वरीयं वपुः
यादृशं तादृशं वर्णरेखाङ्कनम्।
घर्षणे जायमानो रकारोऽनलः
सूर्यवत्केवलं चोर्ध्वगो दृश्यते॥१७॥

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में-

'उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

कहकर अश्वत्थ वृक्ष के रूपक से संसार का वर्णन और उसके जानने का महत्त्व बताया गया है। अक्षर भी ब्रह्म (ईश्वर) रूप है अतः उसी प्रकार अक्षरों को ऊपर से नीचे की ओर लिखा जाता है। स्वर-रहित 'र' को छोड़ सभी अक्षर नीचे की ओर ही अंकित किए जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है ब्रह्माण्ड में सूर्य सबसे ऊपर है अतः उच्चारण अवयवों के घर्षण उत्पन 'र' हलन्त होने पर व्यंजन के आगे लगे स्वर के ऊपर आकर कुछ गोलाई लिए हुई सूर्य का संकेत सा बनाता हुआ दिखाई देता है। एक ही वर्ण है जो ऊपर को और जो सभी वर्णों के आधार की रेखा होती है उसके ऊपर लिखा जाता है। शब्दशास्त्री और ध्वनि विज्ञान के विद्वान् इसका प्रामाणिक विवेचन कर सकते हैं। यथा-आविर्भाव॥१७॥

आकृतिर्वर्णमध्ये ह्याकारस्य या (ा)
सा तु सर्वेषु वर्णेषु राराज्यते।
जिह्वा वायुरोधः कृतो यत्र ते
पादरूपं ह्याकारं धरन्तोऽङ्किताः॥१८॥

प्रत्येक वर्ण के मध्य अथवा आगे लगी रेखा या ऊपर से कुछ दूर नीचे आई हुई सीधी रेखा अकार से मिश्रित होने की सूचक है। वह सभी वर्णों में है किन्तु अनुनासिक ध्वनियों अथवा मूर्धन्य ध्वनियों के उच्चारण के लिए जिह्वा ऊपर उठकर वायु को सीधा नहीं निकलने देती तब यह रेखा अपने चतुर्थांश भाग में वर्णों में रह जाती है। जहाँ वायु का अवरोध होता है वे सभी वर्ण अपने में अकार की रेखा को चतुर्थांश रूप में धारण करते हुए दिखाई देते हैं यथा ङ, छ, ट, ठ ड, ढ, ह और र॥१८॥

जिह्वया मूलमध्याग्रतः कम्पते
तेन वर्णा यथोक्तं समुच्चारिताः।

नागरीयं लिपिर्वाक्च संत्संस्कृता
स्वर्णमाणिक्ययोगं दधाते परम्॥१९॥

जिह्वा के पश्च, मध्य तथा अग्र भाग के उठने, स्पर्श करने या अन्तस्थ (यण् प्रत्याहार) के उच्चारण के समय अत्यन्त समीप आने से यथोक्त वर्णों का उच्चारण किया जाता है। इसलिए देवनागरी लिपि और संस्कृत भाषा का संयोग मणि-काञ्चन योग सा दिखाई देता है॥१९॥

सूत्रजालं यदीशानढक्कोद्गतं
निर्जरं चाक्षरब्रह्मरूपाक्षरम्।
तद्युता संस्कृता चापि या शाश्वती
साऽऽलयं यावादासिष्यते निर्जरा॥२०॥

शिवके ढक्कानिनाद से जो सूत्रजाल (अ इ उ ण्- आदि चतुर्दश सूत्र) के रूप में प्राप्त हुआ। यह सूत्रजाल (व्यवस्थित वर्ण समाम्नाय) ब्रह्मरूप अक्षरों के रूप में है। इससे जुड़ी संस्कृत भाषा शाश्वत है (अर्थात् जरामरण से मुक्त है) यह लय पर्यन्त जरारहित (चिरनवीन) रहेगी। किसी के नाश का कारण उसमें विकृति आना होता है पाणिनि आदि शब्दवेत्ताओं ने इसे परिवर्तनरहित और एकरूपा बना दिया है। अतः यह अमर भाषा है॥२०॥

ॐमिति व्रध्नचक्रध्वनिर्ध्यानतो
व्यग्रतां कुञ्चतीति स्वयं ज्ञायताम्।
मन्त्रशक्तिः परा संस्कृतायां गिरि
ज्ञायते सा प्रयोगैर्हि वैज्ञानिकैः॥२१॥

सूर्य जब चलता है तब उसके चक्र से 'ऊँ' ध्वनि निकलती है नासा के वैज्ञानिकों ने रिकार्ड कर सारे विश्व को सुनाया है। सूर्य ही सारे ग्रहों का संचालक और नियामक है। अतः सूर्य की चक्रध्वनि 'ऊँ' को नाद पूर्वक पद्मासन में बैठकर उच्चारण करने से व्यग्रता समाप्त हो जाती है ऐसा करके स्वयं अनुभव किया जा सकता है। गायत्री मन्त्र, महामृत्युञ्जय मन्त्र का विधि-विधान-पूर्वक अनुष्ठान करने से रोगादि

का निवारण होता है इसे आधुनिक विज्ञानी भी स्वीकार करते हैं विश्व के अनेक देश-निवासी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कभी-कभी अपने अनुभवों को संचार माध्यमों से व्यक्त भी करते हैं॥२१॥

अल्पवर्णैरनल्पार्थताऽस्यां गिरि
प्राप्यते तेन यन्त्रे नवे सङ्गणे।
टङ्कणार्थे समुच्चारणेऽसौ समा
संस्कृतेयं परा भारती भासते॥२२॥

कम अक्षरों से अधिक अर्थ व्यक्त करने की क्षमता इस संस्कृत भाषा में है अतः संगणक यन्त्र (कम्प्यूटर) में इसका प्रयोग अच्छी तरह किया जा सकता है क्योंकि इसका उच्चारण और लेखन या टंकण समान वर्णों में होता है पुट (Put) और बट (But) जैसी उच्चारण और लेखन की भिन्नता संस्कृत भाषा में नहीं है। अतः उक्त दृष्टि से भी संस्कृत भाषा श्रेष्ठ मानी गई है॥२२॥

धातुषु प्रायशो योजिताः प्रत्ययाः
सार्थकाः संज्ञिधर्मस्य सत्प्रेरकाः।
पाति योऽसौ पिता पाति योऽसौ पतिः
बन्धुपुत्रार्यशब्दास्तथा सार्थकाः॥२३॥

संस्कृत भाषा में धातुओं में योजित प्रत्यय सार्थक होकर संज्ञी के धर्म (कर्तव्य) के प्रेरक होते हैं। जैसे जो पालन करे वह पिता, जो पालन करे वह पति, जो प्रेम से बँधा रहे वह बन्धु, पुन्नामक नरक से जो उद्धार करे वह पुत्र, अर्तुं प्रकृतमाचरितुं योग्यः सत्कुलोत्पन्नः आर्यः (मान्य उदार चरित) इस प्रकार संस्कृत के शब्द विना परिभाषा के व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ से ही सत्कर्तव्यों के प्रेरक होते हैं। अथवा संज्ञी की प्रवृत्ति के परिचायक होते हैं॥२३॥

आर्यवाल्मीकिभासादिभिर्निश्चिता
यादृशी संस्कृता युज्यमाना पुरा।
तादृशी संस्कृता भारती साम्प्रतं
भाष्यते लिख्यते पठ्यते श्रूयते॥२४॥

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास ने जिस प्रकार की संस्कृत भाषा का उपयोग किया, उसी प्रकार की संस्कृत आज भी बोली, लिखी, पढ़ी और सुनी जाती है थोड़े बहुत अन्तर के साथ वैदिक भाषा भी प्रयुक्त है अतः लौकिक संस्कृत जानने वाला वैदिक शब्दों का ज्ञान कर उनका भी अध्ययन कर सकता है॥२४॥

संस्कृतायाः स्वरूपं यथानिश्चितं
तल्लयं यावदासिष्यते बोधकम्।
सन्धिपत्रानुसन्धानसंरक्षणे
लेखयोग्या यथेयं श्रुते रक्षिका॥२५॥

संस्कृत भाषा का स्वरूप जैसा निश्चित है वैसा ही जब तक संसार रहेगा इसी रूप में प्रयुक्त होती रहेगी। अतः राष्ट्रों के सन्धिपत्रों और अनुसन्धानों के संरक्षण के लिए इसी भाषा का प्रयोग किया जाय यह उचित है, जैसे इसमें लिखित वेदों की रक्षा इस भाषा ने की है जो सृष्टि के आदि काल से आज तक सुरक्षित हैं और उन्हें समझा और पढ़ा जाता है॥२५॥

संस्कृतायाः प्रणीतं श्रुतं वाङ्मयं
विश्वभद्रङ्करं प्रीतिदं ज्ञानदम्।
विश्वबन्धुत्वभावस्य सत्प्रेरकं
शान्तिसौभाग्यदं राजतां वर्द्धताम्॥२६॥

संस्कृत का प्रणीत और श्रुत वाङ्मय विश्व का कल्याण करने वाला, ज्ञान देने वाला, विश्व बधुत्व की भावना का सत्प्रेरक, शान्तिमय सौभाग्य देने वाला है यह हमेशा सुशोभित रहे, इसका विकास हो॥२६॥

शर्व ढक्कानिनादस्य वर्णाः समे
शब्दवित्सूर्यचन्द्रेन्द्रतो व्याकृताः।
आदिवेदादिसूक्तादिमन्त्रे समे
स्थानयत्नादियुक्ताः प्रयुक्तास्ततः॥२७॥

शिव के ढक्कानिनाद के सभी वर्णों को सूर्य चन्द्र और इन्द्र

आदि ने व्याकृत कर व्यवस्थित किया है। प्रथम वेद के पहले काण्ड के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र- 'अग्निमीळे-' में सभी स्वरों के उच्चारण स्थानों और प्रयत्नों से सम्बद्ध वर्णों का प्रयोग किया गया है स्वरों की मात्राओं के रूप में उदित और अन्तस्थ वर्णों का प्रयोग हुआ है एक मन्त्र में इन सभी का प्रयोग आश्चर्यजनक है॥२७॥

सर्वदा नूतनी प्राक्तनी वागियं
शब्दवित्सूर्यचन्द्रादिभिः संस्कृता।
पाणिनीत्यादिभिः सा पुनर्व्याकृता
स्वीयसद्वाङ्मयेनाद्य भद्रङ्करी॥२८॥

सर्वदा चिरनूतन रहने वाली यह संस्कृता वाक् शब्द वेत्ता सूर्य चन्द्र आदि द्वारा प्रथमतः परिष्कृत और एक रूप वाली की गई है। बाद में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि तथा निरुक्तकार यास्क-आदि द्वारा इसे व्यवस्थित कर अर्थ बोधादि कराते हुए मानवीय प्रयोग योग्य बनाया गया है। यह संस्कृत भाषा अपने सद्वाङ्मय से आज विश्व का कल्याण करने वाली है।

आलयं सूर्यचन्द्रादिवन्निर्जरा।
चाऽमृता चैकरूपा जगद्रक्षिका।
लोकवृत्तौ प्रवृतौ हि तद्वाङ्मयं
विश्वकल्याणहेतावियं युज्यताम्॥२९॥

सृष्टिपर्यन्त सूर्य और चन्द्रमा के समान कभी न जीर्ण होने वाली यह भाषा अमर है, एक रूपा है, संसार की रक्षिका है। लोक की वृत्ति (व्यवहार) और आचरण में इसका वाङ्मय विश्व कल्याणकारी है अतः इसका प्रयोग (सारे विश्व को) करना चाहिए क्योंकि इसमें प्रणीत वाङ्मय विश्व का मंगल करने की सामर्थ्य रखता है॥२९॥

येन जानन्ति वेदं न रामायणं
नैव गीतां महाभारतीयां कथाम्।
कालिदासं न गोस्वमिनो मानसं
तन्मनो भारतीयं कथं कल्पताम्॥३०॥

जो न वेद जानते हैं, न वाल्मीकि रचित रामायण, जो न गीता जानते हैं, न महाभारत की कथा, जो न कालिदास को जानते हैं, न ही गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमान को जानते हैं, उनका मन भारतीय कैसे हो सकता है?

परिशिष्टम्–२

भाषाविज्ञानम्

(भाषा का स्वरूप, भाषा का प्रयोग एवं उपभाषा)

भाषा का स्वरूप–

भाष्यते शास्त्रव्यवहारादिना प्रयुज्यते इति भाषा। भाष्+'गुरोश्च हलः' ३.३.१०२ इत्यप्रत्ययः टाप् भाषा। मुख में स्थित उच्चारण अवयव शरीर की ऊर्जा से प्रेरित वायु की स्थिति को अपेक्षित रूप से नियन्त्रित करके ऐसी ध्वनियों को क्रमशः उच्चरित करते हैं, जिनसे वक्ता का अभिप्राय दूसरा समझ सके, उसे भाषा कहा जाता है। भाषा के अन्य पर्याय अमरकोष में इस प्रकार बताए गए हैं–

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः॥

सुस्पष्ट वाक्– अवययों द्वारा उत्पन्न वक्ता के भाव के बोधक संकेतग्रहयुक्त ध्वनिसमूह को भाषा कहा जाता है इसे संस्कृत श्लोक में इस प्रकार स्मृति में रख सकते हैं–

व्यक्तवाक्करणैः सृष्टो वक्तृभावावबोधकः।
शक्तिग्रहध्वनिव्यूहः, सा भाषेत्यभिधीयते॥

(भाषिकीकारिका प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी)

'भाषा इच्छानुसार निर्धारित उच्चरित संकेतात्मक ध्वनिसमूहों की वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य परस्पर विचारों का आदान प्रदान करता है।' –प्रो. रहस बिहारी द्विवेदी।

'उच्चरित ध्वनि संकेतों की सहायता से भाव या विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा है।'

अथवा–'जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार विनिमय या सहयोग करते हैं उस यादृच्छिक रूढ़ ध्वनि संकेत की प्रणाली को भाषा कहते हैं।'

भाषा विज्ञान की भूमिका-आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा पृ. १९-२० (भाषा यादृच्छिक वाचिक ध्वनिसंकेतों की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मानव परस्पर विचारों का आदन प्रदानक रहता है।) इसका मूल अंग्रेजी में इस प्रकार है–

A Language is a system of leitrary vocal symbols by means of which a social group cooperates outlines of linguistic analysis, B.Bloch and G.L. Trager p.5

भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र में उद्धृत पृ. ३२

स्फुटवाक्कणोपेतो भाषाभिव्यक्तिसाधकः।
संकेतितो ध्वनिव्रातः सा भाषेत्युच्यते बुधैः॥

भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र डॉ. कपिलदेव द्विवेदी पृ. ३२

'भाषा, यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।'

भाषा और भाषिकी डॉ. देवीशंकर द्विवेदी पृ. २६

काव्य लंकार में भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भामह ने लोक व्यवहार के लिए संकेत और यादृच्छिकता का प्रतिपादन किया है–

इत्यन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः॥

-काव्यलंकार-भामह ६.१३

(इतने इस प्रकार के वर्ण इस प्रकार के अर्थ को बताएँगे–लोक व्यवहार के लिए पहले इस प्रकार समय (संकेतग्रह) निश्चित किए गए।)

भाषा विविध स्थानों के निवासियों द्वारा प्रयुक्त होती है और उसकी ध्वनियों (वर्णों) में अन्तर है। अतः वह यादृच्छिक है, नहीं तो सर्वत्र एक वस्तु के लिए एक ही शब्द निश्चित होता है। यथा–

संस्कृत,	हिन्दी,	अंग्रेजी,	रूसी,	फ्रांसीसी,	जर्मन,
श्वा,	कुत्ता,	डॉग,	सबाका,	श्याँ,	हुंद
अश्वः,	घोड़ा,	हार्स,	लोशज्,	शह्वाल,	प्फेर्द

इसलिए भाषा ध्वनि संकेत है, वह यादृच्छिक है तथा रूढ़ है। इन तीन तत्त्वों से भाषा क्या है? यह स्पष्ट होगा।

१. भाषा ध्वनि संकेत है– यह भाषा का एक भेदक तत्त्व है जो उसे भावाभिव्यक्ति के लिए इंगित (इशारा आदि) साधनों से पृथक् करता है। इंगित में भी विचार विनिमय की क्षमता है किन्तु वह ध्वनि संकेत नहीं है। इस तरह लाल-हरी बत्ती सड़क पर बना मुड़ने के निशान आदि से अर्थ व्यक्त होता है, किन्तु ध्वनि संकेत न होने से वह भाषा की सीमा में नहीं आता।

२. भाषा यादृच्छिक संकेत है। अर्थात् भाषा में प्रयुक्त शब्दों और उसके अर्थों में कोई तर्क संगत सम्बन्ध नहीं है। जैसे पशुविशेष को घोड़ा क्यों कहते हैं यह कहना असंभव है। इनमें कोई यौक्तिक सम्बन्ध होता तो सभी चीजों के लिए समान ध्वनियाँ ही प्रयुक्त होतीं। हिन्दी में 'कुत्ता' और अंग्रेजी में 'डाग' नहीं कहा जाता।

३. भाषा के ध्वनि संकेत रूढ़ अर्थ विशेष में प्रसिद्ध होते हैं। यह प्रसिद्धि परम्परा से प्राप्त होती है। पहले से लोग वस्तु विशेष के लिए जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उसे सुनकर उस परिवेश में रहने वाला बच्चा उसी शब्द का उच्चारण करने लगता है। किसी भी भाषा में जितने ध्वनि संकेत होते हैं, वे प्रायः अर्थविशेष में रूढ़ होते हैं।

ध्वनि निश्चित रूप से उच्चारण सापेक्ष है, इसलिए भाषा का प्रमुख अर्थ भी उच्चरित या वाचिक भाषा ही है। भाषा विज्ञान में वाचिक भाषा का ही अध्ययन होता है।

भाषा का प्रयोग–

भाषा के प्रयोग तीन रूपों में होते हैं– १. व्यक्ति (स्वयं), २. व्यक्ति-व्यक्ति, ३. व्यक्ति-समाज।

१. व्यक्ति स्वयम्–

१.१ मनोरंजनार्थ माँ-माँ, पा-पा, चा-चा आदि कहना, आनन्दातिरेक में गाना गाना कुछ गुन-गुनाना आदि।

१.२ स्वगत भाषण–प्रेम, श्रद्धा, क्षोभ, क्रोध आदि की स्थिति में प्रायः व्यक्ति अपने भाव अकेले में व्यक्त करता है।

१.३ जप स्तोत्र पाठ- मन्त्रों के जप स्तोत्र पाठ आदि में व्यक्ति अपने लिए ही भाषा का प्रयोग करता है। यद्यपि इसमें ईश्वर को प्रसन्न करना उसका उद्देश्य होता है किन्तु श्रोता के रूप में वह भक्त की कल्पना में रहता है, प्रत्यक्ष रूप विद्यमान नहीं रहता, अतः यह भाषा व्यक्ति की स्वयं के लिए ही प्रयुक्त मानी जाएगी।

१.४ पाठस्मरण, दुहराना आदि-याद किए हुए पाठ को बार-बार दुहराने में व्यक्ति स्वयं के लिए भाषा का उपयोग करता है।

१.५ भय निवारणार्थ- एकान्त में निर्जन वन में भयानक स्थान में व्यक्ति अपने भय को दूर करने के लिए जोर-जोर से या धीरे-धीरे 'भूत पिशाच निकट नहि आवै, महावीर जब नाम सुनावै।' जैसे वाक्यों का उच्चारण करता है।

१.६ कष्ट निवारणार्थ–शीतकाल में स्नान करते समय ठंडे पानी को देखकर किसी गाने या स्तोत्र का 'गंगेच यमुने चैव गोदावरि सरस्वति' के रूप में व्यक्ति उच्चारण करता है।

१.७ गंभीर चिन्तन–कवि, लेखक, गायक, साधक, शिल्पी, वक्ता आदि जब गम्भीर चिन्तन की मुद्रा में होते हैं, तब वे एकान्त में कुछ बोलते या गुनगुनाते रहते हैं।

१.८ मनोभावाभिव्यजन–मनोभाव प्रकाशन के लिए बालक, युवा,

वृद्ध, योद्धा, अभिनेता आदि अपने आप कुछ बोलते रहते हैं। यह प्रवृत्ति सभी वर्ग के लोगों में दिखाई देती है।

२. व्यक्ति-व्यक्ति–

भाषा का प्रयोग स्वयं के बाद व्यक्ति विशेष के सम्पर्क में आने पर होता है–

२.१ शिष्टाचार निर्वाह–किसी परिचित व्यक्ति के मिलने पर प्रणाम, नमस्कार आदि बोलना कुशलक्षेम विषयक प्रश्न करना। दूसरे द्वारा पूँछे जाने पर उत्तर देना। प्रस्थान करने वाले व्यक्ति के प्रति 'शुभ यात्रा' आदि कहना।

२.२ परामर्श एवं मंत्रणा–किसी गंभीर विषय पर मंत्रणा करने में या किसी योजना के कार्यान्वयन के लिए परमर्श के लिए व्यक्ति-व्यक्ति विशेष के लिए भाषा का प्रयोग करता है।

२.३ स्नेहमूलक सम्बन्ध पति-पत्नी, भाई-बहन, प्रेमी-प्रेमिका आदि एकान्त में स्नेह-प्रेम दुःख-सुख की बातें करते हैं।

२.४ वैयक्तिक सम्पर्क एवं कार्य-व्यक्तिगत कार्य मानव को मानव से जोड़ते हैं। जैसे गुरु-शिष्य, बालक और माता-पिता, ग्राहक-दुकानदार, अधिकारी और कर्मचाारी। इसमें भी व्यक्ति से व्यक्ति के सम्पर्क के लिए भाषा प्रयुक्त होती है।

२.५ कार्यार्थ आदेश-कोई अधिकारी कर्मचारी को, माता-पिता बच्चों को, गुरु-शिष्य को- 'तुम ऐसा करो' आदि आदेश देता है। यह भी व्यक्ति से व्यक्ति के सम्पर्क की भाषा होती है।

२.६ भावाभिव्यक्ति–अपने हर्ष, शोक, रागद्वेष, कष्ट आदि के बताने के लिए भी एक व्यक्ति को अपनी स्थिति से अवगत कराता है।

३. व्यक्ति-समाज–

भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोग, सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने में होता है। भाषा समाज का समन्वय सूत्र है जिससे समाज

संघटित समन्वित एवं सम्पृक्त है। भाषा के द्वारा व्यक्ति समाज का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य बनता है। आचार्य दण्डी ने लिखा है–

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।

–काव्यादर्श १.४

(यदि सृष्टि के आरम्भ से भाषा (शब्द) की ज्योति न जलती होती तो यह त्रिभुवन घोर अन्धकार में निमग्न हो जाता।)

इसीलिए वेद ने कहा है भाषा ही राष्ट्रनिर्मात्री और संगमनी-समन्वित करने वाली शक्ति है–

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनाम्। ऋग्वेद १०.१२.५३

भाषा की दृष्टि से पाँच प्रमुख प्रयोग हैं–

१. भावसम्प्रेषण

२. संसूचन

३. उद्बोधन

४. रसास्वादन

५. दर्शन एवं चिन्तन

३.१ भावसम्प्रेषणा–समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों का आदान-प्रदान करता है। इस प्रक्रिया से भाषा व्यक्ति और समाज को एकान्वित करके एकता की सृष्टि करती है। भावों के आदान-प्रदान में भाषा ही सहयोग करती है। दैनिक व्यवहार एवं सामाजिक धार्मिक और राष्ट्रिय कार्यों में भाषा का उपयोग मनुष्य करता हुआ अपनी भावभिव्यक्ति करता है, जिससे उसका सामाजिक सम्बन्ध बनता है।

३.२ संसूचन–ज्ञान-विज्ञान, कला, संस्कृति आदि सभी अंगों में आवश्यक सूचना देकर समाज को अग्रेसर करना सत्पुरुष का उद्देश्य होता है। इससे व्यक्ति समाज से जुड़ता है। विज्ञान, भूगोल, इतिहास, साहित्य आदि की मानवोपयोगी सूचनाएँ भाषा के माध्यम से ही दी जाती

है। समाचार पत्र-पत्रिकाएँ भाषा के माध्यम से ही राष्ट्रिय और विदेशी गतिविधियों की सूचना प्रदान करती हैं। रेडियो टेलीविजन की भाषा के माध्यम से ही आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करते हैं।

३.३ उद्‌बोधन–उद्‌बोधन भी भाषा का उत्पन्न करना, जागरुकता लाना, कर्तव्य की ओर उन्मुख करना, सामाजिक प्रवेश है। समाज में चेतना उत्पन्न करनाा, जागरुकता लाना, कर्तव्य की ओर उन्मुख करना, उचित मार्ग पर प्रवृत्त करना, राष्ट्र और समाज के प्रति दाायित्व का बोध कराना, जनमत को अनुकूल बनाना भ्रान्तियों का निराकरण करना आदि भाषा के माध्यम से ही संभव होते हैं।

३.४ रसास्वादन– साहित्यिक कृतियों द्वाारा आत्मिक सुख के साथ अन्य को रसास्वादन कराया जाता है। साहित्य आनन्द के साथ उपदेश और प्रेरणा भी प्रदान करता है। उदात्त चरितों के वर्णन के माध्यम से रचनाकार समाज को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है, वह ऐसे वर्णन करता है कि पाठक उसमें आनन्दानुभूति भी करता है।

३.५ दर्शन और चिन्तन-भाषा उच्च स्तर पर दार्शनिक हो जाती है। इसमें चिन्तन मनन और अनुभूति का समावेश हो जाता है। इस व्यक्तिगत चित्रण मनन का लाभ भाषा के माध्यम से समाज को पहुँचाया जाता है। साहित्य तो समाज का दर्पण है, वह उचित दिशा में समाज को अग्रेसारित करता है। समाज एवं विश्व की दृष्टि से जो विचार और चिन्तन-मनन किया जाता है, वह दर्शन की कोटि में आता है। यह दार्शनिक चिन्तन मानव समष्टि का सार होता है। यही भाषा का सतत प्रवहमान सार है, जो भावी पीढ़ी को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता है। भाषा का यह दार्शनिक पक्ष सर्वोत्कृष्ट और उदात्त है। यही भाषा की ज्योति है, प्रकाश है और उसका अतीन्द्रिय रूप है। यही समाज में सुन्दर संस्कारों को निवेशित करता है।

उपभाषा–

साहित्ये शिक्षणे राष्ट्रे समाजे शासने च या।
बहुभिः सम्प्रयुक्ताऽऽस्ते भाषा साऽऽदर्शरूपिणी॥१॥

एकभाषाभिसम्बद्धा प्रदेशेषु पृथक्-पृथक्।
भाष्यते सोपभाषाऽऽस्ते सा विभाषाऽपि कथ्यते॥२॥

यथा हिन्दी तु भाषाऽऽस्ते बुन्देली चावधी तथा।
भोजपुरी बघेली च ह्युपभाषास्तदासते॥३॥

—भाषिकी कारिका प्रो. रहस बिहारी द्विवेदी

भाषा का एक आदर्श रूप है, जिसका उपयोग साहित्य सर्जन अध्यापन, राष्ट्रिय, सामाजिक शासकीय कार्यों, लेखन, भाषण आदि में अधिकांश द्वारा किया जाता है वह भाषा है। जैसे-हिन्दी (खड़ी बोली)। एक ही भाषा भौगोलिक दृष्टि से अलग अलग स्थानों पर निवास करने के कारण समान रूप में जब नहीं प्रयुक्त होती, तब वह उपभाषा विभाषा याा बोली कही जाती है। जैसे हिन्दी की उपभाषाएँ या बोलियाँ अनेक हैं। उपबोली क्षेत्र में रहने वाले लोग अपनी मुख्य आदर्श भाषा को प्रायः समझ लेते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि पढ़े लिखे लोग भले ही प्रायः दैनिक पारिवारिक व्यवहार में अपनी उपभाषा (बोली) का प्रयोग करते हों किन्तु अन्य बोली के व्यक्ति से मिलने पर वे अपनी मुख्य आदर्श भाषा का प्रयोग करते हैं। विशेष अवसरों पर आयोजित कार्यक्रमों में भी प्रायः आदर्श भाषा का प्रयोग हुआ करता है। संस्कृत में उपभाषा या बोली जैसी कोई स्थिति नहीं है। वाल्मीकि भास, कालिदास आदि ने जिस भाषा में साहित्य सर्जन किया है, उसी भाषा का प्रयोग आज साहित्यसर्जन और वार्तालाप में किया जाता है। पूरे विश्व में यह समान रूप से लिखी और बोली जाती है। भारतीय सन्दर्भों में हिन्दी राष्ट्र की अधिसंख्य लोगों की भाषा है, जिसमें अधिकांश संस्कृत के शब्द हैं, मुगलकाल के प्रभाव से इसमें उर्दू और अंग्रेजों के प्रभाव से यत्र-तत्र अंग्रेजी शब्द भी प्रयुक्त दिखाई देते हैं। संस्कृत में उपभाषा जैसी कोई वस्तु नहीं है। अतः हिन्दी की उपभाषाओं की स्थिति यहाँ स्पष्ट की जा रही है—

हिन्दी भाषा का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश, पंजाब का कुछ भाग, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश तथा बिहार है। इन्हें हिन्दी भाषी प्रदेश कहते हैं। इस पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र में पाँच उपभाषाएँ हैं जिनके अन्तर्गत मुख्यतः बोलिया हैं–

भाषा	**उपभाषाएँ**	**बोलियाँ**
हिन्दी	**१. पश्चिमी हिन्दी**	१. खड़ी बोली या कौरवी
		२. ब्रजभाषा
		३. हरियाणी
		४. बुन्देली
		५. कन्नौजी
	२. पूर्वी हिन्दी	१. अवधी
		२. बघेली
		३. छत्तीसगढ़ी
	३. राजस्थानी	१. पश्चिमी राजस्थानी मारवाड़ी
		२. पूर्वी राजस्थानी जयपुरी
		३. उत्तरी राजस्थानी मेवाती
		४. दक्षिणी राजस्थाानी मालवी
	४. पहाड़ी	१. पश्चिमी पहाड़ी
		२. मध्वर्ती पहाड़ी (कुमायूँनी, गढ़वाली)
	५. बिहारी	१. भोजपुरी
		२. मगही
		३. मैथिली

भाषाविज्ञान की शाखाओं का परिचय

भाषायाः प्रकृतिस्तस्या प्रयोगो घटनादयः।
यस्मिन् शास्त्रे विचार्यन्ते भाषिकीति तदुच्यते॥

भाषाविज्ञनमित्याहुर्भाषाशास्त्रं च केचन।
वाग्विज्ञानं तथा भाषामीमांसा वाऽपि कथ्यताम्॥

(भाषा की प्रकृति उसका प्रयोग उसकी रचना प्रक्रिया आदि पर जिसमें विचार किया जाता है उसे भाषिकी कहते हैं। भाषाविज्ञान, भाषाशास्त्र भी इसी को कहा जाता है। इसे वाग्विज्ञान या भाषामीमांसा भी कहा जा सकता है।)

प्रथमो ध्वनिर्द्वितीयञ्च पदं वाक्यं तृतीयकम्।
चतुर्थोऽर्थश्च भाषिक्या विभागाः सन्ति मुख्यतः॥

(भाषा विज्ञान की चार शाखाएँ हैं–१. ध्वनि, २. पद (शब्दरूप) ३. वाक्य और ४. अर्थ)।

प्रथमं ध्वनिं ततोरूपं वाक्यं च तदनन्तरम्।
श्रुत्वा श्रोता विजानाति तदर्थं च ततः परम्॥

(श्रोता पहले ध्वनि सुनता है उससे शब्द फिर शब्दों के समूह से वाक्य ज्ञात कर फिर अर्थ का ज्ञान करता है।)

अर्थं विचार्य तद्व्यक्तिक्षमं वाक्यं ततः परम्।
उपयुक्तं पदं चित्वा वक्तोच्चरति तद् ध्वनिम्॥

(वक्ता की विवक्षा में पहले अर्थ आता है उसके लिए वाक्य फिर पद तदनन्तर उपयुक्त ध्वनियों का चयन कर उच्चारण करता है।)

वस्तुतः सुनने और बोलने में ध्वनि पद वाक्य और अर्थ आते तो क्रम से हैं किन्तु इसके क्रम की प्रतीति नहीं होती। भाषा प्रयोग में उक्त चारों का उपयोग होता है। अतः यही भाषा के चार घटक भाषा विज्ञान में मुख्य रूप से विचारणीय होते हैं। इसलिए ध्वनि, रूप (पद/शब्द) वाक्य और अर्थ को भाषा विज्ञान की शाखा कहा जाता है।

अग्नि पुराणकार, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य को वाङ्मय कहते हैं–

'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम्।' ३३७.१

संस्कृत की दृष्टि से पद दो प्रकार के होते हैं–

१. सुबन्त, २. तिङन्त। इष्ट अर्थ के युक्त पदों के समूह का नाम वाक्य है। अग्निपुराण में इसका वर्णन इस प्रकार है–

'वर्गेषु वर्णवृन्दं स्यात्पदं सुप्तिङ्प्रभेदतः।
संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥' ३३७-६

वक्ता की इच्छा के अर्थ से युक्त शब्द पद कहा गया है जो भाषा में प्रयोग योग्य होता है इसके दो भेद हैं सुबन्त (रामः आदि) तथा तिङन्त (भवति आदि क्रियाएँ) आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त शब्दों का समुदाय वाक्य कहा जाता है–

'विवक्षार्थमयः शब्दः पदं सुप्तिङ्प्रभेदतः।
तत्समूहोऽर्हताकाङ्क्षाऽसक्तिमान् वाक्यमुच्यते॥'

– साहित्यानुसन्धानावबोध प्रविधि-प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी, पृ. ९

इस प्रकार भाषाविज्ञान के चार अंग हैं–

१. ध्वनिविज्ञान, २. पदविज्ञान,

३. वाक्यविज्ञान, ४. अर्थविज्ञान।

भाषा में चारों अंगों की स्थिति–

पहले ध्वनि का उच्चारण होता है फिर अनेक ध्वनियों से पद का निर्माण होता है, अनेक पदों से वाक्य संघटित होता है और उससे अर्थ

की प्रतीति होती है। ध्वनि से अर्थ तक का क्रम अनवरत चलता रहता है। इनमें प्रत्येक की सीमा इतनी विस्तृत हो गई है कि इनके विवेचन के लिए स्वतन्त्र शास्त्र विकसित हो गए हैं।

ध्वनि विज्ञान–

ध्वनि क्या है? कहाँ से उत्पन्न होती है? उसका कैसे संप्रेषण होता है? एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि का भेद क्यों और कैसे होता है? ध्वनि के उच्चारण में किन अवयवों की सहायता ली जाती है? ध्वनि में तारता या मन्द्रता क्यों आती है? आदि विषयों का निरूपण ध्वनि विज्ञान में किया जाता है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने ध्वनि विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी है–

'ध्वनेर्विश्लेषणं शिक्षा, वर्णनं च विभाजनम्।
परिवृत्यादीतिहासश्च ध्वनिविज्ञानमुच्यते॥'

(ध्वनि का विश्लेषण, उसका उच्चारण, ध्वनियों का वर्गीकरण, उसकी परिवृत्ति और इतिहास ध्वनि विज्ञान कहा जाता है।)

–भाषाविज्ञान और भाषा शास्त्र पृ. ११५

इसे अंग्रेजी में फोनोलॉजी और फोनेटिक्स (Phonology phonetics) कहा जाता है। संस्कृत में छह वेदांगों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष) में शिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। शिक्षा ग्रन्थों, प्रातिशाख्यग्रन्थों और व्याकरण आदि के ग्रन्थों में ध्वनि शिक्षा पर गहन चिन्तन मनन प्राप्त होता है। उच्चारण गलत होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जैसे- सर (तालाब) शर (बाण) स्वजन (अपनाजन) श्वजन (कुत्ते) सकल (सम्पूर्ण) शकल (टुकड़ा) सकृत् (एक बार) शकृत् (विष्ठा[मल) इसके लिए एक श्लोक प्रसिद्ध है–

'यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥'

ध्वनिविज्ञान विश्व की विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण सीखने में उपयोगी है। यह प्रत्येक भाषा की ध्वनियों का ज्ञान

कराता है। अतः किसी नई भाषा का उच्चारण सरलता से सीखा जा सकता है। इसके ज्ञान से ही वह तीन, दीन, हीन का अन्तर समझता है। इसमें 'ईन' समान होने पर 'त', 'द' और 'इ' के अन्तर से अर्थ भेद समझा जा सकता है।

ध्वनि विज्ञान में तीन मुख्य बातें सिखाई जाती हैं–

१. विश्लेषण (Analusis)

२. वर्णन (Description)

३. वर्गीकरण (Classification)

१. विश्लेषण– इसमें वाग्यन्त्र की रचना और उसके कार्यों को बताया जाता है। अतः विदेशी ध्वनियों का विश्लेषण भी किया जा सकता है।

२. वर्णन– इसमें किस ध्वनि का उच्चारण किस स्थान से और किस प्रयत्न से किया जाता है। इसका ज्ञान किया जाता है।

३. वर्गीकरण– इसके द्वारा मूलभूत ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार सूक्ष्मता से विभाजन किया जा सकता है। किसी भाषा की अधिक संख्या में दिखने वाली ध्वनियों का वर्ग बना दिया जाता है। जिससे वे ध्वनियाँ सिमट कर कम हो जाती हैं।

ध्वनि की तीन स्थितियाँ–

'उच्चारणं च सञ्चारो ग्रहणञ्च ततः परम्।
त्रयी गतिर्ध्वनेरस्य वाग्विद्भिर्विचार्यते'।।१।।

(ध्वनि का उच्चारण, उसका संचरण तथा उसका ग्रहण, ये ध्वनि की तीन स्थितियाँ होती हैं)

'ध्वनेरौच्चारिकी पूर्वा ततः साञ्चारिकी मता।
श्रौतिकी च तृतीयाऽस्ते शाखा सर्वत्र सम्मता'।।२।।

(ध्वनि विज्ञान की औच्चारिकी, सांचारिकी तथा श्रौतिकी ये तीन शाखाएँ सर्वमान्य हैं।)

'औच्चारिक्यां ध्वनेस्तस्य समुत्पत्तिर्विचार्यते।
वागिन्द्रियाणि चाश्रित्य ध्वनिभेदोऽत्र बुध्यते'।।३।।

(औच्चारिकी शाखा में ध्वनि की उत्पत्ति पर विचार किया जाता है। इसमें वाक्-इन्द्रियों के आधार पर ध्वनियों के भेद का ज्ञान किया जाता है।)

'ध्वनिश्वासतरङ्गाणां श्रोतारं गच्छतां खतः।
क्रियतेऽध्ययनं यस्यां सैव सांचारिकी मता'।।४।।

(आकाश मार्ग से ध्वनि श्वास की तरंगों से श्रोता के पास पहुँचती है, इसी का अध्ययन सांचारिकी में किया जाता है।)

'श्रवणं प्रविशन्तीनां स्वनोर्मीणां गते र्यया।
क्रियतेऽध्ययनं सैव श्रौतिकीत्युच्यते बुधैः।।५।।'

(श्रवणेन्द्रिय में प्रविष्ट होने वाली ध्वनि तरंगों का अध्ययन जिसमें किया जाता है उसे श्रौतिकी कहते हैं।)

वाग्यन्त्र–

'स्वनोत्पत्तिसहायानि वपुषोऽङ्गानि तारन्यतः।
वागिन्द्रियाणि कथ्यन्ते वाग्यन्त्रं वा समग्रतः।।५।।'

(ध्वनियों की उत्पत्ति में सहयोगी शरीर के (विशेष रूप से मुख में स्थित) अवयव वागिन्द्रिय वा वाग्यन्त्र कहे जाते हैं।)

१ से ५ संख्या तक सभी कारिकाएँ भाषिकी कारिका-प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी से उद्धृत की गई हैं।

वाग्यन्त्र को उच्चारण स्थान कहा जाता है। 'पाणिनीय शिक्षा' में मुख्य आठ स्थान बताए गए हैं–

'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।।'

वर्णों के आठ स्थान इस प्रकार हैं– उर (हृदय/फेफड़ा), कण्ठ (गला), शिर (मूर्ध्ना), जिह्वामूलं (जीभ का प्रारंभिक भाग), दन्त,

नासिका (नाक), ओष्ठ और तालु।

लघुसिद्धान्त कौमुदी के संज्ञा प्रकरण में **'तुल्यास्य प्रयत्नं सर्वणम्'** १.१.९ सूत्र और उसकी वृत्ति-**ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्। तथा 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं' वाच्यम्** (वार्तिक) के बाद संस्कृत भाषा में प्रयुक्त वर्णों के स्थान-**'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः** से **परानुस्वार विसर्गौ'** तक अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में बताए गए हैं। अतः संस्कृत वर्णमाला के उच्चारण स्थानों का ज्ञान वहाँ से करना सुगम है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के विद्वानों ने प्रायः अठारह उच्चारण माने हैं। वस्तुतः पाणिनीय शिक्षा में प्रतिपादित आठ स्थानों का विभाजन आधुनिक विद्वानों ने किया है। कुछ विद्वान् २० और उससे भी अधिक स्थान स्वीकार करते हैं। अठारह उच्चारण स्थान मेरी भाषिकी कारिका में इस प्रकार वर्णित हैं-

[1]ओष्ठौ दन्ता[2]श्च वर्त्सश३च तालु पुष्ट[4]च कोमलम्[5]।
अलिजिह्वा[6] जिह्वाणि[7]श्च जिह्वायाः फलक[8] तथा॥'

जिह्वायाा अग्रिमो[9] भागस्तस्या मध्यश[10]च पश्चिमः।
जिह्वामूल[12] च नाासाया द्वार[13] ग्रसनिका[14] तथा॥

काकलः[15] स्वरयन्त्र[16] च स्वरतन्त्री[17] ततोऽन्तिमम्।
उरः[18] स्वीक्रियते येन श्वसनः सम्प्रवर्तते॥

—भाषिकी कारिका- प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी

वाग्यन्त्र (मुख में स्थित उच्चारण स्थान)-

1. ओष्ठ
2. दन्त
3. वर्त्स
4. कठोरतालु
5. कोमलतालु

6. अलिजिह्वा (काकल)

7. जिह्वाणि

8. जिह्वाफलक

9. जिह्वाग्र

10. जिह्वामध्य

11. जिह्वापश्च

१२. जिह्वामूल

13. नासिका विवर (नासिकाद्वार)

14. ग्रसनिका

15. काकल

16. स्वरयन्त्र

17. स्वरतन्त्री

18. उरस् (श्वासनली)

अन्य विद्वान् दो स्थान और मानते हैं-

19. अभिकाकल

20. गलबिल

फेफड़े से निकाली गई वायु को इन उच्चारण स्थानों द्वारा इस प्रकार नियन्त्रित कर बाहर निकाला जाता है कि विवक्षित ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। मानवीय चेतना से किस प्रकार अभ्यस्त वर्णों का उच्चारण होता है इसके लिए पाणिनीय शिक्षा में बताया गया है–

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।।'

मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातः सवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्।।

कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जगतानुगम्॥

(आत्मा बुद्धि से अर्थों को समेट कर वक्ता की इच्छा के अनुसार मन को प्रेरित करती है। तब मन शरीर की अग्नि (ऊर्जा) को धक्का देता है, वह मारुत (हवा) को बाहर निकालने के लिए प्रेरित करता है। तब हवा उरस् में विचरण करती हुई मन्द्र स्वर उत्पन्न करती है। वही ध्वनि अग्निष्टोम आदि यज्ञों में सोमरस निकालने के समय पढ़े जाने वाले मन्त्रों के पाठ में उपयुक्त होती है। इस स्वर का छन्द गायत्री है। विद्वान् उस गम्भीर ध्वनि के स्थान (हृदयदेश) को भी प्रातः सवन कहते हैं। वही वायु जब कण्ठ देश में आकर भ्रमण करता है- तब माध्यन्दिन सवन कर्मोपयोगी मन्त्रों के पाठ में प्रयुक्त होने वाले त्रिष्टुप् छन्द से युक्त मध्यम ध्वनि को उत्पन्न करता है। यही वायु शिरोभाग में जाकर भ्रमण करता हुआ जगती छन्द से युक्त तृतीय सवन के मन्त्रों के पाठ में उपयोगी मयूर आदि के स्वर के समान ही अत्यन्त तीव्र स्वर को उत्पन्न करता है।)

इस प्रकार संस्कृत भाषा के मन्त्रादि के उच्चारण की प्रक्रिया का भी पाणिनीय शिक्षा में निरूपण प्राप्त होता है।

ध्वनियों के उच्चारण के आधार–

ध्वनियों के उच्चारण के तीन प्रमुख आधार हैं–१. स्थान, २. करण, ३. प्रयत्न। (इन सभी का ध्वनियों का उच्चारण कर अनुभव किया जा सकता है।)

१. स्थान– वहीं हैं, जो चित्र में प्रदर्शित किए गए हैं। इनमें से उच्चारण की दृष्टि से सात स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं १. काकल, २. कण्ठ, ३. तालु, ४. मूर्धा, ५. वर्त्स, ६. दन्त और ७. ओष्ठ।

इन स्थानों से उच्चरित ध्वनियों को क्रमशः १. काकल्य, २. कण्ठ्य, ३. तालव्य, ४. मूर्धन्य, ५. वार्त्स्य, ६. दन्त्य और ७. ओष्ठ्य कहा जाता है।

२. करण– उन इन्द्रियों को कहा जाता है जो गतिशील होती हैं। स्थान और करण में क्रमशः स्थिर रहने और चलने (हिलने) का अन्तर है। वागिन्द्रियाँ तो दोनों हैं किन्तु स्थिरता और गतिशीलता से इन दोनों में अन्तर है। इस दृष्टि से करण ये हैं–१. अधरोष्ठ, २. जिह्वा, ३. कोमलतालु, ४. स्वरतन्त्री। इनकी कम्पनशीलता या संचरण शीलता से ही उच्चारण संभव होता है। उच्चारण में साधकतम होने से इन्हें करण कहा जाता है-**'साधकततमं करणम्'** इनमें विकृति होने पर सही उच्चारण नहीं किया जा सकता है।

प्रयत्न–मुख्यतः दो प्रकार के हैं–१. आभ्यन्तर और २. बाह्य

१. आभ्यन्तर प्रयत्न–१. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ठ, ३. विवृत और ४. संवृत (इनके शाब्दिक अर्थों में इनका कार्य स्पष्ट है।)

२. बाह्य प्रयत्न- बाह्य प्रत्यन ग्यारह हैं–१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४ नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण (जिसमें कम हवा लगे), ८. महाप्राण (जिसमें ज्यादा हवा लगे), ९. उदात्त, १०. अनुदात्त, ११. स्वरित (इन तीनो को क्रमशः **उच्चैरुदात्तः नीचैरनुदात्तः समाहारः** स्वरितः अर्थात् ऊँचा स्वर, नीचा स्वर और दोनों का मिश्रित उच्चारण)।

रूप विज्ञान–

इसे पद या शब्द विज्ञान भी कहा जाता है। शब्द क्या है? शब्द कैसे निष्पन्न होता है? शब्द निष्पत्ति में उपसर्ग, धातु और प्रत्यय का क्या आपेक्षित सहयोग है? संज्ञा, क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि काा विभाजन किस आधार पर होता है? लिंग, वचन, पुरुष, काल आदि तत्त्व क्या हैं? शब्द और पद का क्या अन्तर है? आदि बातों का विचार पदविज्ञान में किया जाता है।

रूप विज्ञान की परिभाषा डॉ. कपिलदेवी द्विवेदी ने इस प्रकार दी है–

प्रकृतिप्रत्ययैर्मिश्रं सार्थकध्वनिसङ्गतम्।
रूपनिर्माणसम्बद्धं पदविज्ञानमिष्यते॥

भाषाविशेषसम्बद्धो लघिष्ठः सार्थको ध्वनिः।
बद्धमुक्तगुणैर्युक्तो रूपिमः कथितो बुधैः।

– भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र, पृ. २७५

उच्चारण की दृष्टि से भाषा की लघुतम इकाई ध्वनि है और सार्थकता की दृष्टि से शब्द। सार्थक होने पर भी शब्द जब विभक्ति से युक्त होकर पद बन जाता है, तब वाक्य में रहकर वाक्यार्थ बोध में सहायक होता है। वाक्य में पद और पदों में वर्ण होते हैं। पदों के वर्णों का कोई अर्थ नहीं होता जैसे 'रामः' के रम्अः कोई अर्थ नहीं है, उसी प्रकार वाक्य में बिना प्रयुक्त हुए 'रामः' आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। कोष में दिए गए शब्दों का कोई अर्थ नहीं है, केवल 'रामः' या 'पुस्तकम्' से कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता। रामः पुस्तकं पठति (राम पुस्तक पढ़ता है) यह वक्य है। इसमें प्रयुक्त होने से रामः, पुस्तकं और पठति सार्थक होते हैं।

भर्तृहरि ने वाक्य पदीय में कहा है–

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥१.७३॥

महाभाष्यकार का भी मत है कि पद असत्य है, एक अभिन्न स्वाभाविक वाक्य है। पद का विभाग केवल अबुधों के अवबोध के लिए कल्पित है–

आह चैवं भाषकारः 'तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्न-स्वाभावकं वाक्यम्। तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति' (पुष्पराज वाक्यपदीय २.५७ टीका)

संस्कृत सुबन्त और तिङन्त को पद कहा जाता है–सुप्तिङन्तं पदम् १.४.१४। संस्कृत में नियम है 'अपदं न प्रयुञ्जीत' अर्थात् जो पद नहीं है उसका प्रयोग नहीं किया जाता। संज्ञा शब्दों में सुप् आदि प्रत्यय लगाकर उसमें विभक्त्यादि कार्य करके प्रयोग योग्य बनाया जाता है।

पद और शब्द में अन्तर–

सामान्यतः पद और शब्द को समानार्थी समझा जाता है किन्तु व्याकरण और भाषाविज्ञान में इनमें शब्द को प्रतिपादिक कहा जाता है–**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** १.२.४५ इसी प्रातिपादिक (शब्द) में विभक्ति कार्य करके पद बनाया जाता है। जैसे 'राम' शब्द है और 'रामः रामौ रामाः' ये पद हैं। इस प्रकार शब्द विभक्ति रहित और पद विभाक्ति सहित होता है।

पद रचना की चार पद्धतियाँ–

प्रायः पद रचना की स्थिति चार प्रकार की दिखाई देती है–

१. अयोगात्मक– बहुत से पद बिना विभक्ति योग के दिखाई देते हैं- यथा- नदी, भूभृत्, वारि आदि शब्द इसी प्रकार मध्यम पुरुष लोट् लकार की क्रियाएज्ञ पठ वद आदि।

२. अश्लिष्टयोगात्मक– जन-ता, प्रभु-ता, उदार-ता आदि।

३. श्लिष्टयोगात्मक– दैव, कौमार, नैतिक, भौतिक।

४. प्रश्लिष्ट योगात्मक– 'पिपठिषति' यह एक क्रिया पद है किन्तु इसमें कर्ता की इच्छा भी व्यक्त होने से वाक्य है–

इसका अर्थ होगा– 'वह पढ़ना चाहता है।'

जो स्थिति उक्त उदाहरणों में संस्कृत भाषा के उदाहरणों से बताई गई है, अल्पाधिक मात्रा में अंग्रेजी, हिन्दी आदि में भी मिलती है।

पद रचना की पद्धतियाँ–

१. इस प्रकार शब्द को अविकृत छोड़ देना प्रथम स्थिति है, यद्यपि संस्कृत वैयाकरण यह मानते हैं कि वहाँ विभक्ति लुप्त दिखती है किन्तु है। भाषा वैज्ञानीक इसे शून्यविभक्ति (जीरो इन्फ्लेक्शन) कहते हैं। जैसे-नदी, वारि।

२. शब्द में कुछ जोड़कर पद बनाने की पद्धति बहुत व्यापक है। यह योग शब्द के आदि, मध्य और अन्त में कहीं भी हो सकता

है। आदियोग को उपसर्ग मध्ययोग को विकरण और अन्तयोग को प्रत्यय कहा जाता है।

प्रत्यय के लिए हिन्दी के कुछ विद्वान् परसर्ग, विकरण के लिए मध्यसर्ग और उपसर्ग के लिए पूर्व सर्ग कहते हैं। ये शब्द अंग्रेजी के प्रिफ़िक्स (Prefix) इन्फ़िक्स (Infix) और सफिक्स (Suffix) के शब्दानुवाद हैं। इसके लिए संस्कृत में प्राप्त शब्दावली ही उचित है।

आदियोग (उपसर्ग)–

हार शब्द में उपसर्ग लगाने से विविध अर्थ हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में एक कारिका प्रसिद्ध है–

'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
'प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥'

धातुओं में भी आदि योग देखा जा सकता है। जैसे अभवत्, अपठत्, अहसत् इनमें 'अ' का योग भूतकाल का वाचक है। यद्यपि धातुओं के रूप में जो तिङ् प्रत्यय के कारण लकार की दृष्टि से परिवर्तन होता है, वह भले पहले दिखे किन्तु उनके इस परिवर्तन में अन्त्ययोग (प्रत्यय) ही कारण है, हाँ, धातुओं में यदि उपसर्ग लगता है। जैसे-गच्छति में यदि आङ् उपसर्ग लगे तब आगच्छति रूप बनेगा जिसे आदियोग या उपसर्ग कहा जा सकता है। धातुरूपों के आदि में वर्ण संयोजन की दृष्टि से आधुनिक भाषा वैज्ञानिक इसे आदि योग में ही परिगणित करते दिखाई देते हैं।

मध्य योग–

करोति (करता है), कारयति करवाता है। यहाँ ण्यन्त योग मध्य में हुआ है। यद्यपि तद्धित प्रत्यय अन्त योग ही कहा जाएगा क्योंकि शब्द के अन्त में प्रत्यय लगने से शब्द के मध्य में परिवर्तन होता है। जैसे- देवः से दैवम् दशरथः से दाशरथिः किन्तु बाहरी तौर पर शब्द के मध्य परिवर्तन दिखाई देता है। अतः मध्ययोग माना जा सकता है।

अन्त योग (प्रत्यय)–

सुप् और तिप् प्रत्ययों में प्रायः अन्त में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है- यथा भवति, पठति तथा रामः रामं रामेण आदि।

कुछ विद्वान् अन्तर्वर्ती स्वर परिवर्तन भी पद-रचना की पद्धति मानते हैं। जैसे रूद्र से रौद्र, श्रुति से श्रौत आदि। किन्तु ये सभी प्रत्ययों से परिवर्तित स्थितियाँ हैं।

कभी-कभी आदेश सूत्रों के कारण रूप में परिवर्तन हो जाता है। जैसे दृश् का पश्य् आदेश हो जाता है।

पद विभाग

महर्षि यास्कने पद के चार विभाग किए हैं–

चत्वारि पद जातानि नामारव्याते–उपसर्ग निपाताश्च। (निरुक्त-१. पा.१ खं.१)

१. नाम (संज्ञा) रामः मोहनः आदि।

२. आख्यात (क्रिया) गच्छति लिखति आदि।

३. उपसर्ग (निर्बद्ध अव्यय) प्र, परा, अप आदि।

४. निपात (स्वतन्त्र अव्यय) इव, एव आदि।

यास्कने उपसर्ग के बारे में शाकटायन का मत उद्धृत करते हुए कहा है– **'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः।'** निरुक्त-१. १.४

अर्थात् उपसर्ग नाम (संज्ञाशब्द) और आख्यात (क्रियापद) से पृथक् होने पर कोई अर्थ नहीं देते।

वैयाकरणिक कोटियाँ–

वैयाकरणिक कोटियों का प्रयोजन भाषा में अभिव्यक्ति विषयक सूक्ष्मता और निश्चात्मकता लाना है। इसके लिए वाक्य में प्रयोग करते समय शब्द में उपयुक्त लिंग वचन आदि का विधान किया गया है।

इसके लिए मुख्यतः लिंग, वचन, पुरुष, कारक, क्रिया, काल आदि का ध्यान रखा जाता है। सभी भाषाएँ समान नहीं है, अतः एक ढाँचा सभी पर लागू नहीं होता तथापि इन कोटियों को किसी न किसी रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

लिंग–

लिंग का अर्थ है चिह्न जिससे किसी चीज की पहचान की जा सके। लिंग के दो प्रकार हैं–१. प्राकृतिक या लौकिक, २. वैयाकरणिक।

प्राकृतिक लिंग जैसे-स्त्री-पुरुष, माता-पिता, लड़का-लड़की। इसमें पहले शब्द पुरुष वाचक और दूसरे स्त्री वाचक हैं, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से स्त्री पुरुष पर सर्वथा आधारित नहीं है-जैसे ग्रन्थ अच्छा है, पुस्तक अच्छी है। जैसे भार्या स्त्रीलिंग है किन्तु उसी का वाचक कलत्र नपुंसक लिंग है। मूँछों से तो पुरुषत्व का ज्ञान होता है किन्तु उन्हें अच्छी कहा जाता है। बड़ी मूँछों वाले सिपाही आते हैं लेकिन कहा जाता है, 'पुलिस आ गई है।'

वचन–

लिंग की तुलना में वचन वास्तविक और व्यावहारिक है। लिंग का कोई तार्किक आधार नहीं है किन्तु वचन का आधार संख्या है। संस्कृत में तीन वचन हैं- एकवचन, द्विवचन और बहुवचन किन्तु हिन्दी में दो ही वचन हैं। एकवचन और बहुवचन।

पुरुष–

पुरुष की कल्पना वक्ता, श्रोता तथा अन्य व्यक्ति पर आधारित है–

वक्ता-उत्तम पुरुष, श्रोता-मध्यम पुरुष, वक्ता और श्रोता से भिन्न अन्य पुरुष पुरुष का अभिसबन्ध क्रिया से है और गौण रूप से सर्वनामों से भी उसका सम्बन्ध है। मैं, तुम, वह आदि सर्वनाम क्रमशः उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष हैं।

क्रिया–

क्रिया की अनेक कोटियाँ हैं। ये कोटियाँ सभी भाषाओं में समान नहीं हैं। इसके अधोलिखित आधार हैं–

१. कर्म और सद्भाव तथा अभाव के आधार पर क्रिया के दो भेद हैं–अकर्मक और सकर्मक।

२. संस्कृत में फलभोक्ता के आधार पर विभाजन है। फलभोक्ता स्वयं होने पर आत्मनेपद और अन्य के होने पर परस्मैपद का प्रयोग होता है।

३. वाच्य–क्रिया में कर्ता की प्रधानता होने पर कर्तृवाच्य और कर्म की प्रधानता होने पर कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग होता है। यथा– १. अहं प्रश्नान् करोमि। (कर्तृवाच्य), २. मया प्रश्नाः क्रियन्ते (कर्मवाच्य)।

काल–

क्रिया के प्रयोग में काल का ध्यान रखा जाता है। संस्कृत में इसके लिए लट्, लिट् आदि लकारों का विधान है।

सामान्यतया तीन काल हैं–भूत, वर्तमान और भविष्यकाल किन्तु संस्कृत में वाक्यों के अर्थावबोध के लिए अद्यतन अनद्यत न और आज्ञार्थक आदि लकारों का विधान किया जाता है।

रूप परिवर्तन

रूप परिवर्तन के मुख्य घटक इस प्रकार हैं–

१. सरलता का आग्रह, २. नवीनता का आग्रह, ३. बल, ४. अज्ञता, ५. साादृश्य।

१. सरलता का आग्रह–

जैसे करिन्, हरि, मुनि, साधु आदि के तृतीया विभक्ति से एक जैसे रूप चलते हैं–करिणा, हरिणा, मुनिना, साधुना।

२. नवीनता का आग्रह–

कई बार ऐसे शब्द जो व्याकरण की दृष्टि से साधु नहीं है फिर

भी उनका प्रयोग लोग करने लगते हैं। बाद में भाषाविज्ञान उन्हें मान्यता प्रदान कर देता है। जैसे–उच्चैः श्रवा के अनुसार देवैः श्रवा, सत्यश्रवा आदि शब्द। मृदुता के लिए मार्दव पटुता के लिए पाटव आदि नवीन प्रयोग हैं।

बल–

अभीष्ट अर्थ को प्रभावी बनाने के लिए जैसे स्वागतम् का सुस्वागतम् (जबकि सु+आगतम् से स्वागतम् बना है अब सु सु+आगतम् हो गया है।) श्रेष्ठ स्वयं में अधिकतम अर्थात् तमप् प्रत्यय के समकक्ष हैं। जैसे अंग्रेजी में गुड, वेटर, वेष्ट इसमें वेष्ट स्वयं इष्ठन् है उर्दू में वेहतर अंग्रेजी में वेटर संस्कृत में सुन्दरता। इनमें द्वितीय स्तर स्पष्ट है। तथापि श्रेष्ठतम का प्रयोग अधिक बल देने के लिए असंस्कृत प्रयोग करते हैं।

अज्ञता–

अज्ञान के कारण भी रूप परिवर्तन हो जाता है। जैसे महत्तम का महानतम महत्ता के स्थान पर महानता, तदुपरि का तदोपरान्त या अनन्तर का उपरान्त ऐसे प्रयोग भाषा के अज्ञान के कारण होते हैं। कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो प्रतिष्ठित साहित्यकारों द्वारा भी प्रयुक्त किए जाने वाले कुछ शब्द हैं, जैसे-जागृत, सृजन जबकि जागरित और सर्जन शुद्ध रूप हैं। श्रीमान् पूज्य में न हल न करने पर श्रीमान पूज्य अर्थात् अपूज्य श्रीमान् क्योंकि जो श्रीमान् में न् हल् था वह स्वर 'अ' से मिल कर ही हलन्त नहीं रहेगा। इस प्रकार के लााखों पत्र प्रतिदिन लिखे जाते हैं, जिनमें श्रीमान कुलपति, श्रीमान प्राचार्य में न हलन्त नहीं रहता है जो अकुलपति और अप्राचार्य का संबोधन बन जाता है। यह अज्ञान अब क्षम्य सा बन गया है किन्तु भाषाविद् भाषा की इस दुर्गति से खिन्न अवश्य होता है।

सादृश्य–

प्रसिद्ध शब्द के सादृश्य से प्रयोग होने लगता है। जैसे मनोभावना

के साम्य पर मनोकामना, तीनों के सादृश्य पर दोनों जबकि दो में न तो है नहीं। इसी प्रकार 'तबतक साँस तब तक आस' यहाँ साँस के सादृश्य पर आशा का आस हो गया है।

अर्थ विज्ञान

अर्थ–

शब्दाँच्छुत्वा पठित्वा वा यत्किञ्चिदवभासते।
तदेवार्थो हि वाक्यस्य यः सन्दर्भेण सङ्गतः॥

वाच्यो लक्ष्यस्तथा व्यङ्ग्यस्त्रिधा साहित्यवाङ्मये।
मीमांसादिषु वाच्यार्थस्तात्पर्याद् बहुधाऽश्नुते॥

(शब्दों को सुनकर या पढ़कर जो कुछ अवभासित होता है (ज्ञात होता है) वही शब्दों के समूह वाक्य का अर्थ होता है किन्तु यह अर्थ सन्दर्भ से संगत होना चाहिए। साहित्य की दृष्टि से वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकार के अर्थ होते हैं किन्तु मीमांसक केवल अभिधावृत्ति स्वीकार करते हैं अन्य अर्थों को वे अभिधा का व्यापार मानते हैं।)

–साहित्यानुसन्धानवबोधप्रविधिः पृ. ९, प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी

अर्थ विज्ञान–

विकासोऽर्थस्य तद्भेदाः परिवृत्तेश्च हेतवः।
एकानेकार्थसंज्ञानम्–अर्थविज्ञानमुच्यते॥

–भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र डॉ. कविलदेवद्विवेदी, पृ. ३४६

(अर्थविकास, अर्थविकास के भेद, अर्थ परिवर्तन के कारण एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों के अर्थ का निर्णय, अर्थ विज्ञान है।)

अर्थ विज्ञान में–अर्थ क्या है? अर्थ का ज्ञान कैसे होता है? शब्द और अर्थ में क्या सम्बन्ध है? अनेकार्थक शब्दों का अर्थ निर्णय कैसे किया जाता है? अर्थ में परिवर्तन क्यों और कैसे होता है? आदि जिज्ञासाओं की पूर्ति अर्थ विज्ञान के विषय हैं।

अर्थविज्ञान शब्द का प्रयोग महाभारत (वनपर्व. २.१९) में मिलता है। जिससे अर्थ चिन्तन की प्राक्तन परम्परा का ज्ञान होता है–

'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥'

भाषाविज्ञान के अर्थ विवेचन को अंग्रेजी में सेमेंटिक्स (Semantics) कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए अर्थ विचार, शब्दार्थ विचार, शब्दार्थ विज्ञान या अर्थविज्ञान शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

अर्थ का महत्त्व–

महर्षि पाणिनि ने भाषा का मुख्य तत्त्व अर्थ को माना है। अर्थवान् शब्द को प्रातिपदिक कहा है–

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १.२.४५ आचार्य यास्क ने निर्वचन का आधार अर्थ को माना है। यास्क के अनुसार अर्थ की नित्य परीक्षा करनी चाहिए–**अर्थ नित्यः परीक्षेत।** (निरुक्त २.१) जो वेद पढ़कर या याद कर उसका अर्थ नहीं जानता वह ठूँठ या पशु के समान है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

– (निरुक्त १.१८)

महर्षि पंतजलि भी ऐसा विचार व्यक्त करते हैं। अर्थ ज्ञान के बिना जो मूल पाठ दुहराया जाता है वह उसी प्रकार है, जैसे अग्नि के न रहने पर उसमें डाला गया ईंधन–

'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥'

–महाभाष्य

यास्क ने अर्थ को वाणी का फूल और फल माना है–

'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' निरुक्त १.२०

अर्थज्ञान कैसे होता है–

अर्थज्ञान के दो साधन हैं–

१. आत्मप्रत्यक्ष (स्वप्रत्यक्ष या आत्म-अनुभव)

२. पर प्रत्यक्ष (पर अनुभव)

आत्मप्रत्यक्ष–

किसी वस्तु को स्वयं अपनी आखों से देखना या अनुभव करना। जैसे-मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के विविध प्रकारों का स्वयं ज्ञान प्राप्त करना इसी तरह नीबू, सेव, केला, आम आदि को चखकर उसके रस या स्वाद का अनुवाद करना। इसके भी दो प्रकार हैं–

१. बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष २. अन्तरिन्द्रिय प्रत्यक्ष।

१. बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष

१.१ बाह्येन्द्रियाँ वे ज्ञानन्द्रियाँ हैं जो बाहर दिखती हैं। जैसे कर्ण, त्वक, आँख, जिह्वा और नासिका। इनसे जो श्रवण, स्पर्श, अवलोकन, स्वाद और गन्ध का अनुभव किया जाता है वह बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

१.२ अन्तरिन्द्रिय प्रत्यक्ष में अन्त:करण की वृत्तियाँ कार्य करती हैं, इन्हें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के रूप में दार्शनिक परिगणित करते हैं। इनसे सुख-दु:ख, क्रोध, हर्ष आदि का अनुभव किया जाता है।

२. पर प्रत्यक्ष

पर प्रत्यक्ष वह है जिसे पर अर्थात् दूसरे ने देखा, सुना या अनुभव किया है। पर प्रत्यक्ष के आधार पर ही हमें ज्ञात होता है कि दर्शनीय स्थल कौन हैं, कहाँ नदी हैं, कहाँ पहाड़ हैं। पर प्रत्यक्ष में आप्तवचन अर्थात् प्रमाणिक व्यक्तियों के कथन आदि आते हैं उसी से हमें इतिहासादि का ज्ञान होता है। जिसका हमें स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उसका भी ज्ञान हमें पर प्रत्यक्ष से हो जाता है। भूगोल की पुस्तकें पढ़ने से सारे संसार और इतिहास से पूर्व घटित घटनाओं का ज्ञान होता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध होता है, तभी पेन कहने से कागज का नहीं पेन का बोध होता है। प्रत्येक शब्द किसी व्यक्ति, वस्तु या भाव का बोध कराता है। कौन सा शब्द किस अर्थ का बोध कराता है। यह संकेतग्रह पर निर्भर करता है। संकेतग्रह इस प्रकार होता है–

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-
कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति
सानिध्यतः सिद्धपदस्य बृद्धाः॥'

(शब्द द्वारा संकेतित अर्थ का ग्रहण व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार, वाक्य के शेष रहने पर व्याख्या (टीका/अनुवाद) तथा सान्निध्य से होता है।)

प्रत्येक भाषा में शब्दों का अर्थ निश्चित रहता है। प्रारंभ में कोई व्यक्ति किसी शब्द का अर्थ विशेष के लिए प्रयोग करता है। बाद में वह बार-बार प्रयुक्त होने से एक निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाता है। किसी शब्द से किसी निश्चित अर्थ को स्वीकृत कर लेना संकेतग्रह है।

अन्वय व्यतिरेक–

किसी के होने पर किसी का होना अन्वय है किसी के न होने पर किसी का न होना व्यतिरेक है। जैसे छोटा बच्चा जब भाषा ज्ञान करने लायक हो जाता है, तब 'पुस्तक लाओ', 'कलम रख दो', 'इसे मत छुओ', 'यहाँ आवो', 'वहाँ जाओ' आदि वाक्यों को सुनता है तब उसे वस्तुओं और क्रियाओं का ज्ञान हो जाता है।

बिम्ब ज्ञान–

एक बार हाथी देखने पर हाथी का बिम्ब मानस में स्थिर हो जाता है, उसे प्रत्यक्ष या चित्र में देखने पर उद्‌बुद्ध हुए बिम्ब से वह हाथी को पहचान लेता है।

दार्शनिक दृष्टि–

दर्शन की दृष्टि से शब्द शरीर है और अर्थ आत्मा। अर्थ के बिना शब्द शरीर निर्जीव होता है। शब्द के बिना अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता। शब्द मूर्तरूप देता है और अर्थ उसमें चेतनता प्रदान करता है। व्याकरणदार्शनिक भर्तृहरि शब्द और अर्थ को एक ही तत्त्व के दो अभिन्न अंग मानते हैं–

'एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ'

-(वाक्यपदीय २.११)

भर्तृहरि शब्द और अर्थ का वाचक-वाच्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं–

'अस्याऽयं वाचकोवाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिष्यते॥'

-(वाक्यपदीय ३.३.३)

अर्थग्रहण या संकेत ग्रह के बाधक तत्त्व–

संकेत ग्रह के बाधक तत्त्ववार हैं–

१. समरूपता का अभाव (भाषागत, बौद्धिक, भावनात्मक)।

२. अशुद्ध अर्थज्ञान।

३. संकेत की विस्मृति।

४. आवृत्तिजन्य दृढ़ता का अभाव।

१. समरूपता का अभाव–

१. वक्ता और श्रोता यदि एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ हैं, तब शब्द उच्चरित होने पर अर्थ ज्ञान नहीं होता। २. बौद्धिक स्तर पर वक्ता और श्रोता का समरूप ज्ञान नहीं होता तब भी अर्थबोध में बाधा आती है। वक्रोक्ति और ध्वनि बौद्धिक स्तर ऊँचा होने पर समझी जा सकती है। जैसे–छोटे बच्चे से दादी ने कहा तुमको साइकिल बाद में खरीद

दूँगी। पहले तुम्हारी दीदी के हाथँ पीले करने हैं। बच्चे ने हल्दी का लेपन दीदी के हाँथ में कर दिया, दीदी ने कहा–'हल्दी क्यों लगा दिया', बच्चे ने कहा–'दादी तुम्हारें हाँथ पीले करने पर साइकिल खरीद देंगी, इसलिए मैंने ऐसा किया।' यहाँ बच्चे ने यह मुहावरा नहीं समझा कि इसका अर्थ शादी करना है। ३. भावात्मक समानता न होने से भी अर्थबोध नहीं होता। जैसे रसात्मक वर्णन से सहृदय ही आनन्द प्राप्त करता है। ईश्वरीय भक्ति विषयक प्रसंगों में भी अभक्त अर्थ नहीं समझ पाता।

२. अशुद्ध अर्थ ज्ञान–

जैसे वर्णी– 'अथाह वर्णी विदितो महेश्वरः' में वर्णी का अर्थ वटु या ब्रह्मचारी है। बहुवर्णी में विविध रंग वाली वस्तु के विशेषण में उसके रंगों का बोध है, इसमें प्रयुक्त वर्णी का ज्ञान न रखने वाला कालिदास के उक्त पद्य के वर्णी का अर्थ रंग वाला कर सकता है।

३. संकेत की विस्मृति–

अनभ्यास से शब्दों के अर्थ भूल जाते हैं। जैसे–'नाभिधा समयाभावात्' में 'समय' का अर्थ पढ़ते समय छात्र ने 'संकेतग्रह' समझा था किन्तु परीक्षा में उसका अर्थ समय (काल) का अभाव लिख दिया।

४. आवृत्ति जन्य दृढ़ता का अभाव–

बार-बार आवृत्ति करने से मस्तिष्क में अर्थ बद्धमूल हो जाता है, ऐसा न करने से वह भूल जाता है।

ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक आठ कारण बताए हैं–

अतिदूरात् सामीप्यात्-इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥

–सां.का.७

१. अतिद्रात् (श्रोता और वक्ता के दूर होने से)।

२. सामीप्यात् (अत्यन्त समीप होने से जैसे कोई कान के पास जोर से बोलने तो समझ में नहीं आता)।

३. इन्द्रियघातात् (इन्द्रिय में किसी प्रकार न्यूनता आने से)।

४. मनोऽनवस्थानात् (मन लगाकर न सुनने से)।

५. सौक्ष्यात्- अत्यन्त सूक्ष्म होने से आवाज का धीमा होना या बहुत सूक्ष्म निरूपण।

६. व्यवधानात्- कोई व्यवधान पड़ना तेज ध्वनि होने से धीमी आवाज नहीं सुनाई देती या दीवाल आदि पड़ जाना।

७. अभिभवात्-अभिभव याने तिरस्कार आवाज का अन्य आवाजों से तिरस्कृत होना या वक्ता की बात पर ध्यान न देना।

८. समानाभिहारात्-समान वस्तु का मिल जाना जैसे कई वाद्य यन्त्रों के बीच आवाज न सुनाई देना आदि।

अनेकार्थक शब्दों के अर्थ निर्णय के साधन

अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनके एकाधिक अर्थ होते हैं। इसके निर्णय के साधन भर्तृहरि ने इस प्रकार बताए हैं-

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालोव्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥'

-वाक्यपदीय २-३/१७-१८

१. संयोग और विप्रयोग-

जैसे शंख और चक्र धारण करने के लिए विष्णु प्रसिद्ध हैं किन्तु हरि भी उन्हें कहा जाता है। हरि का चन्द्र बन्दर आदि भी अर्थ होता है। सशंख चक्रो हरिः या अशंख चक्रोहरिः कहने पर इस वाक्य में प्रयुक्त हरि का अर्थ विष्णु ही होगा इन्द्र या वानर नहीं।

२. साहचर्य और विरोधिता–

जैसे–राम दशरथ पुत्र और जमदग्निपुत्र का नाम है 'रामलक्ष्मणौ' कहने से साहचर्य के कारण दशरथपुत्र राम का बोध होगा, किन्तु रामार्जुनौ कहने से परशुराम का बोध होगा क्योंकि सहस्त्रार्जुन उनका शत्रु है।

३. अर्थ और प्रकरण–

जैसे स्थाणु के दो अर्थ हैं–ठूँठ (सूखा वृक्ष) और शिव किन्तु 'कल्याण के लिए स्थाणु की आराधना करो' ऐसा वाक्य होने पर प्रकरण के कारण 'शिव' अर्थ निश्चित होगा।

४. लिंग–

जैसे मित्र नपुंसक लिंग में होने पर साथी (सुहृद्) का वाचक होता है और पुंल्लिंग होने पर सूर्य का वाचक होता है–'मित्रो भाति' का अर्थ होगा सूर्य चमक रहा है 'मित्रं भाति' का अर्थ होगा साथी सुशोभित हो रहा है।

५. शब्द की अन्य से सन्निधि–

जैसे देव शब्द किसी भी देव का बोधक हो सकता है किन्तु 'देवस्य पुरारातेः' कहने पर पुरनामक राक्षस के शत्रु अर्थात् शिव का बोध होगा।

६. सामर्थ्य–

जैसे मधु का अर्थ शहद है किन्तु मधुसूदन कहने से विष्णु का बोध होगा मधु नामक दैत्य को मारने का सामर्थ उन्हीं में है। सूदन का अर्थ है शत्रु।

७. औचिती–

यहाँ औचिती से योग्यता विवक्षित है जैसे द्विजपंक्ति उड़ रही है। द्विज का अर्थ दाँत, ब्राह्मण, चन्द्र और पक्षी होता है। दाँत और ब्राह्मण उड़ नहीं सकते, अतः यहाँ द्विज का अर्थ पक्षी होगा।

८. देश–

स्थान विशेष का उल्लेख होने से अनेकार्थक शब्द नियन्त्रित हो जाता है जैसे 'ब्रज' में विहरत हैं घनश्याम, यहाँ ब्रज का कथन होने से घनश्याम का अर्थ कृष्ण होगा। बादल नहीं।

९. काल–

जैसे 'मुधना मत्तः कोकिलः' यहाँ मधु का अर्थ वसन्त होगा शहद या शराब नहीं क्योंकि कोकिल वसन्त में मस्ती से कूक भरता है।

१०. स्वर आदि–

वेदों में यद्यपि स्वरों (उदात्त अनुदात्त और स्वरित) का विधान है। उसका प्रसिद्ध उदाहरण 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' है। किन्तु हिन्दी संस्कृत आदि भाषाओं में भी इसका अर्थ निर्णय में सद्भाव पाया जाता है। जैसे 'तुम नहीं जावोगे।' यह आदेश और प्रश्न दोनों है। वक्ता के स्वर (उच्चारण) की स्थिति से अर्थ का निश्चय हो जाता है। भर्तृहरि की कारिका में 'आदि' से व्यङ्ग्यात्मक अर्थों का ग्रहण किया जा सकता है। जैसे 'शाम हो गई' यदि आरती करने वाले से कहा गया तो 'अच्छा करता हूँ।' वह उत्तर देगा। घूमने वाले से कहा जाए तब- 'दूर जाना उचित नहीं है' या 'घूमने चला जाए' 'गाय बाधों', 'बत्ती जलावो' आदि अर्थ श्रोता ग्रहणा करेगा। इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों और एकार्थी शब्द से अनेक अर्थ का अवबोध प्रकरणादि के माध्यम से होता है।

अर्थ परिवर्तन (अर्थ विकास) की दिशाएँ–

संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, भाषा में ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों और अर्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। यह अर्थ परिवर्तन विकास की दृष्टि से अर्थविकास भी कहा जाता है। मुख्यतः यह विकास तीन रूपों में होता है–

१. अर्थविस्तार (Expansion of Meaning)

२. अर्थसंकोच (Contraction of Meaning)

३. अर्थादेश (Transperence of Meaning)

भाषा में इन तीनों के प्रयोग प्राप्त होते हैं। इन परिवर्तनों का परिणाम है कि कहीं अर्थ उत्तम हो जाता है और कहीं निकृष्ट हो जाया करता है। इस प्रकार इस परिणाम के दो भेद हैं–

१. अर्थोत्कर्ष (Elevation of Meaning)

२. अर्थापकर्ष (Deferiaration of Meaning)

१. अर्थ विस्तार –

इसमें विशेष अर्थ में प्रयुक्त शब्द अनेक सन्दर्भों में प्रयुक्त होने लगता है। जैसे–कुशान् लातीति कुशलः कुश ले आने में दक्ष को कहा जाता था। कुश जड़युक्त उखाड़ना और उसके धारदार पत्तें से हाँथ न कटे, यह चातुर्य जिसमें होता था, वह कुशल कहा जाता था। अब किसी को भी कार्यकुशल कहा जाता है। अनेक बार 'सब कुशल तो है' ऐसे वाक्य भी सुने जाते हैं। इसमें यह शब्द मंगलार्थ हो गया है। इसी प्रकार प्रवीण, वीणा बजाने में दक्ष को कहा जाता था अब प्रावीण्य सूची मेरिट लिस्ट (प्रतिभा सूची) में वीणा न जानने वाले छात्र भी आते हैं। तैल पहले तिल से निकले द्रव को कहा जाता था किन्तु सरसों या धरती से निकले द्रव को तेलकहा जाता है। इसी प्रकार महाराज राजा को कहा जाता था अब रसोइए को महाराज भी कहा जाता है। नाम गोशाला है पर भैंस बकरी भी बाँधी जाती हैं। गवेषणा गाय की इच्छा को कहा जाता था पर अब अनुसंधान को कहा जाता है।

२. अर्थ संकोच–

शब्द व्युत्पत्ति से जो अर्थ निकलात है वह प्रवृत्ति कई में पाई जाती है किन्तु कुछ शब्द अब संकुचित अर्थ को देते हैं। जैसे 'गच्छतीति गौः' किन्तु मनुष्य या अन्य पशु चलते हैं पर उन्हें गो नहीं कहा जाता। 'अश्नुतेऽध्वानमिति अश्वः' जो रास्ते पर दौड़ता है उसे अश्व कहा जाता है किन्तु अब घोड़े के अर्थ में सिमट गया है। मन् धातु से निर्मित मनुष्य उसे कहा जाता है जो चिन्तनशील हो किन्तु अब मूर्ख

को भी मनुष्य कहा जाता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अलग होता है तथा प्रवृत्तिलभ्य अर्थ अलग होता है, ऐसा आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण द्वितीय परिच्छेद में कहा है–

'अन्यद्धिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तमन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम्।' ऐसे सैकड़ों शब्द हैं–जैसे 'संसरतीति संसारः' गतिशील को संसार कहा जाएगा किन्तु विश्व के अर्थ में रूढ़ है। जल तालाब कीचड़ में बहुत वनस्पतियाँ होती हैं किन्तु जलज, पंकज, सरोज को कमल ही कहा जाता है। कोई गिलास में पानी लाकर दे तो उसे 'जलं ददातीति जलदः' की व्युत्पत्ति से जलद कहा जा सकता है किन्तु यह शब्द बादल के अर्थ में रूढ़ हो गया है।

समास, उपसर्ग, प्रत्यय, विशेषण, नामकरण परिभाषिकता से भी अर्थ संकोच हो जाता है। यथा–

- **समास–** कृष्णसर्प (सर्प की जाति), मनोज (कामदेव), दशानन (रावण), गजवदन (गणेश), पुरारि (शिव)।
- **उपसर्ग–** योग, संयोग, वियोग, आयोग, प्रयोग, आकार, प्रकार, आहार, विहार, परिहार, प्रचार, विचार, संचार।
- **प्रत्यय–** मन्, धातु में प्रत्यय से मति मनन, मनु, मनुष्य, मानवीयता, मानव, मनुष्यता। युज्धातु में प्रत्यय से-योजना योजक, योजित योग। भुज् धातु-भोग, भोजन, भोज।
- **विशेषण–** कमल-श्वेत कमल, भद्र-पुरुष-दुष्ट-पुरुष, नीला घोड़ा, लाल गाय, सज्जन पुरुष।
- **नामकरण–** किसी का नाम रख देने पर उसमें निश्चित रूप से अर्थ संकुचित हो जाता है। जैसे- राम, अर्जुन, सीता, द्रौपदी आदि।
- **परिभाषिकता–** जैसे भाषाविज्ञान में स्वन, स्वनिम, ध्वनि, ध्वनि-ग्राम, काव्यशास्त्र में रस, ध्वनि, लक्षणा आदि। तात्पर्य यह है कि रस तो शर्बत तथा 'रसो वैसः' में ब्रह्म को भी कहते हैं

किन्तु काव्य में रस विभावानुभाव संचारी भाव के संयोग से निष्पन्न माना जाता है जो काव्य के लोकोत्तर आह्लाद से सम्बद्ध है। अतः यह अर्थ संकोच की परिधि में आएगा।

अर्थादेश–

अर्थादेश का तात्पर्य है एक अर्थ के स्थान पर दूसरा अर्थ हो जाना। अर्थादेश से प्राचीन अर्थ लुप्त हो जाता है। बहुत पहले असुर (असु+र प्राणशक्ति सम्पन्न) देवों को कहा जाता था अब राक्षसों को कहा जाता है। इसी प्रकार अनेक शब्द हैं यथा–

पूर्व अर्थ	**वर्तमान अर्थ**
मौन (मुनेर्भावो मौनम्)	मौन (चुप रहना)
देवानां प्रिय (ईश्वर भक्त)	मूर्ख
बौद्ध (ज्ञानी)	बुद्धू (मन्दमति)
साहस (चोरी डकैती)	हिम्मत
भद्र (विनीत/मंगल)	भद्दा (खराब)
कर्पट (फटावस्त्र)	कपड़ा
पुंगव (विद्वानों का विशेषण)	पोंगा (मूर्ख)
उद्धार (मुक्ति)	उधार (कर्ज)
गवेषणा (गाय खोजना)	अनुसन्धान
गोप्ता (रक्षक)	गुप्ता (वैश्व वर्ग)

उक्त (अर्थ विस्तार, अर्थ संकोच और अर्थादेश) तीनों परिवर्तन की दिशाओं का काल यह होता है कि अर्थ कभी उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है और कभी-कभी उसका अपकर्ष हो जाता है।

अर्थोत्कर्ष–

जैसे मुग्ध पहले मूर्ख अर्थ में था किन्तु अब मोहित होना हो गया है। साहस पहले चोरी-डाका के लिए था अब हिम्मत के अर्थ में हो

गया है। कर्पट फटा वस्त्र था अब उसका उत्कर्ष होकर कपड़ा अच्छे अर्थ में हो गया है। गवेषणा, गाय खोजना था अब शोध के रूप में उत्कृष्ट हो गया है।

अर्थापकर्ष–

जैसे वज्रवटुक पहले पूर्णब्रह्मचारी के लिए था अब बजरबट्टू हो गया है। उद्धार का उधार, शौच (पवित्रता) का अब मलत्याग हो गया है। देवानां प्रिय अशोक को कहा जाता था, अब मूर्ख के अर्थ में हो गया है। इसी प्रकार बुद्ध का बुद्धू, नग्नलुंचक का नंगा लुच्चा, आबदस्त नमाज के पूर्व हाँथ धोने के लिए था अब मलत्याग के बाद जल के उपयोग के अर्थ में अवनत हो गया है।

अर्थपरिवर्तन के कारण

अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है। रागद्वेष, घृणा, आक्रोश आदि में उच्चरित शब्दों में अन्तर होता है। मानव मन गतिशील चंचल, भाावुक, संवेदनशील और नवीनता का प्रेमी है। भले ही भाषा क शब्द या उनके अर्थ काल्पनिक एवं सांकेतिक हैं किन्तु अर्थबोध का सीधा सम्बन्ध मन से है। अर्थपरिवर्तन प्रारंभ में व्यक्तिगत होता है किन्तु बाद में भाषा में ग्रहण कर लिया जाता है। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने अर्थ परिवर्तन के कारणों के रूप में अमिधा, लक्षणा, व्यंजना, शब्दशक्तियों का सूक्ष्म विवेचन किया है। साहित्य के अतिरिक्त भी अर्थ परिवर्तन के बहुत से कारण है–

१. लाक्षणिक प्रयोग	२. परिवेश भेद
३. व्यंग्य प्रयोग	४. श्रवण सुखदता
५. शिष्टाचार एवं विनम्रता	६. वैयक्तिक ज्ञान भेद
७. भावात्मक बल	८. सामान्य के लिए विशेष
९. शब्दार्थ की अनिश्चितता	१०. अज्ञान और भ्रान्ति
११. एक तत्त्व की प्रधानता	१२. गौण अर्थ की मुख्यता

१३. एक शब्द के विविध अर्थ १४. समास उपसर्ग और लिंग भेद

१५. बल का अपसरण	१६. कालभेद
१७. अन्य भाषाओं के शब्द	१८. अन्य भाषा का प्रभाव
१९. संक्षिप्तता	२०. सादृश्य
२१. पुनरावृत्ति	२२. प्रयोगाधिक्य
२३. जातीय मनोभाव	२४. साहचर्य

१. लाक्षणिक प्रयोग–

नारियल की आँख, सुराही की गर्दन, घड़े का मुँह, मधुर मुस्कान, कटुसत्य, नीरस भाषण, मुर्ख को गधा, भोले भाले को गाय, अपकारी को आस्तीन का साँप, कृतियों के स्थान पर लेखक का नाम जैसे शिशुपाल वध के लिए माघ।

२. परिवेश भेद

जैसे कार्न (Corn) इंग्लैण्ड में गेहूँ, स्काटलैण्ड में बाजरा, अमेरिका में मक्का। (एक बार ऐसी घटना हुई कि अंग्रेजों ने गेहूँ (Corn) मँगाया तो अमेरिका ने मक्का भेज दिया।) यह भौगोलिक कारणों से अर्थ परिवर्तन हो गया है। 'जो सोवत है वह खोवत है जो जागत है सो पावत है।' यहाँ सोने पर भजन न सुन पाना आदि खोने का अर्थ हो जाता है। भात का चावल। एक बार ऐसा हुआ कि किसी ने जरा सा भात माँगा तो परसने वाली महिला ने समझा कि वटलोई में नीचे जो जला भात है वह माँग रहे हैं क्योंकि अवधी में जरा जले को कहते हैं। जरा का थोड़ा-सा अर्थ विशेष प्रचलित है। सामाजिक परिवेश से भी अर्थ बदल जाता है। जैसे अस्पताल में सिस्टर नर्स को कैथोलिक चर्च में फादर पुरोहित (पादरी) को कहा जाता है। सामान्य व्यवहार में 'ट्रेन या बसों' में बहन जी भाई साहब दादा जी, दादी जी आदि परिवार से भिन्न को उम्र के अनुसार कह दिया जाता है। धार्मिक कारणों से भी परिवर्तन होता है। जैसे द्विवेदी दो वेद जानने वाले को कहा जाता था,

अब वंश विशेष का उपनाम है। राजनीतिक कारणों से भी परिवर्तन होता है। पारिवारिक कलह में 'क्या महाभारत मचा रखा है', 'सत्याग्रह हठयुक्त आन्दोलन, दुष्ट हृदय को भी महाशय, स्वार्थी को भी देशभक्त, राष्ट्र को पीछे ले जाने वाले और धूर्त को भी नेता (आगे ले जाने वाला) कहा जाता है। भौतिक परिवेश से भी परिवर्तन जैसे गिलास को Glass (ग्लास) काँच कहा जाता है।'

३. व्यंग्य प्रयोग (Grony)–

इसमें बिलकुल विपरीत अर्थ से संबोधित किया जाता है। मिथ्याभाषी को युधिष्ठिर, मूर्ख को बृहस्पति, डरपोक के शेर, लम्पट को ब्रह्मचारी, कुलक्षणा को सती, अपकारी को उपकारी कहने का संस्कृत में श्लोक प्रसिद्ध है–

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

यहाँ बिलकुल भिन्न अर्थ है, 'तुमने अपकार किया है जल्दी मरो।'

४. श्रवण सुखता (Euphemism)–

इसको अशुभ परिहार या अमंगलवारण के लिए किए गए शब्द प्रयोग की श्रेणी में रखा जाता है। जैसे मृत्यु के लिए स्वर्गवास बाथरूम पेशाब करने जाने के लिए, मैदान, शौच के लिए, मूत्रत्याग के लिए लघुशंका, स्तन के लिए छाती, गोप्ता का अर्थ रक्षक है किन्तु गोपनीय या छिपाने में गुप्त कहा जाता है। अन्ध विश्वास जैसे बड़ो का नाम नहीं लेना चाहिए कृपण का नाम नहीं लेना चाहिए। इसके लिए संस्कृत में श्लोक है–

'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात्-ज्येष्ठापत्य कलत्रयोः॥'

पति के लिए चम्पो के चाचा, कृपण के लिए अमुक का पिता (क्योंकि कृपण का सबेरे नाम लेने से खाना नहीं मिलता यह अन्धविश्वास है) एक बार कोई प्रवचनकर्ता कीर्तन में सीताराम, सीताराम, कहला रहे थे एक स्त्री 'चम्पो के चाचा', 'चम्पो के चाचा' कह रही थी, प्रवचनकर्ता ने पूछा, 'तुम चम्पो के चाचा क्यों कह रही हो' उनसे कहा, 'महाराज जी यह जो नाम आप ले रहे है। वह मेरे पति का है अतः कैसे उच्चारण करूँ।' कई बार हीन कार्य करने वाले को श्रेष्ठ कहा जाता है। जैसे भंगी को मेहतर (महत्तर) विनम्रता में भी भक्त अपने को पतित, पापी आदि कह देता है। कहिए की जगह आज्ञा कीजिए, बैठने के लिए आसन को अलंकृत कीजिए, नाम पूछने के लिए 'कौन से भाग्यशाली अक्षर आपके नाम में आकर कृतार्थ हो गए हैं।' इसी प्रकार आपका 'चरण सेवक' आपका 'दास' आदि।

६. वैयक्तिक ज्ञान भेद–

विद्वान् व्यक्ति के ज्ञान का स्तर भिन्न होता है, अतः उसके शब्द प्रयोग को सामान्य व्यक्ति नहीं समझ पाता जैसे ब्रह्म, जीव, माया, स्वनिम, ध्वनियन्त्र शब्दों का प्रयोग।

७. भावात्मक बल–

जैसे अतिशय के लिए प्रचंड भयंकर (प्रचंड गर्मी भयंकर भूल) प्रेमाशय से बच्चे को बड़ा शैतान हो गया है। पति को राजा पत्नी को रानी पुत्र को लाला, बब्बू, बाबा, मुन्ना आदि कहना।

८. सामान्य के लिए विशेष–

यथा- तिल तैल बना है किन्तु सभी को तैल, सूखी सब्जी, हरी सब्जी, पैसे वाले कहने से अब पैसे से कुछ नहीं मिलता फिर भी धनी के लिए प्रयोग होता है।

९. शब्दार्थ की अनिश्चितता–

अदृश्य के लिए-पाप-पुण्य, उत्थान-पतन, स्वर्ग-नरक, श्रद्धा-दया आदि इसके उदाहरण हैं।

१०. अज्ञान और भ्रान्ति–

जैसे अभिज्ञ (अभितो ज्ञायते इति अभिज्ञः) ज्ञानवान् का वाचक है किन्तु 'अभि' उपसर्ग के 'अ' को देखकर भिज्ञ का प्रयोग करना, अनुगृहीत के स्थान पर अनुग्रहीत, श्रीमती के स्थान पर श्रीमति, महत्ता के लिए महानता, सर्जन के लिए सृजन, स्वागतम् के लिए (सु+सु+आगतम्) सुस्वाागतम् जागरित के लिए जागृत, फ़ज़ूल के लिए बेफजूल।

११. एक तत्त्व की प्रधानता–

जैसे सुन्दर वर्ण के लिए सोना, सफेदी के लिए चाँदी, गौरी के लिए गोरी।

१२. गौण अर्थ की मुख्यता–

संस्कृत में कई बार गौण अर्थ का मुख्य अर्थ में प्राण जैसे अंगाः, बंगाः, कलिंगाः, हिन्दी में मूँगफली के लिए चिनिया बादाम, नमक के लिए रामरस आम के पना के लिए सन्नाटा।

१३. एक शब्द के विविध अर्थ–

कर्म-कर्तव्य, क्षीर (दूध)- खीर, स्तन (स्त्री का), पशु (गाय का) थन, साधु (सज्जन), साहू (बनिया/वणिक), खाद्य (भोज्य पदार्थ), खाद (खेत में डालने वाला उर्वरक), शुक्ल (चतुर्वेदी), शुक्ल (ब्राह्मण वर्ग विशेष), मिश्र (पूज्य), मिसिर (ब्राह्मण) वर्ग विशेष या मिश्र भी कहते हैं। उपाध्याय (ओझा) न पढ़ाने वाला भी उपाध्याय या ओझा कहा जाता है।

१४. समास उपसर्ग लिंग भेद–

कृष्ण सर्प-काला साँप, पतिगृह-ससुराल, पण्डितराज-पण्डितों में

श्रेष्ठ, राजवैद्य-वैद्यराज, धनपति-पतिधन। इन शब्दों के अर्थों में समास से अन्तर है।

उपसर्ग- **'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्रनीयते।**
प्रहाराहारसंहार- विहारपरिहारवत्॥'

लिंग भेद- जैसे काला (पुरुष), काली (स्त्री या दुर्गा), शैल (पर्वत), शैला (पार्वती), दक्षिण (दिशा), (दान देना) आदि।

१५. बल का अपसरण (Shifting of Emphoris)-

जैसे- उपाध्याय-ओझा या झा, पुंगव (साँड़), श्रेष्ठ अर्थ, मुनिपुंगव, बज्रवटु (घोर ब्रह्मचारी), बजरबट्टू (महामूर्ख)।

१६. कालभेद–

श्रेष्ठ-सेठ (धनी), साधु-साहू, महाराज (श्रेष्ठ राजा), महराज (रसोइया), महत्तर (श्रेष्ठ), मेहतर (भंगी)।

१७. अन्य भाषाओं के शब्द–

कई बार अन्य भाषाओं के शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। यथा-मुर्ग (फारसी में पक्षी के लिए) हिन्दी में पक्षिविशेष, लार्ड से लाट साहब, संस्कृत का बुद्ध (ज्ञानी) केवल बुद्ध कहने से गौतमबुद्ध का बोध होता है। संस्कृत का असुरमेधा (दिव्य बुद्धि/सरण शक्ति) अवेस्ता में अहुर मस्दा संस्कृत में कादम्बरी (बाण की कृति) अंगला में उपन्यास। अन्य भाषाओं में ध्वनिपरिवर्तन भी हो जाता है। समाचार (सम्यक् आचार) अब हाल-चाल के अर्थ में हो गया है।

संक्षिप्तता–प्रयत्नलाघव एव सहज प्रवृत्ति है। जैसे-वेदव्यास का व्यास, शुक्ल पक्ष को सुदी, कृष्णपक्ष को वदी, मेलट्रेन को केवल मेल, आटोरिक्सा को आटो, नेकटाई को टाई, मास्टर साहब को मास्साब आदि।

२०. सादृश्य–

प्रश्रय शब्द (प्रणय प्रश्रयौ समौ अमर कोष) को आश्रय के अर्थ में माना जाता है, अनुक्रोश (दया) आक्रोश (कोप/क्षोभ)।

२१. पुनरावृत्ति–

रविवार के दिन आऊँगा यहाँ रविवार में वार है तथापि बार का प्रयोग। हिमालय के लिए हिमाचल पर्वत, बिन्ध्याचल पर्वत।

२२. प्रयोगाधिक्य–

जैसे श्रीमान् (लक्ष्मी से युक्त) प्रयोगातिशय से सम्मान सूचक-शब्द होकर नाम के पहले (चाहे गरीब का ही नाम हो) फिर भी आता है। महाशय (महान् आशय वाला) किन्तु कभी-कभी क्यों महाशय क्या कर रहे थे यह सम्मानजनक या ज्ञानवान् नहीं रह गया है।

वचन में भी परिवर्तन हो जाता है 'जूता खरीदना है', 'मोजा खरीदना है' जबकि दो खरीदने होते हैं। अतः कहना चाहिए जूते/मोजे खरीदने हैं।

२३. जातीय मनोभाव–

फारसी में हिन्दू का अर्थ नीच/गुलाम/काफिर है। हिन्दी में बुद्ध का बुद्धू, लुंचित केश मुण्डितशिर का लुच्चा।

साहचर्य–

सिन्धु नदी के साहचर्य से हिन्दु शब्द बना है। ईरानी में 'स' को 'ह' कहा जाता है और हिन्धु (द्+ह्+उ=धु) के 'धु' से 'ह' निकल गया, अतः हिन्दु हो गया। अंग्रेजी में 'स' और 'ह' कई बार उच्चरित नहीं होता, स्वर भर शेष रहता है जैसे यस् में 'स' का उच्चारण न कर 'या' और 'आनर' में एच अक्षर होने पर भी उसका उच्चारण नहीं होता। अतः आई.एन.डी. (IND) शेष बचा और यू (U) का उच्चारण भी अंग्रेजी में कई बार नहीं होता। जैसे बट (But) अतः 'उ' भी गायब हो

गया। तब स्थान के बोध के लिए उसमें 'इया' (IA) प्रत्यय लग गया, जैसे रसा-रसिया (रूस) छत्तीसगढ़िया, जबलपुरिया आदि के इया प्रत्यय वहाँ के निवासी होने का संकेत करता है। अतः सिन्धु (नदी का नाम) सिन्धु से सिन्ध, सिन्धी, हिन्दी, हिन्द, हिन्दू आदि रूपों में प्रचलित हो गया। हिन्दी हिन्दुस्थान/ हिन्दुस्तान (उर्दू में) का अंग्रेजी में इण्डिया (INDIA) हो गया। अन्य भाषा के साहचर्य से ऐसा परिवर्तन होता है। जैसे गो/गाय/गऊ/काऊ (Cow) पुराकथा में मैथालाजी फिर हिन्दी में मिथक कहा जाने लगा।

भारत का नाम भी विदेशी प्रभाव के कारण हिन्दुस्तान, हिन्दू या इण्डिया हुआ है। वस्तुतः भारत शब्द में व्यापकता थी 'भा' याने दीप्ति, भास्कर सारे जगत् को बिना विभेद के प्रकाश देता है, उसी प्रकार भारत नाम था। कहाँ सूर्य का आभा मण्डल। सिन्धु या हिन्दु सीमित है, 'हिन्दु' में जातीय बोध से भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना नहीं प्रतीत हो पाती। अतः इस नाम परिवर्तन के कारण हुए अर्थपरिवर्तन ने नाम से अभिव्यंजित इसकी व्यापकता को तिरोहित कर दिया। इसी प्रकार 'संस्कृत शब्द से भी किसी स्थान या जाति का बोध नहीं होता।' भरत का अर्थ है अग्नि अतः अग्नि में आहुति देकर यज्ञ करने वाले अग्नि के उपासकों को भारत कहा गया। इसी से इस देश में उनके रहने के कारण इसे भारत कहा गया। अग्नि के उपासक विश्वामित्र के साथ विपाट् शुतुद्री संगम पार कर इस भूभाग में आए–

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।

–ऋग्वेद ३.५३.१२

तस्मा अग्निर्भारतः शर्म 'सज्ज्योक्
पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम्।' –ऋग्वेद- ४.२५.४

पुनः पुराणों में इस राष्ट्र की सीमा बताई गई

'उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।'
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

–विष्णुपुराण अंश २., अ.३

इण्डिया या हिन्दुस्तान इसका प्राक्तन नाम नहीं है।

इस प्रकार अर्थ परिवर्तन के अनेक कारण हैं जो भाषा और भावना दोनों को प्रभावित करते हैं।

वाक्य विज्ञान

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों का समुदाय वाक्य कहा जाता है। महावाक्य वह है जो वाक्यों का आकांक्षा योग्यता आसत्ति से युक्त समुदाय है। इस प्रकार इसके दो भेद हुए वाक्य और महावाक्य। वाक्य का उदाहरण एक पद्य है, जबकि महावाक्य रामायणादि ग्रन्थ है। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है।

'वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽ-
काङ्क्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः।
वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं
वाक्यं द्विधा मतम्॥' २.१

और पद हैं–

'वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः।'

पद वे वर्ण हैं जो प्रयोगयोग्य (सुबन्त तिङन्त) हुआ करते हैं और अनन्वित (दूसरे से असबद्ध) अर्थ के बोधक हुआ करते हैं। जैसे 'घटः' यह वर्ण समुदाय (जो कि प्रयोग योग्य है और एक अनन्वित अर्थ का बोधक) पद है। वाक्य विज्ञान की परिभाषा डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने इस प्रकार दी है–

'वाक्यानां रचना भेदाः, परिवृत्तिः पदक्रमः।
वाक्यविश्लेषणं चैव, वाक्यविज्ञानमिष्यते॥'

–भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र पृ. ३१८

(वाक्य विज्ञान में निम्नलिखित बातों का विवेचन किया जाता है- वाक्यों की रचना, वाक्यों के प्रकार, वाक्यों में परिवर्तन, वाक्यों में

पदक्रम (पदविन्यास) और वाक्यों का विश्लेषण)।

पद विज्ञान में पदों की रचना का विवेचन होता है। अतः उसमें पदविभाजन (संज्ञा, क्रिया विशेषण आदि) कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि के बोधक शब्द किस प्रकार बनते हैं, इस पर विचार किया जाता है। वाक्यविज्ञान उसके आगे की कोटि है। इसमें पूर्वोक्त विधि से बने हुए पदों का कहाँ किस प्रकार प्रयोग होता है, उन्हें कैसे सजाना चाहिए, विविध रूपों में उन्हें रखने से अर्थ में क्या अन्तर आता है इन तथ्यों पर वाक्यविज्ञान में विचार किया जाता है। वाक्य की परिभाषा व्याकरण के विद्वानों ने दी है, यथा–

१. (क) एकतिङ् वाक्यम्। (एक क्रिया वाक्य है) महाभाष्य पंतजलि २.१.१

(ख) आख्यातं साव्ययकारक विशेषणं वाक्यम्। (क्रियाविशेषण युक्त क्रियापद वाक्य है।) वही २.१.१

२. मीमांसकों की परिभाषा–

(क) अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्। (क्रिया एवं कारकादि समूह में रहने वाली जाति वाक्य है।) मीमांसा.

(ख) पदसमूहो वाक्यम्-अर्थ समाप्तौ। वात्सायन मंजूषा ह.१ (ऐसा पद समूह वाक्य है जो अर्थ की परिसमाप्ति तक रहे)।

मतों का सारांश यह है कि वाक्य पदों का समूह है और वाक्य पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है।

भाषाशास्त्री इन परिभाषाओं को पूर्णतः स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनके तर्क हैं–

१. भाषा की इकाई वाक्य है न कि पद समूह।

२. यह आवश्यक नहीं कि वाक्य पदसमूह हो। एक पद वाले वाक्य भी प्रयोग में आते हैं। जैसे- 'आम्' (हाँ), 'कुतः' (कहाँ से), 'नद्याः' (नदी से), 'नहीं' आदि।

३. अनेक भाषाओं में एक पद ही पूरे वाक्य के स्थान पर प्रयुक्त होता है।

४. वाक्य भाषा का अंग है, वह पूर्ण प्रतीति नहीं करा सकता। एक ग्रन्थ या भाषण में सहस्त्रों वाक्य होते हैं।

वाक्य की व्यावहारिक परिभाषा–

सार्थं लघिष्ठं पूर्णार्थं वाक्यं स्याद् भाषाङ्गकम्।
भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र॥

–डॉ.कपिलदेव द्विवेदी पृ. ३२१

(भाषा की लघुतम पूर्ण सार्थक इकाई को वाक्य कहते हैं।)

वाक्य के अनिवार्य तत्त्व–

आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति का उल्लेख किया गया है। इन तीनों का वाक्य में होना अनिवार्य है–

आकांक्षा- वाक्य में प्रयुक्त पद अन्य पद की आकांक्षा रखता है, जैसे- 'देवदत्त' कहने से आकांक्षा होती है की वह क्या करता है या उसने क्या किया- जैसे देवदत्त पढ़ता है, इसमें तीनों पद साकांश हैं।

योग्यता– पदों में परस्पर सम्बन्ध की क्षमता को योग्यता कहा जाता है। इसमें दो प्रकार की अयोग्यताएँ आ सकती हैं अर्थमूलक और व्याकरण मूलक –

अर्थमूलक– जैसे वह्निना सिंचति। यहाँ आग से जलाने का कार्य होता है। जल से सिचाई की जाती है अतः यह अयोग्य वाक्य है क्योंकि अर्थ की अयोग्यता है। इसी प्रकार व्याकरण मूलक अयोग्यता होती है- अहं गच्छति (मैं जाता हूँ)। यहाँ अहं गच्छामि (मैं जाता हूँ) कहना व्याकरण की दृष्टि से ठीक है क्योंकि उत्तम पुरुष के साथ उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग संगत है।

आसत्ति (सन्निधि)– इसका अर्थ है समीपता, अर्थात् अविलम्ब उच्चाारण। 'मैं बोलकर कोई चुप हो गया, एक घण्टे बाद कहा'–

'प्रयाग जाता हूँ।' इससे वाक्य के पदों के प्रयोग से समय की दूरी होने से कोई अर्थ नहीं निकलेगा।

अतः पूरे वाक्य में पदों का उच्चारण एक साथ करना पड़ता है।

कुछ विद्वानों ने सार्थकता और अन्विति का उल्लेख किया है जो क्रमशः योग्यताा और आसत्ति में अन्तर्भूत है।

वाक्य विन्यास के आवश्यक गुण

भारतीय विद्वान् आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि गुणों का होना आवश्यक मानते है। पाश्चात्य विद्वान् पद विन्यास की चार विशेषताएँ बताते हैं–

१. चयन (Selection)

२. क्रम (Order)

३. ध्वनि परिवर्तन (Modification)

४. स्वर परिवर्तन (Madulation)

१. चयन–

वाक्य में कौन-सा शब्द उपर्युक्त है इसके लिए पद और अर्थ दोनों पर ध्यान दिया जाता है। पत्नी (प्यार करने वाली) भार्या (जिसका भरण पोषण किया जाए) जाया (बच्चा पैदा करने वाली), पिता (रक्षा करने वाला), जनक (पैदा करने वाला) जैसे तुलसीदास के रामचरितमानस में सीता के लक्ष्मण को दिखाने के प्रसंग में राम ने कहा– 'रघुवंशिन कर सहज स्वुभाऊ, मन कुपंथ पग धरइन काऊ।' यहाँ 'दशरथसुत कर सहज सुभाऊ नहीं कहा क्योंकि रघु एक नारीव्रत थे, अतः उनका उल्लेख किया दशरथ की तीन पत्नियाँ थी अतः दशरथ का उल्लेख यहाँ नहीं उचित था। रूप की दृष्टि से भी चयन उचित होता है- जैसे पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक। चल रहा लकुटियाटेक/मुट्ठी भर दोने को/भूख मिटाने को' (निराला की कविता)

यहाँ पेट की जगह उदर और लकुटिया की जगह लगुड या डंडा अनुपयुक्त होगा भले ही उदर और लगुड शब्द परिनिष्ठित हैं।

क्रम–

संस्कृत और हिन्दी में प्रायः कर्ता कर्म के बाद अन्त में क्रिया का प्रयोग किया जाता है। कविताओं में यह क्रम बदल जाता है किन्तु लयात्मकता और भाव प्रवणता के कारण सुन्दर लगता है किन्तु सामान्य वाक्यों में क्रमशः कर्ता, कर्म और क्रिया ही उचित हैं। उक्त कविता में चल रहा लकुटिया टेक में चल रहा पहले प्रयुक्त है फिर भी सुन्दर लगता है।

संस्कृत की यह विशेषता है कि वाक्य में क्रम बदल देने पर अर्थ नहीं बदलता जैसे–'रामः रावणं हन्ति', 'हन्ति रावणं रामः' किन्तु अंग्रेजी अर्थ बदल जाएगा। 'राम किल्ड मोहन', 'मोहन किल्ड राम' यहाँ हत्या करने वाला बदल जाएगा।

पदक्रम बलने के दो कारण हैं–बल देना या छन्द में यति के कारण क्रम परिवर्तन।

ध्वनि परिवर्तन–

सन्धियुक्त वाक्यों में ध्वनि परिवर्तन हो जाता है जैसे- विद्या+आलय= विद्यालय, जल्दी बोलने में भी होता है- 'मास्टर साहब' का 'मास्साब' कब आवोगे का कबाओगे। पण्डित जी- 'पंडिज्जी' बोलने में अधिक ध्वनि परिवर्तन होता है।

स्वर परिवर्तन–

बलाघात के कारण स्वरों में परिवर्तन हो जाता है। उठ गया का उठा, पढ़ लिया का पढ़ा आदि। 'आपने खाना खा लिया है न।' इस वाक्य में 'न' निषेधार्थक नहीं है। उच्चारण में स्वरभेद के कारण यहाँ न विधिपरक है।

वाक्य और पदक्रम

अधिकांश भाषाओं में पदक्रम निश्चित हैं। प्रायः उसी क्रम से पदों का संयोजन किया जाता है। इसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, परिवर्तनीय पदक्रम तथा अपरिवर्तनीय पदक्रम।

परिवर्तनीय पदक्रम–

कुछ भाषाओं में वक्ता की इच्छा के अनुसार पदों के क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है–यथा–संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अरबी और फारसी। इनके पदों में विभक्तियाँ लगी रहती हैं, अतः पदक्रम में परिवर्तन करने पर भी अर्थ समान रहता है। यथा– 'रामः रावणं हन्ति', 'हन्ति रावणं रामः' दोनों वाक्यों में राम रावण को मारता है, यही अर्थ होगा।

अपरिवर्तनीय पदक्रम–

ऐसी भाषाओं के पदक्रम बदलने पर अर्थ बदल जाता है, इन भाषाओं में पहले कर्ता फिर कर्म तब क्रिया का प्रयोग होता है। जैसे चीनी भाषा–'वाङ् ताङ् चाङ्' (वाङ् चाङ् को मारता है) हिन्दी और अंग्रेजी में प्रश्नवाचक शब्द 'क्या Why आदि' पहले आते हैं किन्तु चीनीभाषा में अन्त में आते हैं। यथा- वाङ् श्येन त्साई ज्या मा (क्या श्री वाङ् घर पर हैं)

वााक्य में स्वराघात–

वाक्य में संगीतात्मक और बलात्मक दोनों प्रकार का स्वराघात होता है। संगीतात्मक स्वराघात में शंका निराशा आदि के भाव व्यक्त किए जाते हैं। जैसे 'वे चले गए' इसके अनेक अर्थ होंगे, यह बलाघात वाक्य सुर के अनुसार होता है। बलात्मक स्वराघात में जैसे- 'मैं अभी जाऊँगा' इसमें जिस पद पर बल दिया जाएगा, वह अर्थ मुख्य होगा।

वाक्य में पद लोप–

संक्षेप के लिए पदों में लोप होता है। जैसे–कहा से? कहने पर 'आ रहे हो' स्वतः ज्ञान होता है, उत्तर भी ऐसा हो सकता है- 'प्रयाग से' इसमें आ रहा हूँ स्वयं अन्वित हो जाता है।

वाक्य और पदक्रम अन्य भाषाओं के सम्पर्क आदि से बदलते रहते हैं–जैसे 'रामायण एक अध्ययन' इस पर 'रामायणः ए स्टडी' का

अंग्रेजी प्रभाव है। शिक्षा के प्रभाव के कारण शिक्षितों की भाषा में कुछ कृत्रिमता रहती है किन्तु सामान्य जनता उचित पदक्रमों का प्रयोग करती है। कविता की तुलना में गद्य की भाषा में पदक्रम अव्यवस्थित रहते हैं। पदक्रम मूल भाषा से ही ज्ञात करना चाहिए अनुवाद से नहीं क्योंकि जिस भाषा में अनुवाद किया जाएगा उसमें अनुवादक अपनी भाषा के पदक्रम से अनुवाद करता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से उच्चरित भाषा का पदक्रम विशेष रूप से ध्यातव्य है।

वाक्य परिवर्तन की दिशाएँ–

वाक्य परिवर्तन की मुख्य दिशाएँ इस प्रकार है–

१. **पदक्रम में परिवर्तन–** पहले 'मात्र' शब्द का प्रयोग तत्सम्बद्ध शब्द के बाद होता था जैसे-मानव मात्र, प्राणि मात्र, किन्तु अब मात्र मानव, मात्र प्राणी ऐसा प्रयोग देखा जाता है।

२. **अन्वय में परिवर्तन–** संस्कृत में सुन्दरी कन्या, सुन्दरः बालकः ऐसा प्रयोग होता है किन्तु हिन्दी में सुन्दरी कन्या न कहकर सुन्दर कन्या कहा जाता है। पूज्या माताजी की जगह पूज्य माताजी कहा जाता है।

३. **अधिक प्रयोग–** जैसे फज़ूल के स्थान पर वेफज़ूल, मुझे के स्थान पर मेरे को, भाषा के अज्ञान के कारण स्वागतम् (सु+आगतम्) के स्थान पर सुस्वागतम् (सु+सु+आगतम्) सौन्दर्य के स्थान पर सौन्दर्यता, श्रेष्ठ के स्थान पर श्रेष्ठतम।

४. **पद या प्रत्यय का लोप–** अहं गच्छामि की जगह गच्छामि, त्वं पठ की जगह पठ।

५. **आदरार्थक बहुवचन–** 'पूज्यः गुरुः' के स्थान पर 'पूज्याः गुरुवः' 'राम वन गया' की जगह 'राम वन गए'।

६. **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कथन–** अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हिन्दी वाक्य गठन में अन्तर पड़ गया है- रमेश ने कहा कि मैं कल नहीं आऊँगा। के स्थान पर रमेश ने कहा कि वह कल नहीं आएगा।

७. **कोष्ठक और डैश का प्रयोग–** जैसे राम (परशुराम) ने क्षत्रिय वंश का संहार किया, संस्कृत-विभाग आदि।

८. **कारक के लिए अर्द्धविराम–** जैसे 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति के स्थान पर कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।'

वाक्य परिवर्तन के कारण

१. अन्य भाषाओं का प्रभाव–

विश्व स्तर पर सम्पर्क बढ़ जाने के कारण भाषाओं के वाक्यों पर उसका प्रभाव पड़ा है। भारत में यवनों के आगमन के कारण अरबी और फारसी भाषा आई और अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी। हिन्दी में 'कि' और 'चूँकि' पर फारसी का प्रभाव है। हिन्दी के प्राक्तन साहित्य में इनका प्रयोग नहीं मिलता। संस्कृत में 'कि' के लिए 'यत्' का प्रयोग होता है। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हिन्दी में बड़े-बड़े वाक्यों की रचना होने लगी है। संस्कृत में विशेषण बहुल वाक्य दूसरे प्रकार के हैं। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण क्रिया के बाद कर्म का प्रयोग भी दिखाई देता है, जैसे 'वह पुस्तक पढ़ता है' के स्थान पर 'वह पढ़ता है पुस्तक' इसी प्रकार मैं पीता हूँ चाय। हिन्दी में इन्वर्टेट कामा भी अंग्रेजी की ही देन है।

२. विभक्तियों का घिस जाना–

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएँ संयोगात्मक थीं। विकास क्रम में वे वियोगात्मक हो गईं। इसमें वाक्य रचना में अन्तर आ गया। विभक्तियों के प्रत्ययों का कार्य परसर्गों, सहायक क्रिया आदि से लिया जाने लगा। संयोगात्मक अवस्था में पदक्रम (कर्ता, कर्म, क्रिया का क्रम) आगे-पीछे हो सकता था किन्तु वियोगात्मक अवस्था में पदक्रम निश्चित हो जाता है। हिन्दी में ने (संस्कृत के तृतीया का एकवचन 'एन') और 'पर' (उपरि) के घिसे हुए चिह्न हैं। 'ने' के तृतीया से उत्पत्ति का ज्ञान अधिकांश को नहीं है। इसीलिए पंजाब और हरियाणा में 'ने' का प्रयोग 'हमने जाना है' तथा संस्कृत के अनुवाद सिखाने की अनेक पुस्तकों में प्रथम का कारक चिह्न 'ने' को बताया जाता है।

वस्तुतः 'बालकेन' से बालक 'ने' हुआ है। 'ने' हिन्दी में आने पर केवल भूतकाल में तथा कर्मवाच्य क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे 'हमने युनिवर्सिटी देखी', 'हमने विश्वविद्यालय देखा', 'हमने चिड़िया देखी', 'हमने बात कर ली है।' संस्कृत में–'मया वार्ता कृता', 'बालकेन बालिका दृष्टा'। अतः 'ने' कभी प्रथमा का कारक चिह्न हो ही नहीं सकता, क्योंकि ने का प्रयोग करने पर हमेशा कर्मवाच्य क्रिया (अर्थात् कर्म के लिंग के अनुसार क्रिया का प्रयोग होगा।) हिन्दी में क्रियात्मक वाक्यों में भी लिंग नहीं होता 'सा गच्छति', 'सः गच्छति' में कर्ता से लिंग ज्ञात होता है। हिन्दी में 'वह जाती है', 'वह जाता है' इत्यादि रूपों में क्रिया से लिंग ज्ञात होता है।

संस्कृत के 'उपरि' का 'पर' और 'ऊपर' के रूप में हिन्दी में प्रयोग होता है। इसलिए अज्ञान के कारण 'उपरान्त' शब्द का प्रयोग हिन्दी में किया जाता है जैसे 'इसके उपरान्त' डॉ. मिश्र का व्याख्यान होगा। संस्कृत की दृष्टि से 'इसके अनन्तर डॉ. मिश्र का व्याख्यान होगा' ऐसा वाक्य कहना उचित है। जब कोई शब्द स्वर से प्रारंभ होता है तब उसमें निषेधक 'अ' (नञ् समास) 'अन्' होकर मिलता है और प्रथम स्वर की मात्रा 'न' में लगा दी जाती है। जैसे–उपस्थित–अनुपस्थित-ईप्सित अनीप्सित अभिज्ञ-अनभिज्ञ आदि।

'तदोपरान्त' में संस्कृत का सन्धि नियम लगाना उचित नहीं है। यदि संस्कृत के नियम से सन्धि करनी है तब 'तदुपरि' कहना उचित है।

३. बलाघात–

बलाघात के कारण वाक्य गठन में परिवर्तन हो जाता है। जैसे 'मैं पराजय जैसी चीज नहीं जानता' के स्थान पर 'पराजय, मैं नहीं जानता'।

४. स्पष्टता–

स्पष्टता के लिए वाक्य गठन में परिवर्तन होता है। यथा मोक्ष की कामना मानव-जीवन का लक्ष्य है। यहाँ मानव के जीवन का लक्ष्य है मोक्ष, 'के' के स्थान पर डैस लगा दिया जाता है। वस्तुतः जहाँ 'का',

'के' लगता है, वहाँ दो का सम्बन्ध सूचित होता है। अतः या तो दोनों पद मिलाकर लिखें जैसे संस्कृतविभाग या फिर संस्कृत-विभाग। समस्त पद को अलग-अलग लिखना उचित नहीं है, जैसे 'संस्कृत विभाग' यह ठीक नहीं है।

५. मनःस्थिति–

शोक, दुःख आदि में व्यग्रता के कारण ऐसे अवसर पर सरल, स्पष्ट और प्रभावकारी वाक्यों का प्रयोग किया जात है, अलंकृत या कठिन वाक्य उचित नहीं है।

६. नवीनता की प्रवृत्ति–

नवीनता की प्रवृत्ति से भी वाक्य गठन में अन्तर आता है। जैसे 'मात्र' का प्रयोग- 'मूल्य-दो रुपए मात्र' के स्थान पर 'पुस्तक का मूल्य मात्र दो रुपए।'

७. अज्ञानता–

अज्ञानता से भी वाक्यों में असाधु शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे–

शुद्ध प्रयोग	**अशुद्ध प्रयोग**
सर्जन	सृजन
श्रेष्ठ	श्रेष्ठतम
स्वागतम्	सुस्वागतम्
रविवार को	रविवार के दिन
जागरित	जागृत
महत्ता	महानता
इसके अनन्तर	इसके उपरान्त
तदनन्तर	तदोपरान्त
श्रीमान्	श्रीमान
श्रीमती	श्रीमति

अनुगृहीत	अनुग्रहीत
पौरस्त्य	पौर्वात्य
मन:कामना	मनो कामना
फज़ूल	बेफज़ूल
मनो मोहक	मन मोहक
वाङ्मय	वाङ्गमय
घण्टा	घन्टा
महती कृपा	महान् कृपा
सौजन्य	सौजन्यता
सौन्दर्य	सौन्दर्यता
अभिज्ञ	भिज्ञ
अन्ताराज्यीय	अन्तर्राज्यीय
व्यावहारिक	व्यवहारिक
नैतिक आशीर्वाद	नीतिक आर्शीवाद
गमनागमन	आवागमन

८. अनुकरण–

अंग्रेजी की वाक्य रचना के प्रभाव के कारण 'रमा ने कहा कि मैं कल पढ़ने नहीं जाऊँगी' के स्थान पर रमा ने कहा कि वह कल पढ़ने नहीं जाएगी। इन्वर्टेट कामा अंग्रेजी की देन है। वस्तुत: प्राय: इसका प्रयोग अन्य के कथन या वाक्यों को दर्शाने के लिए किया जाता है, अत: यदि वाक्य में 'कि' या संस्कृत में यत् लगाना है तब 'वह नहीं आएगी' ऐसा लिखना उचित है, यदि उसने कहा के बाद 'कि' नहीं लगाना है। तब उसने कहा–'मैं नहीं आऊँगी।' इस प्रकार लिखाना उचित प्रतीत होता है क्योंकि अन्य भाषा के प्रभाव को अब दूर करना

संभव नहीं है। कई उपन्यासों में परस्पर उत्तर प्रत्युत्तर चलता रहता है, तब विना वक्ता का नाम लिखे इन्वर्टेट कामा लगाकर अन्य वक्ता का संकेत कर वाक्य लिखे जाते हैं।

परम्परावाद–

संस्कृत में परम्परा के प्रति अनुराग है और हिन्दी परम्परावादिता के प्रति संघर्ष हैं। (कई बार संस्कृत से हिन्दी में आगत शब्दों की व्युत्पत्ति का बोध न होने से भी हिन्दी में आगत शब्दों का गलत प्रयोग होता है।) इससे वाक्य रचना में अन्तर पड़ता है। संस्कृत में–

'या विशेष्येषु दृश्यन्ते लिङ्गसङ्ख्याविभक्तयः।
प्रायस्तथैव कर्तव्याः समानार्थे विशेषणे।।'

इस सिद्धान्त का पालन किया जाता है किन्तु हिन्दी में यह सिद्धान्त उपेक्षित हो गया है। हिन्दी में बोलते हुए परम्परा में प्रचलित आशीर्वाद वाक्य संस्कृत में ही बोला जाता है तथापि विशेष्य के लिंग पर ध्यान नहीं रहता। जैसे- वर हो या वधू दोनों को 'आयुष्मान् भव' कह दिया जाता है, इसी प्रकार लड़की हो या लड़का उसके प्रणाम करने पर 'चिरंजीवी भव' कहा जाता है जबकि स्त्री को आशीर्वाद देने में आयुष्मती या चिरंजीविनी ही कहा जाना उचित है। सीते! या प्रिये!

संस्कृत के संबोधन के साम्य पर 'मातः!' के स्थान पर 'माते!' का प्रयोग चल पड़ा है। अब 'माताश्री' और 'पिताश्री' भी रामायण और महाभारत धारावाहिकों के प्रभाव से चल पड़ा है। च्विप्रत्ययान्त प्रयोग विशेष रूप से 'ग्लोवल' के लिए भूमण्डलीकरण के रूप में प्रचलित हो गया है। जबकि जो जैसा नहीं है वैसा करने के लिए यह प्रत्यय संस्कृत में प्रयुक्त होता है जैसे 'अस्वं स्वं करोतीति स्वीकरोति' से निर्मित 'स्वीकार' शब्द है जो अपना नहीं है उसको अपना कहना। 'अभूमण्डलं भूमण्डलं करोतीति भूमण्डली करोति' से निर्मित 'भूमण्डली करण' कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि धरती का निर्माण तो पहले हो चुका है, तब उसको क्यों बनाना है।

परिशिष्टम्–३

संस्कृत-पत्र-पत्रिकाः

डॉ. चित्तरंजनदयालसिंह कौशलः

सम्मान्याः! प्रबुद्धाः! संस्कृतज्ञाः! विश्वविश्रुते लोकतन्त्रे भारते पत्रपत्रिकाणाम् उपयोगित्वम् सुविदितमेव। लोकतन्त्रस्य अयम् चतुर्थः स्तम्भः परिगण्यते। जनानाम् जागरूकतायै सम्यग् रूपेण प्रबोधनार्थञ्च सर्वत्र भूरिशः विविधभाषामाध्यमैः पत्रपत्रिकाः प्रकाश्यन्ते। "राष्ट्रे जाागृयाम वयम्" इत्येतदर्थम् पत्र-पत्रिकाणां बहुविधम् उपयोगित्वं स्वतः सिद्धम् भवति। तत्र च विशेषेण संस्कृत-संस्कृति-प्रसारणार्थम् संस्कृत-संस्कृति-विषयम् अवलम्ब्य संस्कृतमाध्यमेन प्रकाशितानां पत्र-पत्रिकाणाम् उपयोगिता स्फुटा। संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणाम् माध्यमेनैव अद्यापि कन्याकुमारीतः प्रारभ्य हिमालयं यावत् भारतम् सांस्कृतिकम् ऐक्यम् अनुभवति। सर्वेषु प्रान्तेषु संस्कृतम् जीवितम्, पठितम्, लिखितम्, मुद्रितम्, प्रकाशितम् व्यवहृतञ्च अक्षिलक्ष्यीक्रियते। 'संस्कृतम् मृतम्' इति परिवादोऽपि क्रियात्मकतया सप्रमाणं खण्ड्यते। संस्कृतज्ञानाम् संस्कृतगिरा निर्मिताः नवीनाः रचनाः संस्कृतरसरसिकानाम् हृदयम् आनन्दयन्ति। संस्कृतक्षेत्रे यत्र यत्र यत् यत् कार्यम् प्रचलति तत् संस्कृतपत्र-पत्रिकाणाम् अध्येतारः स्वगृहे एव अवगच्छन्ति 'संस्कृतम् खलु अमृतम्' इति अनुभववन्ति प्रामाणिकतया संस्कृतप्रेमिणः संस्कृत-पत्रपत्रिकाणाम् नियमितवाचकाः। नवीनान् लेखान् संपठ्य संस्कृतमयान् भावान् विज्ञाय 'संस्कृतम् खलु विश्वाभाषा' इति भावनया अभिभूय विश्व-शान्तये संस्कृतप्रसारकर्मणि निरताः भवन्ति सहृदयाः जागरिताः जनाः। संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणाम् उपयोगित्वम् मनसि अवधृत्य गृहेषु संस्कृत-पत्रक्रयणम् अवश्यम् कर्तव्यम्। भिवानीमध्ये श्री कृष्णप्रणामी संस्कृत-महाविद्यालये विश्व-संस्कृत-प्रतिष्ठान-द्वारा समायोजिते समारोहे

"संस्कृत-पत्रक्रयणम्" इति नाम्ना एकः प्रस्तावः पारितः आसीत्। स चेत्थम्–

"भारतीयाः गृहस्थाः अनेन प्रस्तावेन इदम् अनुरुद्ध्यन्ते यत् प्रतिगृहस्थं स्वगृहे न्यूनान्न्यूनम् एकम् प्रकाश्यमानम् पत्रम् पत्रिकां वा संस्कृतस्य अनिवाार्यतया ग्राहकत्वेन आनाययेत्। संस्कृतस्य गृहे च बहिश्च सुखद-वायुमण्डल-निर्माणाय इदम् अत्यावश्यकम् वर्तते।" इति।

अस्मिन्नवसरे संस्कृत-पत्रकारितायाः इतिहासोऽपि संक्षेपेण विवेच्यः। एकोनविंशतितमशताद्याः प्रथमखण्डे अंग्रेजी-शासनम् प्रायः सम्पूर्णे भारते प्रस्थापितं जातम्। शीघ्रमेव मेकालेलार्डस्य क्लर्क-निर्माणपरा शिक्षायोजना सर्वत्रा प्रसारिता। एकस्मिन्नेव क्षणे संस्कृतम् अर्धचन्द्रम् दत्त्वा निस्साारितम्। संस्कृत-विद्यायाः राज्याश्रयः समाप्तिं गतः। नवशासने शिक्षायाः माध्यमभूता आङ्गलभाषा एव निश्चिता। विकटेऽस्मिन् काले नवीनोपायैः संस्कृतभाषां पुनरुज्जीवयितुम् संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणाम् परम्परा सर्वप्रथमम् नवषष्ट्युत्त-राष्टादशशतके (१८६९) वर्षे प्रारब्धा। प चाशदुत्तराष्टादशशतके (१८५०) वर्षे लब्धजन्मना बटुहृषीकेशमहोदयेन 'विद्योदयः' इत्याख्यम् संस्कृत-मासिकपत्रम् प्रारब्धम्। स्वलोकाभिमुख-प्रवृत्त्या ओजपूर्णया भाषया च एतत् प्रशंसनीयम् पत्रम् सर्वत्र सुप्रसिद्धिंगतम्। हृषीकेशभट्टाचार्यः मूलतः बङ्गीयः आसीत् परं पञ्चाम्बु-विश्वविद्यालय संस्कृत-विद्यालये यदा सः प्राध्यापको जातः तदा पञ्चाम्बुविश्वविद्यालयस्य रजिस्ट्रार-पदे विराजमाानानाम् कुल सचिवानाम् डॉ. लिट्नरमहाभागानां प्रोत्साहनेन लाहौरतः पत्रमिदम् प्रकाशितम्। यदा भट्टाचार्यः पुनः कलकत्तां प्राप्तः तदा एतत्पत्रम् कलकत्तातः प्रकाशताम् अभजत्। अस्य सम्पादकीय-लेखानाम् संग्रहः प्रबंधमंजरीनाम्ना पण्डित-पद्मसिंहशर्मणा सम्पादितः। इत्थमेव काञ्चीस्थलस्य सुप्रसिद्धाः विशिष्टाद्वैतवादिनः प्रतिवादिभयंकर मठाधिपतयः अनंताचार्याः "मञ्जुभाषिणी" इत्याख्याम् मासिकीम् संस्कृतपत्रिकाम् प्रारब्धवन्तः। ते अनेकशास्त्रप्रवीणाः न्यायवेदान्तादिशास्त्रीय-ग्रन्थ-सम्पादकाः आसन्। मंजूषाषिणी-पत्रिकायाम् चित्रकाव्यानि उपन्यासाश्चेति सर्वम् मुद्रितम्।

अस्यामेव परम्परायाम् सुविख्यातवाणीविलासप्रेस-द्वारा आर.

कृष्णमाचार्याणाम् सम्पादकत्वे 'सहृदया' इत्याख्या संस्कृत-पत्रिका प्रकाशिता। अस्याः सम्पादकाः पौरस्त्यपाश्चात्त्या-विद्यानाम् विद्वांसः आसन्। शेक्सपीयर-नाट्यकारस्य आङ्गलरचनानाम् परिचः संस्कृतपण्डितेभ्यः अनया पत्रिकया एव प्रदत्तः। एषा सुन्दर-संस्कृत-पत्रिका एकोनविंश-शताद्याम् पञ्चविंशतिवर्षावधिं यावत् निरन्तरम् प्रकाशिताऽभवत्। कोल्हापुरतः अप्पाशास्त्री राशिवडेकरः संस्कृतचंद्रिका-नाम्नीम् मासिक-पत्रिकाम् सम्पादितवान्। पण्डितेन अम्बिकादत्तव्यासेन विरचितस्य शिवराज-विजयाख्यस्य ऐतिहासिकोपन्यासस्य सर्वप्रथमम् प्रकाशनम् अस्यामेव पत्रिकायाम् जातम्। एतैः शास्त्रिवर्यैः "सूनृतवादिन्" इत्याख्यम् संस्कृतसाप्ताहिकम् पत्रमपि प्रारब्धम्। दौर्भाग्यात् ते यौवने एव दिवंगताः। तदनन्तरम् तत्पत्रप्रकाशनमपि निरुद्धम्। सम्पूर्ण भारते प्रसिद्धिङ्गताः जयपुरस्य संस्कृत-विद्वांसः महामहोपाध्यायाः पण्डितगिरिधरशर्माणः चतुर्वेदिनः स्वविद्यार्थिकाले एव स्वाभाविकोत्साहेन चतुरधिकैकोनविंशतिशततमे (१९०४) ईस्वीये वर्षे "संस्कृत-रत्नाकरः" इत्यायं मासिकं प्रारब्धवन्तः। अस्य मासिकस्य संचालकैः सुप्रसिद्ध कल्याण-पत्रिकायाः विशेषांकसदृशाः सवगुणसम्पन्नाः बृहदाकाराः विशेषांकाः प्रकाशिताः। संस्कृतमासिकानाम् इतिहासे ईदृशम् उदाहरणम् दुर्लभम्।

अस्मिन्नेव काले बंग-भग-आन्दोलने कलकत्तायाः "पद्यवाणी" काशीतः "मित्रगोष्ठी" तथा "संस्कृतभारती" प्रयागतश्च "शारदा" इत्येषाम् संस्कृतपत्राणाम् कार्यमपि ऐतिहासिकम्। काशीक्षेत्रतः विद्यासुधानिधिः "पण्डितः" "अच्युतः" "सुप्रभातम्" "वल्लरी" "सूर्योदयः" "अमरभारती" एताः पत्रिका अपि प्रकाशिताः। अन्यक्षेत्रेषु कोचीनतः "विज्ञानचिंतामणिः" ढाकातः "प्रतिभा" सिंधहैदराबादतः "कौमुदी", मथुरातः "संस्कृतभास्करः", लाहौरतः "उद्योतः", श्रीनगरतः "इत्येताः संस्कृतपत्रिका अपि यथासमयम् प्रकाश्यं नीताः। बनारसतः संस्कृतकालेज-द्वारा प्रारब्धा "सारस्वतीसुषमा", आन्ध्रसाहित्यपरिषत्पत्रिका, "मैसूरसंस्कृतकालेजपत्रिका", कलकत्तायाः "संस्कृतसाहित्य-परिषात्पत्रिका", "संस्कृतमण्डलपत्रिका" चेति संस्थाभिः प्रकाशिताः एता पत्रिकाः अधिकतरम् स्थैर्यम् वहन्ति।

बेलगाँवतः प्रकाशिता "मधुरवाणी", अयोध्यायाः "संस्कृतम् साप्ताहिकम्", कलकत्तायाः "मंजूषा", तिरुवाडीस्थानस्य "उद्यानपत्रिका" चैता संस्कृतपत्रिकाः विविधकष्टानि सोढ्वापि संस्कृतम् सेवन्ते।

परतन्त्रताकालेऽप्येतासां संस्कृतपत्रिकाणां माध्यमेनैव भारतस्य एकात्मतायाः अखण्डाभिव्यक्तिः जाता। भारतवर्षस्य मूलभूतमैक्म् आंगलभाषायाः साहाय्यं विना निर्विवादरूपेण सिद्धम्। भिन्न-भिन्न प्रान्तनिवासिनः विद्वांसः संस्कृतमधिकृत्य परस्परम् एकत्र भवितुम् शक्नुवन्ति। नवशिक्षा-प्राप्तविद्वांसः राष्ट्रभक्ताश्च संस्कृत वैशिष्ट्यम् वैज्ञानिकत्वम् च विज्ञाय निर्भ्रान्ताः उत्साहिनश्च सञ्जाताः। 'संस्कृतम् न मृतम्' वस्तुतः 'संस्कृतम् अमृतम्' इति भावः हृदयेषु जागरितो जातः। एषः सर्वः संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणाम् प्रभावः एव। एषा सर्वा संस्कृतपत्रपत्रिकाणाम् उपयोगिता। वर्तमानेऽपि बहूनि संस्कृत-पत्राणि प्रकाशताम् यान्ति। तत्रादौ सुधर्मापत्रिकायाः विषये प्रस्तूयते किञ्चित्। संस्कृतस्य प्रचार-प्रसारार्थं ये कार्यक्रमाः सम्प्रति अनुष्ठीयन्ते तेभ्यः सर्वेभ्यः दैनिक-संस्कृत-पत्रस्य प्रकाशः अतीव उपयोगी प्रभविष्यति यतो हि भाषा प्रतिदिनम् अभ्यासस्य विषयः। दशदिनानि अथवा मासं वर्षं वा अभ्यस्ता अपि अनन्तरम् अप्रयुक्ता च भाषा विस्मृता भवति। संस्कृतज्ञानां स्वाभाषया निरन्तरसम्पर्कस्थापने संस्कृतदैनिकम् अपि उपकारि सेत्स्यति। तेन च संस्कृतस्य प्रचारे प्रसारे विकासे च महद् वरदानम्। संस्कृत दैनिकस्य "सुधर्मा" इत्यस्य प्रकाशनम् श्री वरदराज-अय्यंगारमहोदयानां महता त्यागेन संस्कृतं प्रति निष्ठया च कर्णाटके महीशूरपुरीतः (मैसूरतः) विंशतिवर्षेभ्यः अधिककालार्थं प्राचलत्। किन्तु संस्कृतजगतः पूर्णसहकाराभावात्, धनाभावात्, तस्य रुग्णत्वात् अन्यान्य-कारणाच्च तस्याः प्रकाशनम् विगते वत्सरे स्थगितम् अभूत्। इत्थम् इदानीम् संस्कृतलोकस्य कल्याणार्थम् समग्रराष्ट्रस्य ऐक्यार्थम् विश्वशान्त्यर्थम् चापि संस्कृतस्य दैनिकपत्रम् नितराम् अपेक्षितम् तिष्ठति।

विश्वस्य संस्कृतदिन-पत्रिकायाः संस्थापकाः, साधकाः सम्पादकाः सञ्चालकाः श्रीवरदराजाय्यङ्गार्याः अगस्तमासस्य पञ्चतारिकायाम् भानुवासरे (५.८.९०) महाविष्णोः पदसन्निधिं प्राप्ताः इति भवन्तः जानन्त्येव। "तेन

विना तृणमपि च चलति" इति जानन्तोऽपि वयं लौकिकाः मायाग्रस्ताः विषीदामः, दुःखमनुभवामः, शोकं प्रकटीकुर्मः। वर्तन्ते परस्सहस्राः संस्कृतपण्डिताः, प्राध्यापकाः, किन्तु यत्कर्तुमन्यः कोऽपि न धैर्यमकरोत्, तन्महत्कार्यम् अय्यङ्गार्यमहोदयैः कृत्वा दर्शितम्। तेषु सत्त्वशक्तिः अप्रतिमा अवर्तत। तयैव ते तादृशं महत्कार्यम् साधितवन्तः। सर्वत्र एकमेव ध्येयम्, संस्कृत-भाषासंवर्धनम् भारतसंस्कृतिरक्षणञ्च। सुधर्मपत्रमाध्यमेन संस्कृतस्य दैनन्दिनप्रयोगः प्रदर्शितः। एषः सर्वथा व्यावहारिकः प्रयासः स्तुत्यः एव। १९७० ईस्वीये प्रारब्धम् पत्रमिदं भविष्यति अपि प्रतिदिनम् प्रकाशितम् भवेत् एतदर्थम् संमिल्य प्रयासः करणीयः।

हरियाणा-प्रदेशे अपि एकपात्राभिनयरीत्या सततम् संस्कृतप्रसारं कुर्वन्तः प्रो. सत्यदेववर्माणः हितसाधिका-इत्याख्यम् संस्कृतपाक्षिकं यमुनानगरतः प्रकाशयन्ति। अस्य पत्रस्य प्रकाशनम् १९८८ ईस्वीय-वर्षे दिसम्बरमासस्य पञ्चदशतारिकातः नियमितम् प्रचलति। प्रतिदिनम् आर्थिकानि कष्टानि जरीजृम्भन्ते। एकैकस्यापि वस्तुनो मूल्यं दिने दिने वर्धते। धनलाभमपश्यन्तो लेखकाः नातीवोत्साहिनः। एवं सत्यपि अनुरोधेन, प्रचोदनेन, प्रार्थनेन, याचनेन येन केनापि मार्गेण च लेखकानाम् ग्राहकाणां च हृदयं वशीकृत्य पाक्षिकमिदम् प्रचाल्यते।

विश्वभाषा इत्याख्यम् विश्वसंस्कृत-प्रतिष्ठानस्य मुखपत्रम् वर्तते। अस्य प्रधानसम्पादकः पण्डितः गुलामदस्तगीर-अब्बास-अली-विराजदारोऽस्ति। एषा अन्ताराष्ट्रिया त्रैमासिकी संस्कृत-पत्रिका विश्वे संस्कृतम् विश्वभाषापदे स्थापयितुम् प्रयतते। "अर्वाचीनसंस्कृतम्" इत्याख्यम् अर्वाचीनसंस्कृत-परकं त्रैमासिकं पत्रम् श्रीमतां विद्वद्वरिष्ठानाम् कविमल्लानां श्रीशारदाम्बावरदपुत्राणाम् डॉ. रमाकान्त शुक्ल महाभागानाम् सम्पादकत्वे देववाणी-परिषद् द्वारा दिल्लीतः नियमितरूपेण प्रकाश्यते। अर्वाचीनानाम् संस्कृतविदुषाम् अर्वाचीनाः संस्कृतरचनाः अर्वाचीनसंस्कृतपत्रिकायाम् दृग्गोचरीभवन्ति।

सरलसंस्कृतम् व्यवहार्यम्। संस्कृतम् अद्यापि जनसामान्यस्य व्यवहारभाषा भवितुमर्हति यदि जनाः संस्कृतभाषणे भीतिं लज्जां च

परिहरेयुः। संस्कृतव्याकरणम् किञ्चिदिव सरलमपि करणीयम्। सन्धयः समासाश्च संस्कृताध्ययनविषये दुरूहताम् समुत्पादयन्ति। समस्तासु अर्वाचीनभाषासु प्रत्येकं शब्दः पृथक्तया लिख्यते। अनेन अध्ययनं सुकरं भवति। यदि अस्माकम् सम्पूर्ण-वाङ्मयम् अनेन विधिना पुनर्लिखितं स्यात् तर्हि संस्कृताध्ययनम् अत्यन्तं सरलं भविष्यति। अन्यच्च आधुनिकं विज्ञानम् संस्कृते न विद्यते। अतः संस्कृताध्ययनस्य किमपि क्षेत्रं नास्ति। संस्कृत-पत्रपत्रिकासु विद्वज्जनैः वैज्ञानिकान् विषयान् समाश्रित्य लेखनं कार्यम्। मन्ये कार्यमिदम् सुकरं नास्ति। यतो हि संस्कृतज्ञाः प्रायः वैज्ञानिकाः न भवन्ति, नैव वैज्ञानिकाश्च संस्कृतज्ञाः। एतदर्थम् प्रथमम् वैज्ञानिक-विषयेषु सामान्यलेखाः लेखनीयाः। वैज्ञानिकानाञ्च जीवनपरिचयः वैज्ञानिकसाहित्यस्य इतिहासश्च संस्कृते प्रस्तोतव्यः। प्राचीनकाले ये वैज्ञानिकविषयाः गणित-ज्यौतिष-आयुर्वेद-यन्त्रशास्त्राणि च भारते अभूवन्, तेषाम् नूतनदृष्ट्या समीक्षणञ्च कार्यम्। ततः आधुनिकविषयेषु भौतिकविज्ञान-रसायनविज्ञान-जीवविज्ञान-वनस्पति विज्ञानादिषु तेषाञ्च विविधासु शाखासु प्रशाखासु अनूदिताः मौलिकाश्च ग्रन्थाः विरचनीयाः। इत्थं संस्कृतपत्रपत्रिकासु अवतीर्णम् विज्ञानं लोकदृष्टिं संस्कृतं प्रति आकर्षेत्। इयमेव संस्कृतपत्रपत्रिकाणाम् उपयोगिता। संस्कृतस्य संस्कृतपत्रपत्रिकाणाम् च प्रसाराय इदमुपरि संक्षेपेण यत्किञ्चित् मया निवेदितम्।

अत्राहम् इदमपि लेखितुकामोऽस्मि यत् प्रादेशिकभाषासु हिन्दीभाषायाम् आङ्गलभाषायाञ्च यानिसमाचारपत्राणि प्रकाशितानि भवन्ति तेषां व्यवस्थापकैः सह सम्पर्कम् विधाय अयमपि उद्योगः कर्तव्यः यत् तेषु पत्रेषु कतिपयस्तम्भाः सरलया ललितया च संस्कृतभाषया केषांचिद् लोकप्रियाणाम् विषयाणां प्रकाशनाय विनियोक्तव्याः। यदि तेषां पत्राणाम् कतिपयेषु स्तम्भेषु संस्कृतं भविष्यति तदा तत्पत्रपाठकेषु बहूनाम् तत्र दृष्टिपातो भविष्यति। क्रमेण च तद्द्वारा बहूनां रुचेः जागरणं सम्पत्स्यते। इत्थम् अयमपि प्रकारः संस्कृत-प्रचाराय सफलो भवितुमर्हति। संस्कृतपत्रपत्रिकाः तत्सम्पादकाश्च अस्यां दिशि बहुकार्यम् कर्तुम् शक्नुवन्ति। मयायम् अनुभवो विश्वासश्च विद्यते यद् इदानीमपि संस्कृत-शिक्षायाम् जनतायाः आदरो वर्तते। जनता संस्कृतं

शिक्षितुम् कामयते। परं संस्कृतशिक्षायाः युगानुरूपा व्यवस्था नास्ति। संस्कृते नवयुगस्य विषयाणाम् सन्निवेशो नास्ति। संस्कृते सरलानाम् रुचिवर्धकाणां नूतनग्रन्थानां रचना न जायते। एतत्सर्वम् संस्कृतपत्रपत्रिकाणाम् माध्यमेन एव कर्तुं सम्भवम्। इदमेव संस्कृतपत्रपत्रिकारणाम् उपयोगित्वम्।

इदम् सर्वं कार्यंजातं हिन्दीभाषायाः आङ्गलभाषायाः भाषान्तराणां वा अध्यापकाः अध्येतारश्च न करिष्यन्ति, इदं तु संस्कृतस्य पण्डितैः, संस्कृतस्य विद्यार्थिभिः संस्कृतोपजीविभिः साधुप्रभृतिभिरेव च कर्तव्यम् भविष्यति। अतो मे भवत्सु विनयपूर्णा इयम् अभ्यर्थना विद्यते यत् सर्वे निद्रां विमुच्य परावलम्बनवृत्तिं परित्यज्य कर्तव्यभावनां पुरस्कृत्य, कालप्रातिकूल्यम् अनाक्षिप्य, "सर्वम् भाग्यात् प्रवर्तते", "सर्वमीश्वरो घटयति" इत्येवं विधाम् अकर्मण्यताप्रदां धारणाम् अवधीर्य–

उत्थातव्यम् जागृतव्यम् योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

इति व्यासोक्तिं पाथेयीकृत्य च सोत्साहाः कटिबद्धाः सन्तो द्रुततरं प्रवर्तन्ताम् येन सुरभारती संसारे प्राप्तपदा भूत्वा आत्मनोऽक्षय्यकोषेण विश्वमानवान् तर्पयन्ती भारतवर्षम् जगद्गुरुपदे पुनः प्रतिष्ठापयितुं प्रभवेत्। इति।

अन्याः अपि संस्कृतपत्रपत्रिकाः भारतवर्षे प्रकाश्यन्ते। उपलब्धानाम् संस्कृतपत्रपत्रिकाणाम् एका सूची प्रस्तूयते। अत्रचेत् संशोधनम् अपेक्ष्यते, तर्हि विद्वद्भिः करणीयम्।

संस्कृत-पत्र-पत्रिकाणां सूची

अस्यां सूचौ प्रथमं पत्रिकायाः नाम तदनु च प्राप्तिस्थानम् दीयेते

(१) सुधर्मा (दैनिकी पत्रिका)। ५६१, रामचन्द्र-अग्रहारम्, श्रीकण्ठ-पावरप्रेसः, मैसूरः, ५७००४

(२) संस्कृतभवितव्यम् (साप्ताहिकी पत्रिका)। संस्कृतभवनम्, पश्चिम-न्यायालय-मार्गः, नागपुरम्, ४४०००१

(३) गाण्डीवम् (साप्ताहिकी पत्रिका) गाण्डीवकार्यालयः, सम्पूर्णनन्द-संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, २२१००२

(४) युगगतिः। (साप्ताहिकी पत्रिका) गोरक्षपुरम् बक्शीपुरम्, २७३००१

(५) शारदा। (पाक्षिकी पत्रिका) २, झेलम पत्रकारनगरी, पुणें, १६

(६) संस्कृतसाकेतः (पाक्षिकी पत्रिका)। साकेतकार्यालयः, अखिल-भारतीयविद्वत्समितिः, अयोध्या (उ.प्र.)

(७) संस्कृतश्रीः (पाक्षिकी पत्रिका) श्रीरामपुरम्, २२, वीरेश्वरसम्पर्कमार्गः, श्रीरङ्गम्

(८) गैर्वाणी (मासिकीपत्रिका) एन०आर०एअरविजयप्रेमः, चित्तूर, आन्ध्रप्रदेशः ५१७००१ संस्कृतभाषाप्रचारिणी सभा

(९) सूर्योदयः (मासिकी पत्रिका) भारतधर्ममहामण्डलम्, जगतगंजः 'लहुराबीरः', वाराणसी

(१०) भारती (मासिकी पत्रिका) भारती-भवनम् बी-१५, नवकालोनी, जयपुरम्, ३००२०१

(११) संस्कृतामृतम् १४१८, बाजार गुलियानः, दिल्ली, ११०००६

(१२) पारिजातम् (मासिकी पत्रिका) १०५/१९४, प्रेम-नगरम्, कर्णपुरम्, २०८००१

(१३) गीर्वाणसुधा (मासिकी पत्रिका) इन्दिरा-निवासः, अ.गो. स्ट्रीटमार्गः, मुम्बई ४००००४

(१४) दिव्यज्योतिः (मासिकी पत्रिका) आनन्दलॉजः, जाखू, शिमला-१

(१५) भारतोदयः (मासिकी पत्रिका) गुरुकुलमहाविद्यालयः, ज्वालापुरम्, हरिद्वारम्, उत्तरप्रदेशः, २४९४०५

(१६) बालसंस्कृतम् (मासिकी पत्रिका) मनीलालमेहतामार्गः, लालबहादुरशास्त्रीपथः, घाटकोपरः, मुम्बई नगरम्, ४०००८६

(१७) प्रणवपारिजातः (मासिकीपत्रिका) श्रीसीतारामवैदिक महाविद्यालयः, ७२, पी.डब्ल्यू. डी. मार्गः, कलकत्ता-३५

(१८) शारदा (मासिकी पत्रिका) पो.बा. ७५०, शारदाकार्यालयः पुणें, ४११०३०

(१९) चन्दामामा (मासिकी पत्रिका) डाल्टन एजेंसी, वाडाल्पलनी, मद्रास–२६

(२०) सर्वगन्धा (मासिकी पत्रिका) माईजीमन्दिरम्, अशरफाबादम्, लक्ष्मणपुरम्, लखनऊ, उत्तर प्रदेशः, २२६००३

(२१) संस्कृतसाहित्यपरिषत्पत्रिका (मासिकी पत्रिका) १६८/१, राजादीनेन्द्रस्ट्रीटमार्गः, श्यामबाजारः, कलकत्ता, प. बंगाल-प्रदेशः

(२२) संस्कृतप्रचारकम् (मासिकीपत्रिका) ५५०, आनन्दविहारः, मौजपुरम्, दिल्ली, ११००२३

(२३) ललिता (मासिकी पत्रिका) कविभारती, किशोरविद्यानिकेतनम्, वी-२/२३६ ए, भदैनी, वाराणसी

(२४) मंजूषा (मासिकी पत्रिका) क्षितीशचन्द्रचट्टोपाध्यायः, द्वारा-४ भूपेन्द्र वसु एवैन्यु, कलकत्ता-४

(२५) श्रीः (मासिकी पत्रिका) नित्यानन्दशास्त्री, सुन्वारबागः, श्री नगरम्, काश्मीरः

(२६) भारतश्रीः (मासिकी पत्रिका) श्रीधरशास्त्री, भारतीपरिषद्, प्रयागः

(२७) साम्मनस्यम् (मासिकी पत्रिका) गुजरातसंस्कृतपरिषद्, हिमजनसमाजकल्याणकेन्द्रम्, पालडी, अहमदाबाद, गुजरातः

(२८) उद्यानपत्रिका (माासिकी पत्रिका) ११३, साउथमाडल- स्ट्रीटमार्गः, तिरुपतिः आन्ध्रप्रदेशः

(२९) सत्यानन्दम् (मासिकी पत्रिका) १, इत्राहिमपुररोडमार्गः, यादवपुरम्, कलकत्ता, ७०००३२

(३०) भारतमुद्रा (द्वैमासिकी पत्रिका) पुरनाट्टुकारा त्रिचूरः, केरलम्, ६८०५५१

(३१) मालवमयूरः (द्वैमासिकी पत्रिका) रुद्रदेवत्रिपाठी, मन्दसौरः, मध्यप्रदेशः

(३२) वेदान्तसन्देशः (द्वैमासिकी पत्रिका) स्वामी मनोहरदासः, २/१३२, वलागंज, कानपुरम्

(३३) लोकसंस्कृतम् (त्रैमासिकी पत्रिका) संस्कृतकार्यालयः, श्रीअरविन्दाश्रमः, पाण्डीचेरी, ६०५००२

(३४) सारस्वतीसुषमा (त्रैमासिकी पत्रिका) अनुसन्धानप्रकाशनविभागः सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी-२२१००२ (उ०प्र०)

(३५) सागरिका (त्रैमासिकी पत्रिका) सागरिका-समितिः, गौरनगरम्, सागरः, मध्यप्रदेश

(३६) अजस्रा (त्रैमासिकी पत्रिका) अखिलभारतीय-संस्कृतपरिषद्, महात्मागांधी-मार्गः, हजरतगंजः, लखनऊ, उत्तरप्रदेशः

(३७) परमार्थसुधा (त्रैमासिकी पत्रिका) सार्वभैमसंस्कृत- प्रचारकार्यालयः, ३८/११०, हौजकटोरा, वाराणसी (उ.प्र.)

(३८) विश्वसंस्कृतम् (त्रैमासिकी पत्रिका) विश्वेश्वरानन्दवैदिक- शोध संस्थानम्, साधु-आश्रमः, होशियारपुरम्, पंजाबः १५१०२१

(३९) संस्कृतसम्मेलनम् (त्रैमासिकी पत्रिका) श्रीरामनिरञ्जनमुरारका-संस्कृतमहाविद्यालयः चौक पटना, बिहारः

(४०) गुञ्जारवः (त्रैमासिकी पत्रिका) कालेश्वरमन्दिरम्, घुमेरगल्ली, अहमदनगरम्, महाराष्ट्रप्रदेशः

(४१) विश्वभाषा (त्रैमासिकी पत्रिका) विश्वसंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दुर्ग रामनगरम् वाराणसी।

(४२) अर्वाचीनसंस्कृतम् (त्रैमासिकी पत्रिका) देववाणी-परिषद्, दिल्ली, ६. वाणी विहारः, नयी दिल्ली, ११००५९

(४३) उत्कलोदयः (त्रैमासिकी पत्रिका) ए/९९, सेक्टर-१३, राउरकेला (उत्कलः) उड़ीसा ७६०००९

(४४) संविद् (त्रैमासिकी पत्रिका) भारतीयविद्याभवनम्, कुलपति के. एम.मुंशी मार्गः, मुम्बई।

(४५) संगमनी (त्रैमासिकी पत्रिका) संस्कृतसाहित्यपरिषद्, दारागंजः, प्रयागः

(४६) स्वरमंगला (त्रैमासिकी पत्रिका) राजस्थानसाहित्य-अकादमी, उदयपुरम्, राजस्थानम्, ३१३००१

(४७) दिग्दर्शिनी (त्रैमासिकी पत्रिका) उत्कलसंस्कृतगवेषणासमाजः, पुरी, उड़ीसा ७५२००१

(४८) मनीषा (त्रैमासिकी पत्रिका) श्री कामेश्वर-सिंह दरभंगा, संस्कृत-विश्वविद्यालयः, दरभंगा, बिहारः

(४९) मनीषासूत्रम् (त्रैमासिकी पत्रिका) दारागंजः, प्रयागः, इलाहाबादः उत्तर-प्रदेशः, २११००१

(५०) कामधेनुः (त्रैमासिकी पत्रिका) भारतविद्यापीठम्, पो.ओ. इरनेल्लूर त्रिचूर, (केरल) ६८०५०१।

(५१) दूर्वा (त्रैमासिकी पत्रिका) मध्यप्रदेश-संस्कृत अकादमी, चार कालिदास अकादमी, उज्जैन, मध्यप्रदेश

(५२) ऋतम् (त्रैमासिकी पत्रिका) अखिलभारतीयसंस्कृतपरिषद्, हजरतगंजः, लखनऊ नगरम्, उत्तरप्रदेशः, २२६००१

(५३) श्रेयः (त्रैमासिकी पत्रिका) डॉ. रामदत्तभारद्वाजः, सी.३/३१ ए, राजौरी गार्डनः, नवदेहली- ११००२६

(५४) प्राच्यभारती (षाण्मासिकी पत्रिका) असमसंस्कृतसमितिः, काहिली-पाड़ा, गुवाहाटी, आसाम-प्रदेशः

(५५) भास्वती (षाण्मासिकी पत्रिका) संस्कृतविभागः, महात्मागांधी-काशीविद्यापीठम्, वाराणसी, उत्तरप्रदेशः

(५६) संस्कृतप्रतिभा (षाण्मासिकी पत्रिका) साहित्य-अकादमी, रवीन्द्रभवन फीरोजशाह रोड, नवदेहली- ११०००१।

(५७) सुरभारती (षाण्मासिकी पत्रिका) उस्मानिया यूनिवर्सिटी कैम्पस, हैदराबाद, ५००००७

(५८) शोधप्रभा (षाण्मासिकी पत्रिका) श्री लालबहादुरशास्त्रि राष्ट्रिय-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, शहीदजीतसिंहः मार्ग, कटवारियासरायः नवदेली- ११००१६

(५९) प्राच्यज्योतिः (षाण्मासिकी पत्रिका) संस्कृतप्राच्यविद्यासंस्थानम्, कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयः, कुरुक्षेत्रम्, १३२११९

(६०) भारतीयविद्या (षाण्मासिकी पत्रिका) भारतीयविद्याभवनम्, कुलपति के.एम.मुंशी मार्गः, मुम्बई- ४००००७

(६१) संस्कृत-वीणा (षाण्मासिकी पत्रिका) शारदोद्यानम्, हरियाणाप्रदेशः १३२११८

(६२) एनल्स ऑफ भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना, ४११००२

(६३) जनरल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट बड़ौदा, गुजरात प्रदेशः

(६४) उशती, (वार्षिकी) राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालयः आजाद पार्क, प्रयागराजः, उत्तर प्रदेश

(६५) द जनरल ऑफ संस्कृत अकादमी, ओस्मानियाविश्व- विद्यालयः, हैदराबादः, आन्ध्र-प्रदेशः

(६६) द जनरल ऑफ द मैसूर ओरियण्टलिस्ट्स, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट मैसूरः, कनार्टक प्रदेशः

(६७) नवप्रभातम् (नवीनं दैनिकम्) ११७/८१, ए, न्यूब्लाकः शारदानगरम् कानपुरम्, उत्तरप्रदेशः, २०८०२५

(६८) संस्कृत-विद्या (वार्षिकी), संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, काशी-हिन्दूविश्वविद्यालयः-२२१००५ (उ०प्र०)

(६९) वाङ्मयम् (षाण्मासिकी), त्रिवेणिका-परिषद्, ४०३ नव-ममफोर्ड-गंजः, इलाहाकादः-२११००२ (उ०प्र०)।

(७०) नाट्यम्, तथैव

(७१) मध्यभारती, तथैव

(७२) कालिदासः, कालिदाससंस्कृताकादमी, विश्वविद्यालयमार्गः, उज्जैनम्,, ४५६०१० (म०प्र०)।

(७३) पुनर्नवा-कालिदाससंस्कृताकादमी, विश्वविद्यालयमार्गः, उज्जैनम्-४५६०१० (म०प्र०)।

(७४) दीव्रिमार्क-(अर्द्धवार्षिकी)-महाराजविक्रमादित्यशोधपीठम्, उदयन-मार्गः, उज्जैनम् ४८२००१ (म०प्र०)।

(७५) विश्लेषण, संस्कृतविभागः, रानीदुर्गावतीविश्वविद्यालयः, जाबालिपुरम्-४८२००१ (म०प्र०)।

(७६) प्राच्यविद्यानुसन्धानम्, (अर्द्धवार्षिकी, २०/२ सेक्टर-४, जागृतिविहारः, मेरठम्, (उ०प्र०)।

परिशिष्टम्-४

उद्धृत- आचार्य/लेखक

१. अक्षपाद गौतम- १
२. अखिलेश मिश्र X X
३. अभिनव गुप्त- १, १९३
४. अभिराजराजेन्द्रमिश्र- X, १, २, ४५
५. अमरनाथपाण्डेय- ९३, १४५
६. आनन्दवर्धन- XVII, २
७. आनन्दमंगल वाजपेयी- २२५
८. आर्यभट्ट १
९. उत्पलदेव १
१०. उमानाथ द्विवेदी- ५९
११. कणाद I,II
१२. कपिल II
१३. कात्रे २२५
१४. कात्यायन- १०, १५७
१५. कालिदास- IX, X, २,८,१०,१७,२०,२३,२६,४४,६३,१३१,१६०,१६५
१६. कृष्णचन्द्रश्रोत्रिय, २२५
१७. कृष्णचन्द्रशास्त्री २२४
१८. कृष्णकुमार शर्मा २२५
१९. कुन्तक ४४, ४५
२०. कोल आर्थ- २

२१. गिरिधरशर्माचतुर्वेदी ४५
२२. गोकुलनाथ उपाध्याय १३८
२३. गंगाधर शास्त्री- १३८
२४. चरक।
२५. चित्तरंजनदयालसिंहः
२६. तुलसीदास- २,२४,६२,२०५
२७. दण्डी XVII
२८. देकार्त ८२
२९. देवेन्द्रकुमारजैन २२४
३०. पतंजलि २,१४९
३१. पाणिनि १,२
३२. पुरुषोत्तम लालयेनारिया २२५
३३. प्रभुनाथद्विवेदी X१
३४. प्रेमसुमन जैन.
३५. बाराहमिहिर।
३६. बौधायन।
३७. ब्रजमोहनवालिया २२५
३८. बटुकनाथशास्त्री ५४
३९. ब्रह्मगुप्त।
४०. भर्तृहरि VIII, IX, २९, ६४
४१. भट्टतौत ४०
४२. भरत, १,२,११
४३. भवभूति ३०,४०,६२,१०५
४४. भामह २४,४४,१०४
४५. भाष्कराचार्य- १
४६. भारवि ६५

४७. मथुरानाथ ४५, १६७, २०७
४८. मनमोहन सहगल २२५
४९. मल्लिनाथ- १४१, १८३
५०. मुरलीमनोहरपाठक- XX
५१. मुरारीलालशर्मा २२५
५२. रमेशकुमार पाण्डेय XX
५३. रघुनाथ शर्मा ४५
५४. रामप्रसादत्रिपाठी ४५
५५. रामयत्न शुक्ल- २
५६. रामगोपाल शर्मा दिनेश २२५
५७. रामाभिलाष द्विवेदी २
५८. राममूर्ति त्रिपाठी २२४
५९. राजशेखर ११,१४०,५५,१०५,१५१,१७८,८९,१९१,२०१,२११,२२२
६०. वसन्त भट्ट २६६,२७०
६१. वाल्मीकि १,२८,२५
६२. व्यास-२
६३. वृजबिहारी चौबे-१९०
६४. विद्यानिवास मिश्र ४५
६५. वेंकटमाधव ९०
६६. विश्वनाथ १४, १४१
६७. वेदव्यास- २
६८. शंकराचार्य १,२,१८२
६९. शिवशंकरमिश्र
७०. श्रीहर्ष २६, १८३
७१. सातवलेकर- १९०
७२. हेमचन्द्रपानेरी २२५

परिशिष्टम्-५

विश्वविद्यालयानुदानायोगेन स्वीकृता संस्कृतशोधपत्रिकाणां सूची (१४.०१.२०२२)

१. **अजस्रा** अखिलभारतीयसंस्कृतपरिषद् ISSN No. २२७८-३७४१

२. **आम्नायिकी** (केवलं मुद्रितम्) संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः, ISSN No. २२७७-४२७०

३. **अनुसन्धानवल्लरी** (केवलं मुद्रितम्) श्रीपट्टाभिरामशास्त्रीवेद-मीमांसानुसन्धान केन्द्रम् ISSN No. २२२९-३३८८

४. **आरण्यकम्** संस्कृत प्रसार परिषद् ISSN No. ०९७५-००६१

५. **भास्वती** (केवलं मुद्रितम्) महात्मागान्धीकाशीविद्यापीठम् ISSN No. ०९७६-९११९६

६. **डेक्कनमहाविद्यालयस्य स्नातकोत्तरशोधसंस्थायाः बुलेटिन** (केवलं मुद्रितम्) स्नातकोत्तर-एवं-शोधसंस्थानं डेक्कनमहाविद्यालयः ISSN No. ००४५-९८०१

७. **धीमहि** (केवलं मुद्रितम्) चिन्मयान्तर्राष्ट्रीयप्रतिष्ठानशोधसंस्थानम् ISSN No. ०९७६-३०६६

८. **गोमती** (केवलं मुद्रितम्) राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् ISSN No. २२३१-०८००

९. **हरिप्रभा** (केवलं मुद्रितम्) हरियाणासंस्कृत-अकादमी ISSN No. २२७८-०४१६

१०. **जयन्ती** केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २२४८-९४९५

११. **भारतीयबौद्धिकपरम्परापत्रिका** (Journal of Indian Intellectual Traditions) (केवलं मुद्रितम्) संस्कृत-उन्नताध्ययनकेन्द्रम्, सावित्रीबाईफुलेपुणेविश्वविद्यालयः ISSN No. २२४८-७१२९

१२. वेदसंस्कृताकादम्याः पत्रिका **वेदसंस्कृताकादमी** ISSN No. २२५०-१७११

१३. **कलावैभव** (केवलं मुद्रितम्) प्राचीनभारतीयेतिहाससंस्कृति-पुरातत्वविभागः, इन्दिराकलासङ्गीतविश्वविद्यालयः ISSN No. ०९७५-५७५६

१४. **खगोलः** केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २५४६-३४२०

१५. **किरणावली** संस्कृतशोधप्रतिष्ठानम् ISSN No. ०९७५-४०६७

१६. **नाट्यम्** नाट्यपरिषद्, संस्कृतविभागः, डॉक्टरहरिसिंहगौड-विश्वविद्यालयः ISSN No. २२२९-५५५०

१७. **निबन्धमाला** (केवलं मुद्रितम्) केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २२७७-२३५९

१८. **पालि-प्राकृत-अनुशीलनम्** (केवलं मुद्रितम्) राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

१९. **पाणिनीयः** महर्षिपाणिनिसंस्कृत-एवं-वैदिकविश्वविद्यालयः ISSN No. २३२१-७६२६

२०. **प्राच्य** मनोहरीदेवीकनोईबालिकामहाविद्यालयः ISSN No. २२७८-४००४

२१. **प्रज्ञा** बनारसहिन्दविश्वविद्यालयः ISSN No. ०५५४-९८८४

२२. **प्रत्यभिज्ञा** (केवलं मुद्रितम्) श्रीशंकराचार्यसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २३४९-५५८८

२३. **पुराण** (केवलं मुद्रितम्) अखिलभारतीयकाशीराजफोर्ट ISSN No. ०५५५-७८६०

२४. **संस्कृतप्रतिभा** (केवलं मुद्रितम्) साहित्याकादमी ISSN No. ०५५८-३७६४

२५. **संस्कृतविमर्शः** केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. ०९७५-१७६९

२६. **संस्कृतविद्या** (केवलं मुद्रितम्) संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः ISSN No. ०९७५-८३४८

२७. **शारदा** केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २३२०-७४०x

२८. **शिक्षामृतम्** केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २३४९-६४५२

२९. **शोधप्रज्ञा** उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २३४७-९८९२

३०. **शोधसमीक्षा** रथसेवाप्रतिष्ठानम् ISSN No. २२४९-५०४५

३१. **शोधप्रभा** (केवलं मुद्रितम्) श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृत-विश्वविद्यालयः ISSN No. ०९७४-८९४६

३२. **शोधसंहिता** (केवलं मुद्रितम्) कविकुलगुरुकालिदाससंस्कृत-विश्वविद्यालयः ISSN No. २२७७-७०६७

३३. **श्रीविद्यामन्त्रमहायोगः** (केवलं मुद्रितम्) श्रीविद्यासाधनापीठम् ISSN No. २२७७-५८५४

३४. **श्रीवैष्णवी केन्द्रयसंस्कृतविश्वविद्यालयः** ISSN No. ७५५२-२७७९

३५. **सुरभारती** संस्कृतविभागः, गुवहाटीविश्वविद्यालयः ISSN No. ०९७६-४४८८

३६. **उशती** (केवलं मुद्रितम्) गंगानाथझापरिसरः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्व-विद्यालयः ISSN No. २२७७-६८०x

३७. **वाग्वै ब्रह्म** केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २४५७-०७२९

३८. **वैदिक-वाग्-ज्योतिः** गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयः ISSN No. २२७७-४३५१

३९. **वाक्यार्थभारती** केन्द्रयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २२४९-५३८x

४०. **वास्तुशास्त्रविमर्शः** श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. ०९७६-४३२१

४१. **वेदविपाशा** केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः ISSN No. २३४८-४८२८

४२. **वेदविद्या** महर्षिसान्दिपनीवेदविद्याप्रतिष्ठानम् ISSN No. २२३०-८९६२

४३. **विश्वेश्वरानन्दइन्डोलॉजिकलपत्रिका** विश्वेश्वरानन्दविश्वबन्धु-संस्कृत-इन्डोलॉजिकल-अध्ययनसंस्थानम्, पंजाबविश्वविद्यालयः ISSN No. ०५०७-१४१०

४४. **व्यासश्रीः** महर्षिव्यासदेवराष्ट्रीयानुसन्धानसंस्थानम् ISSN No. २३२०-२०२५

शोध-प्रकाशनविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110016